

चैत्यवाद समीक्षा

अर्थात्

पंडित श्री बेचरदास कृत—“जैनसाहित्यमां विकार
थवाथी थयेली हानी” पुस्तकगत चैत्यवाद

लेखक—

पंडित हंसराज शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

लुधियाना—(पंजाब)

श्रीमद् आचार्य विजय यशोदेव सूरी

जैन संस्कृत पाठशाला. संचालित

श्रीआत्मानंद जैन महासभा पंजाब,

अम्बाला शहर

प्रकाशक

श्री आत्मानन्द जैन महासभा
पंजाब,

अम्बाला शहर

मुद्रक

शान्तीलाल जैन,
नव भारत प्रेस, भदौनी
बनारस ।

“समर्पणम्”

जैनाम्भोज वनश्रीणां, त्यागिनां विदितात्मने ।
आत्मनो वल्लभायास्मै वल्लभायमहात्मने ॥ १ ॥
सत्यसंयम चरित्र निष्ठा-प्रत्यक्षमूर्तये ।

सूरये च मरालेन श्रद्धयेदं समर्प्यते ॥ २ ॥ युग्मम्
जिनकी पुनीत छत्र-छाया तले जीवन का बहुत सा भाग
व्यतीत करने का सद्भाग्य प्राप्त हुआ, जिनके पुण्य
सहवासमें शास्त्र व्यासंग और जैन दर्शन विषयक
ज्ञान प्राप्त करने का पर्याप्त अवसर मिला-
उन परम श्रद्धेय चारित्रनिष्ठ संयमशील
परम मेधावी वर्तमान जैनाचार्य श्री
१००८ विजयवल्लभ सूरिजी के
पुनीत कर कमलों में
सादर समर्पित ॥

विनीत हंस



“पुस्तक सम्बन्धि यत्किंचित्”

प्रवृत्ति—

जिस पुस्तकगत चैत्यवाद प्रकरण की इस पुस्तक या निबन्ध में समीक्षा की गई है वह प्रथम गुजराती भाषा में—“जैन साहित्य मां-विकार थवाथी थथेली हाती” नाम से प्रकाशित हुई थी। उसके लेखक हमारे मित्र स्वनाम धन्य पंडित बेचरदास जी हैं। जिस समय यह पुस्तक प्रकाश में आई उस समय जैन समाज में एक खलबली सी मच गई। कुतूहलवश हमने भी उस समय साधारण तौर पर इसे देखा और देखकर रख दिया। कुछ समय बाद जब उसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ तब से लेकर हमारे इधर के बहुत से मित्रों की तरफ से इसका सदुत्तर लिखने के लिए हमें बार बार प्रेरित किया गया ! परन्तु कई एक अनिवार्य प्रतिबन्धों के कारण हम उस समय तो उन सज्जनों की अभिलाषा पूर्ण करने में असमर्थ रहे, लेकिन उनकी सूचना की स्मृति हमारे हृदय में अवश्य जागृत रही। अनुमानतः दो वर्ष हुए हमारे एक विद्वान् बन्धु ने उक्त पुस्तक में से कुछ वाक्य उद्धृत करके भेजा और उसके साथ ही उक्त पुस्तक का साद्यन्त अवलोकन करने का अनुरोध भी किया। तदनुसार हमने उक्त पुस्तक को दो बार पढ़ा, पढ़ने के बाद अपने मित्रों के अनुरोध में हमें अधिक औचित्य प्रतीत हुआ और लेखक की बहुत सी बातें हमें शास्त्र विरुद्ध एवं पक्षपातपूर्ण प्रतीत हुईं।

(१) आज तो सात वर्ष हो गये हैं

इधर इसी अवसर में स्वर्गीय सूरिपुरन्दर श्रीमद् विजयानन्द सूरि-
 आत्माराम जी महाराज का निर्वाणार्द्ध शताब्दी महोत्सव, गुजरांवाला
 में मनाया जाना नियत हुआ और तदर्थ एक विशिष्ट स्मारक ग्रन्थ
 का प्रकाशन करना भी सुनिश्चित हुआ तब हमने भी स्वर्गीय
 आचार्यश्री की पुण्यस्मृति के उपलक्ष्य में कुछलिखकर अपने श्रद्धा-
 पूरित हृदय को सन्तुष्ट करने का यत्न किया जिसके परिणाम स्वरूप
 यह “चैत्यवाद समीक्षा” नामका निबन्ध प्रस्तुत हुआ बस यही हमारी
 प्रवृत्ति का हेतु है । इस निबन्ध में समीक्ष्य पुस्तक गत चैत्य प्रकरण
 की समीक्षा को ही मुख्य स्थान प्राप्त है, अन्य जो कुछ लिखा है
 वह आनुषंगिक है । पुस्तक गत अन्य विषयों को उपेक्षणीय समझकर
 उनकी समीक्षा में प्रवृत्त होना हमने आवश्यक नहीं समझा । परन्तु
 इस पर से कोई बन्धु यह समझने की भूल न करें कि हम उन सबसे
 सहमत हैं ।

विषय विवेचन की शैली—

प्रस्तुत निबन्ध में ज्ञातव्य विषय को हृदयंगम करने के लिए
 उसे अधिक से अधिक सरल और स्पष्ट बनाने का हमने अपनी तरफ
 से भरसक प्रयत्न किया है इस उद्देश की पूर्ति के लिए हमने पुन-
 रक्ति पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया । और हम इसके लिए विवश
 भी थे । आलोच्य पुस्तक में एक ही विषय का बार बार उल्लेख होने
 से उसकी समीक्षा में हमें भी बार-बार लिखने के लिए बाध्य
 होना पड़ा ।

वास्तव में विचार किया जाय तो यह पुनरक्ति दोष के अन्त-
 र्गत ही नहीं आता यह तो जिसे वैदान्त शास्त्र में अभ्यास के नाम
 से उल्लेख किया है उसी का ही दूसरा प्रकार है किसी कठिन

विषय का भिन्न-भिन्न प्रकार से एक से अधिक बार उल्लेख करना पुनरुक्ति नहीं है ।

भाषा समिति—

हमसे जहां तक बना वहां तक—भाषा समिति की अवहेलना न हो इसका हमने पूरा पूरा ध्यान रखा है और हम इससे इनकार नहीं करते कि कहीं कहीं पर हमने मित्र पर—(मित्रता के नाते) कुछ मीठी चुटकियाँ भी ली हैं एवं उनके व्यक्तित्व को भी सम्बोधित किया है, परन्तु उसमें भी पाठक देखेंगे कि वहां पर भी हमने भाषा समिति को हाथ से नहीं छोड़ा । हमको तो इतनी भी आवश्यकता न होती यदि समीक्ष्य पुस्तक के लेखक महोदय उसके उल्लंघन का साहस न करते ।

प्रकाशन में विलम्ब का कारण—

यह निबन्ध आज से लगभग चार वर्ष पूर्व ही प्रकाशित होकर पाठकों के हाथ में चला गया होता और उसका सारांश तो उससे भी पहले आत्म निर्वाणार्द्ध शताब्दी स्मारक ग्रन्थ में पाठकों को देखने में मिल जाता । परन्तु समय की भयंकरता और पंजाब के विभाजन ने सब कुछ बना बनाया खेल बिगाड़ दिया । जिसके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं ।

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है आज से लगभग चार वर्ष पहले यह पुस्तक लगभग सम्पूर्ण छप चुकी थी सिर्फ एक फर्मे का मैटर छपना बाकी था । इसी अवसर में लाहौर से सबको सब कुछ छोड़कर केवल अपनी जान लेकर भागना पड़ा । इसी विप्लव में

यह पुस्तक भी विकराल काल के गाल में जा छिपी । जिसका हमें सबसे अधिक खेद है ।

पंडित बेचरदासजी के प्रति—

प्रिय पंडित जी ! आपकी विद्वत्ता और साक्षरता के लिए हमारे हृदय में पूरा-पूरा स्थान है, तथा व्यक्तिगत अनुराग में भी कोई कमी नहीं, यदि अन्तर है तो केवल दृष्टि कोण में । अतः प्रस्तुत निबन्ध में उस दृष्टि कोण को ही सम्मुख रखकर हमने आपके विचारों की आलोचना की है ।

अतः केवल विचार भेदपर किया गया हमारा यह समीक्षारूप पर्यालोचन आपको अरुचिप्रद नहीं होगा ऐसी हमें पूर्ण आशा है ।

पाठकों के प्रति—

प्रिय पाठक वर्ग ? लेखक जो कुछ लिखता है वह तो अपने विचारानुसार ठीक समझकर लिखता है । परन्तु उसके यथार्थ और अयथार्थपन की परीक्षा तो विचारशील हंस चंचु पाठक ही कर सकते हैं । जिस विषय को सम्मुख रखकर हमने यह समीक्षा निबन्ध लिखा है उसमें हम कहाँ तक सफल हुए हैं इसका निर्णय तो एक मात्र विचारशील पाठकों पर ही निर्भर करता है । इसलिए हम अपने विज्ञपाठकों से सविनय निवेदन करते हैं कि वे इस निबन्ध को देखते समय किसी संकुचित दृष्टि से काम न लें किन्तु उदार दृष्टि से ही इसका पर्यालोचन करने की कृपा करें ।

आभार प्रदर्शन—

पुस्तक के लिखने में अनेक विद्वानों तथा मुनिराजों एवं अन्य

कई एक मित्रों ने मुझे जो अनुपम सहयोग दिया है उनका मैं हृदय से आभारी हूँ ।

इसके अतिरिक्त अन्त में अपने पाठकों को—

गच्छतः स्वलनं क्वापि, भवत्येव प्रमादतः ।

हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः”

इस लोकोक्ति का स्मरण कराते हुए उनसे सविनय प्रार्थना करते हैं कि दृष्टि दोष अथवा मुद्रण दोष एवं अन्य किसी अज्ञात दोष के कारण प्रस्तुत निबन्ध में यदि कोई मौलिक अशुद्धि रह गई हो तो उसकी सूचना देने की कृपा करें ताकि दूसरी आवृत्ति में उसे ठीक करने का यत्न किया जावे ।

नि० हंस

“ग्रन्थनिर्देश”

- (१) इंग्लिश विश्वकोष—इन्साइक्लोपीडिया १६-३१-५०-५२
- (२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका १८-१३१-१४०-१९२
- (३) शब्द स्तोम महानिधि २०-२१-५९-१२२-१५६-१६८-१७७
- (४) शब्द कल्पद्रुम २१-१२४-१२६
- (५) बृहद् वाचस्पत्यभिधान २१-१२२-१२४
- (६) शब्द चिन्तामणि २१-४०-१२२
- (७) न्याय मुक्तावली २३
- (८) पाणिनीय अष्टाध्यायी २४
- (९) शतपथ ब्राह्मण २४-२७-५२-१८४
- (१०) कात्यायन श्रौतसूत्र २४-२५-२७-१८४
- (११) कात्यायन श्रौतसूत्रकी विद्याधरकृत भूमिका २५
- (१२) कात्यायन श्रौतसूत्र की व्याख्या २५
- (१३) सिद्धान्त कौमुदी २६
- (१४) बालमनोरमा २६
- (२५) श्रौतपदार्थ निर्वचन २८
- (२६) मंत्रायणी वाराहसूत्र २८
- (२७) अग्निपुराण २८-२२०
- (२९) वाल्मी० रामायण २८-२९-३४-३९-४०-४१-४२-१३१-१७८-१८५ ,

- (३०) महाभारत २८-२९-३४-४५-४६-१२६-१८४-१८५
- (३१) आश्वलायनगृह्य सूत्र २९-३४-३६
- (३२) नारायणी वृत्ति ३९-३५-३६
- (३३) हरिदत्ताचार्य की व्याख्या २९-३५-३६
- (३४) कौटिल्यार्थशास्त्र ३४-३७-३९
- (३५) वृद्ध हारीतस्मृति ३४-४६
- (३६) याज्ञवल्क्य स्मृति ३८-१२५
- (३७) मेघदूत और मल्लिनाथी टीका ४२-१२७-१७९
- (३८) त्रिकांड शेष कोष, ४४-६०-१२२-१७७
- (३९) ललित विस्तरा, ४८-४९-१९५-१९६
- (४०) श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थ ३८-२१५
- (४१) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, ५०
- (४२) आचारांगसूत्र, ५३-५४-५५-५८-६०-६२-६३-११८
- (४३) ज्ञाता धर्म कथांग ५५-२४९-२५५
- (४४) भगवती सूत्र ५६-६२-६६-६९-७३-८१-८९-९०-
९१-१०३-१०४-१०५-१३८-१४७-१४९-१८७-
२०१-२०४-२११-२३४-२४४
- (४५) आचारांग टीका ५७-५९
- (४६) अर्द्धमागधी कोष ५७
- (४७) प्राकृत शब्द महार्णव, ५७-६१
- (४८) लौगाक्ष गृह्यसूत्र, ५९
- (४९) औपपातिक सूत्र, ६२-६६-६७-७१-८४-८५-८६-
९४-१०८-१८६-२४०

- (५०) राजप्रश्नीय सूत्र, ६२-८२-८४-८६-८७-९४-१९५-
२४३-२५२-२५६
- (५१) अन्तकृदृशा-६९
- (५२) स्थानांग सूत्र ७३-९२-९५-९६-९७-१२३-२४३
- (५३) सूत्र कृतांग-७७
- (५४) समवायांग सूत्र १००-१०१-१७९-१८०
- (५५) उपासकदशांग १११-११२-११७-२०४-२११-
२३४-२३९
- (५६) मनुस्मृति, ११३-१७८-२१९
- (५७) वृहत्संहिता १२०-१२१
- (५८) मेदिनी कोष, १२२
- (५९) रुद्र कोष १२२
- (६०) विश्वलोचन कोष १२२
- (६१) विश्वकोष १२२
- (६२) पद्मचन्द्र कोष १२२
- (६३) जम्बू द्वीपप्रज्ञप्ति १३३-१३४
- (६४) दशाश्रुत स्कन्ध १४९
- (६५) जैमिनीय सूत्र १५८
- (६६) पातंजल महाभाष्य १५८
- (६७) शास्त्र दीपिका १५८
- (६८) वाक्य पदीय (भर्तृहरि प्रणीत) १५८
- (६९) वैयाकरण भूषण १६४
- (७०) सांख्य दर्शन १६५
- (७१) आवश्यक निर्युक्ति १६८

- (७२) अमरकोष की टीका १७८-१८८
- (७३) उत्तराध्ययन सूत्र और उसकी टीकायें १८२-१८३
- (७४) वीरप्रवचन-(मोहन लाल चौकसी कृत) १८२
- (७५) प्रश्न व्याकरण-१८८
- (७६) हारावलि कोष १८९
- (७७) त्रासवदत्ता (सुबन्धु कृत) १८९
- (७८) प्रतिमा नाटक-(भासकृत) १८९-१९१
- (७९) हर्ष चरित १९०
- (८०) प्राचीन जैन लेख संग्रह प्र० भा० १९३-१९४
- (८१) बृहत्कल्प भाष्य २०३-२१२-२१३-२१५
- (८२) आवश्यक सूत्र २१२
- (८३) आवश्यक चूर्णि २१२-२३२
- (८४) ओष नियुक्ति २१४
- (८५) पउम चरिय-२१५
- (८६) सम्बोध प्रकरण २१५-२२०-२२२-२२४-२५२-२५३-२५४
- (८७) कूर्मपुराण, २१९
- (८८) आवश्यक वृत्ति २३२
- (८९) बसुदेव हिंडी २३२
- (९०) आचारांग नियुक्ति २३२
- (९१) पंच प्रतिक्रमण-२५०-२५१

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
१. आरंभिक निवेदन	१
२. जैन साहित्य में विकार पुस्तकगत विषयों की तालिका	२
३. आगम साहित्य की प्रामाणिकता का विचार	९
४. ऐतिहासिक और साम्प्रदायिक दृष्टि पर ऊहापोह	११
५. चैत्य शब्दार्थ	१५
६. समीक्षा	१९
७. चैत्यशब्द की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति	२३
(क) चिति शब्दार्थ	२४
(ख) चित्य शब्दार्थ	२५
८. वैदिक साहित्य में चैत्य का व्यवहार	३४
(क) आश्वलायनगृह्य सूत्र	३४
(ख) कौटिल्यार्थशास्त्र	३७
(ग) रामायण	३९
(घ) मेघदूत का ग्राम चैत्य	४२
(ङ) महाभारत	४५
(च) वृद्धहारीत स्मृति	४६
९. बौद्ध साहित्य	४७
(क) ललित विस्तरा	४८
१०. जैन साहित्य	५०
११. आगमों में चैत्य शब्द का व्यवहार	५३
समीक्षा	५४

विषय	पृष्ठ
१२. व्यन्तरायतन	६४
१३. जिने चैत्य का आगम सम्मत अर्थ	७२
१४. विषम भूल की परीक्षा समीक्षा	७४ ७५
१५. देवयं चेइयं की व्याख्या समीक्षा	७७ ७८
१६. वस्तु स्थिति का विचार	८९
१७. चैत्यस्तूप का अर्थ समन्वय	९५
१८. ये चैत्य कबरे नहीं देवमन्दिर हैं भगवती सूत्र समीक्षा	१०० १०३ १०४
१९. इतना पक्षपात क्यों समीक्षा	१०५ १०७
२०. अरिहंतचेइयाणि की अर्थ विचारणा	१११
२१. बराहमिहिर की साक्षी समीक्षा	१२० १२१
२२. प्रसिद्ध कोषों की साक्षी समीक्षा	१२३ १२४
२३. तीर्थंकरों की चितापर के चैत्यस्तूप समीक्षा	१३० १३५
२४. मूर्तिपूजा की जड़ समीक्षा	१३७ १३८
२५. शास्त्र पढ़ने का आदेश समीक्षा	१४१ १४२
२६. चैत्यार्थ की विशेष मीमांसा	१५४

विषय	पृष्ठ
२७. चैत्य शब्द योगरूढ़ है, यौगिक नहीं	१५५
२७. यौगिक शब्द अनेकार्थक नहीं होता	१५९
२८. शब्दार्थ की मौलिकता का विचार	१६४
२९. चैत्य के सात अर्थ और उनमें चिता सम्बन्ध की कल्पना समीक्षा—प्रारम्भिक अर्थ	१६९ १७४
३०. चैत्यवृक्ष और चिता	१७६
(१) कोश	१७७
(२) वैदिक ग्रन्थ	१७७
(३) जैनागम	१७९
३१. चिता और यज्ञस्थान	१८३
समीक्षा	१८४
३२. चिता और देवकुल	१८८
समीक्षा	१८९
३३. एक विशिष्ट शिलालेख	१९३
३४. बौद्धग्रन्थों में देवकुल का उल्लेख	१९५
३५. चैत्य की अन्वर्थता	१९६
३६. चैत्यके प्रचलित अर्थ का समय	१९८
३७. टीकाकारों पर अनुचित आक्षेप समीक्षा	२०१ २०२
३८. देवद्रव्य विषयक आनुषंगिक चर्चा	२१८
३९. देवद्रव्य और वैदिक परम्परा	२१९
४०. जैन परम्परा में	२२०
४१. देवद्रव्य की आगम मूलकता	२२१
४२. चैत्य और मूर्ति	२२२
४३. अंगसूत्र ही क्यों ?	२२८

विषय	पृष्ठ
४४. जिन प्रतिमा और जैनागम	२३०
(१) जैनपरम्परा के आचार्य	२३१
(२) आगमों द्वारा चैत्य शब्दार्थ निर्णय	२३३
४५. अंगसूत्रों में मूर्तिवाद का समर्थन	२३४
४६. पूजा विधि	२५२
४७. जिन प्रतिमा और जैनाचार्य	२५७
४८. श्री हरि भद्रसूरि के विषयमें	२७३
४९. कल्पित परिस्थितिके व्याजसे हरिभद्र सूरिके व्यक्तित्वपर आक्रमण	२७७
५०. पूजाविधि और हरिभद्रसूरिकी आगम निष्ठा	२८३



चैत्यवादसमीक्षा

आत्मानन्दप्रदं देवं, महादेवं जगद्गुरुम् ।
विश्ववन्द्यमहंवन्दे, दीनात्मा दीनवल्लभम् ॥१॥
सम्यगालोच्य सद्ग्रन्थान् वैदिकानार्हतांस्तथा ।
स्वमित्र प्रतिबोधार्थं, चैत्यवादः समीक्ष्यते ॥२॥

श्वेताम्बर जैन समाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित श्रीबेचरदास जी के शुभ नाम से पाठक भलीभांति परिचित हैं। इस समय आपकी लिखी हुई "जैन साहित्य मां विकार थवाथी थएली हानि" नामकी एक गुजराती पुस्तक और उसका हिन्दीभाषान्तर हमारे सामने उपस्थित है। विद्वान् लेखक ने इसमें श्वेताम्बर-दिगम्बरवाद, चैत्यवाद, देवद्रव्यवाद और आममवाद इन चार विषयों का निर्देश कस्के उनपर बड़ा ही मार्मिक ऊहापोह किया है। तथा पुस्तक के उपोद्घात में बहुतसी ज्ञातव्य बातों का उल्लेख करने के अतिरिक्त वर्तमान श्वेताम्बर मूर्ति पूजक जैनसमाज और खासकर साधु समाज की कतिपय धार्मिक प्रवृत्तियों की भी बड़े मार्मिक शब्दों में आलोचना की है। एवं प्रचलित मूर्तिवाद का तो इसमें इतना तीव्र प्रतिवाद किया है कि उसको देखते हुए तो आपके कथनानुसार आपको मूर्तिपूजक कहना व मानना अपने आपको धोखा देना है।

अस्तु ! हमारे ख्याल से तो यह सब कुछ आपकी अमुक प्रकार के बतावरण से उलझी हुई मनोवृत्ति का ही फल है।

इसमें सन्देह नहीं कि आप एक समर्थ विद्वान् सुयोग्य लेखक और उद्भूट समालोचक हैं। आप जो कुछ भी लिखते हैं वह युक्तियुक्त पूरे अधिकार के साथ और तुले नये शब्दों में लिखते हैं परन्तु यह भी सत्य है कि प्रस्तुत पुस्तक के लिखते समय आपने अपनी तटस्थ मनोवृत्ति को दुराग्रह की दलदल में फंसाकर उसकी अधिक से अधिक अवहेलना की है। विद्वान् और ऐतिहासिक व्यक्तियों भी आग्रह प्रधान धारणा के वशीभूत होकर शब्दार्थ की खेंचातानी में कभी-कभी साम्प्रदायिक पंडितों से भी आगे बढ़ जाते हैं। यह इस पुस्तकगत कतिपय उल्लेखों का अवलोकन करने से पाठकों को विदित हो जायगा।

प्रस्तुत पुस्तकगत चैत्यवाद प्रकरण में हमारे विद्वान् मित्र ने चैत्य शब्द का अर्थ करते समय अपनी आग्रहपूर्ण मनोवृत्ति का जो सबूत दिया है उसकी ओर अपने सभ्य-पाठकों का ध्यान आकर्षित करने से पहले हम इस विषय में आपकी ओर से जो विचार प्रदर्शित किये गये हैं उनकी तालिका बनाकर पाठकों की विचारसुविधा के लिये उन्हें यहाँ पर उद्धृत किये देते हैं—

(१) जिस जगह मृतक का अग्निसंस्कार किया जाता है वहाँ उसकी राखपर ही कुछ निशान बनाया जाता है उसी को चैत्य कहते हैं। चैत्य शब्द का यह मूल एवं मुख्य अर्थ है और सब से अति प्राचीन अर्थ भी यही है। (पृष्ठ १३५)

(२) हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजने के लिये नहीं बल्कि उन मरनेवाले महापुरुषों की यादगार के तौरपर निर्माण किये थे, परन्तु बाद में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई थी और वह आज तक चली आ रही है। (पृष्ठ १५९)

(३) सूत्रों में जहाँ कहीं चैत्य शब्द का उपयोग किया गया है,

वहाँ पर विशेषतया उसका व्यन्तरायतन अर्थ किया गया है। यह व्यन्तरायतन और कुछ नहीं किन्तु श्मशान में उज्जड़ जगह में खंडहरों में या गृहस्थों के रहने की हद के किसी विभाग में जलाए हुए या दबाये हुए मृतक शरीरों पर चिनवाये हुए चबूतरे, स्तूप या कबरें हैं। (पृष्ठ १३९-४०)।

(४) अंगों में मात्र दो चार स्थल ही ऐसे हैं कि जहाँ चैत्यशब्द से जिनचैत्य—(जिन की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह) समझा जा सकता है, तथा जहाँ पर अरिहंत चैत्य ऐसा स्पष्ट पाठ है वहाँ तो वह अर्थ—(अरिहंतों की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह) अनायास ही सिद्ध है, (पृष्ठ १४१)

(५) यद्यपि टीकाकारों ने जिन चैत्य या अरिहंत चैत्य का अर्थ जिनप्रतिमा या जिनमंदिर किया है सो सही है, परन्तु अंगों में आये हुए चैत्यशब्द का इस तरह अर्थ करते हुए उन्होंने जो विषम भूल की है उसे मैं अब आप के सामने रखूंगा। (पृष्ठ १४१)

(६) जो चैत्य यादगीरी के लिये बनाये गये थे, समय पाकर वे पूजे जाने लगे, धीरे धीरे उन स्थानों में देवकुलिकायें होने लगीं, उनमें चरणपादुकायें स्थापित होने लगीं और बाद में भक्तजनों की हौश से भक्ति आवेश से उन्हीं स्थानों में बड़े २ देवालय एवं बड़ी २ प्रतिमायें भी विराजित होने लगीं।

यह स्थिति इतने मात्र से ही नहीं अटकी, परन्तु अब तो गाँव गाँव में और गाँव में भी मुहल्ले मुहल्ले में वैसे अनेक देवालय बन गये। (पृष्ठ १६१)

(७) क—चैत्य शब्द का प्रारम्भिक अर्थ चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह था। जब उस जगह में उस स्मारक को कायम रखने

के लिये या पहचान कराने के लिये पाषाणखंड या शिलालेख रखा जाता था तब चैत्य का अर्थ पाषाणखंड या शिलालेख भी हुआ। जब उस स्मारक चिन्ह के बदले या उसके ऊपर किसी वृक्ष को रोपित किया जाता है उस वक्त चैत्य का अर्थ वृक्ष-चैत्यवृक्ष हुआ। जब उस स्मारक चिन्ह के पास यज्ञादि पवित्र क्रियायें की जाती थीं, उस समय चैत्य का अर्थ यज्ञस्थान भी हुआ। जब उस स्मारक चिन्ह को देवकुलिका के आकार में बनाया जाता था उस वक्त चैत्य का अर्थ देवकुलिका (देहरी) हुआ। जिस समय उस जगह चिनी हुई देवकुलिका में पादुकायें पधराई जाने लगीं, उस समय चैत्य का अर्थ पादुका सहित देवली या मात्र पादुका हुआ। जब उस जगह भव्य मन्दिर चिना जाने लगा और उसमें मूर्तियाँ पधराई जाने लगीं तब चैत्य का अर्थ देवालय या मूर्ति किया गया। अभी तक चैत्य अन्वर्थ रहा परन्तु जब चिता दाह के सिवाय स्थानान्तरों में देवालय चिने गये या उनमें मूर्तियाँ स्थापित की गईं तब वह रूढ हुआ। (पृष्ठ १६३)

ख—ज्यों ज्यों चैत्य के आकार बदलते गये त्यों त्यों उसके अर्थ भी बदलते गये। प्रारम्भिक चैत्य शब्द अन्वर्थ था और आजकल का चैत्य शब्द रूढ है, क्योंकि उसे अपना मूल अर्थ छोड़कर लोगों की इच्छानुसार चलना पड़ता है। (पृ० १६२)

(८) प्रचलित देवालय या मूर्ति यह कोई चैत्य शब्द का प्रधान अर्थ या मूल प्राचीन अर्थ नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि ये दोनों अर्थ बिल्कुल पीछे के और रूढ़ी से किये हुए हैं। सूत्रों की टीका करनेवालों ने भी सूत्रों में आये हुए चैत्य शब्द की व्युत्पत्ति—(चितेर्भावः कर्मवा) तो यथार्थ बतलाई है, परन्तु जहाँ पर “अरिहंत चेइयाइ” या केवल “चेइयाइ” आता है वहाँ उन्होंने उसकी व्युत्पत्ति जन्म वास्तविक और

प्रधान अर्थ न करके मात्र अपने समय की लोकरूढ़ी का अनुसरण किया हो ऐसा मालूम होता है.....इस तरह अर्थ करने का प्रकार भी एक प्रकार का साहित्य विकार ही है, और वर्तमान समय में प्रचलित मूर्तिवाद के नाम पर चढ़ा हुआ कलह भी इस विकार का ही परिणाम हो यह स्पष्ट मालूम होता है । (पृष्ठ १६७)

(९) क—मेरी मान्यता है कि किसी भी टीकाकार को टीका करते समय मूल के आशय को मूल के समय के वातावरण को ही ध्यान में लेकर स्पष्ट करना चाहिये । इस प्रकार की टीका करने वाला ही सच्चा टीकाकार हो सकता है, परन्तु मूल का अर्थ स्पष्ट करते वक्त मौलिक समय के वातावरण का ख्याल न करके यदि परिस्थिति का ही अनुसरण किया जाय तो वह मूल की टीका नहीं, किन्तु मूल का मूसल जैसा हो जाता है । (पृष्ठ १६७—१६८)

ख—मैं मानता हूँ कि यदि टीकाकार महाशयों ने मूल का अर्थ मूल के अनुसार ही किया होता तो जैनशासन में जो आजकल मत मतान्तर देख पड़ते हैं वे बहुत कम प्रमाण में होते और धर्म के नाम से ऐसा अमावस्या का अन्धकार कम व्याप्त होता । (पृ० १६८—१६९)

(१०) क—इस चैत्यशब्द के प्रधान अर्थ में ही मूर्तिवाद की जड़ समाई हुई है । मूर्ति का मूल इतिहास चैत्य से ही प्रारम्भ होता है और मूर्ति का प्रथम आकार भी चैत्य ही है । वर्तमान समय में जो मूर्तियाँ देख पड़ती हैं वह उत्क्रान्ति की दृष्टि से विकास को प्राप्त हुई एक प्रकार की शिल्पकला का नमूना है । (पृष्ठ० १५८)

ख—मूर्तिवाद चैत्यवाद के बाद का है याने उसे चैत्यवाद जितना प्राचीन मानने के लिये हमारे पास एक भी ऐसा मजबूत प्रमाण नहीं है, जो शास्त्रीय सूत्रविधि निष्पन्न या ऐतिहासिक हो । (पृष्ठ० १७१)

ग—यों तो हम और हमारे कुलाचार्य भी मूर्तिवाद को अनादि

का ठहराने तथा महावीर भाषित बतलाने का बिगुल बजाने के समान बातें किया करते हैं, परन्तु जब उन बातों को सिद्ध करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधि वाक्य माँगा जाता है तब हम बगलें झाँकने लगते हैं और अपनी प्रवाहवाही परम्परा की ढाल को आगे कर अपने बचाव के लिये बुजुर्गों को सामने रखते हैं। (पृ० १७२)

घ—मैंने बहुत ही कोशिश की तथापि 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' के सिवा मूर्तिवाद को स्थापित करने के सम्बन्ध में मुझे एक भी प्रमाण या विधान नहीं मिला। (पृ० १७२)

ङ—मैं अपने समाज के धुरंधर कुलगुरुओं से नम्रतापूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे मुझे इस विषय का एक भी प्रमाण या प्राचीन विधान-विधि वाक्य बतलायेंगे तो मैं उनका विशेष ऋणी होऊँगा। (पृ० १७४)

(११) क—कदाचित् कोई बन्धु यह समझने की भूल न कर बैठे कि लेखक मूर्तिवाद का विरोधी है। मैं इस बात का खुलासा कर चुका हूँ और फिर भी कहे देता हूँ कि मैं इस बात का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु जहाँ तक मैंने गवेषणा की है इस विषय में सत्य हकीकत आप के सामने रखना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। इस विषय को आवश्यकता के प्रमाण में मैं उपयोगी समझता हूँ, और उतने अंश में मैं इसका विधायक भी हूँ, एवं कामचारितया सत्संग, शास्त्राध्ययन, तप और शील आदि की तरह तरतमता से मूर्तिवाद में भी आत्मविकास की नि मत्तता देख रहा हूँ। वर्तमान उपदेशकों में और मुझमें मात्र इतना ही फर्क है कि वे इस वाद का एकान्तता पूर्वक विधान करते हैं और उस विधान को पुष्ट करने के लिये उसे भगवान् वर्द्धमान या उनके ज्येष्ठ प्रवचन के नाम पर चढ़ाते हैं, परन्तु मैं इस वाद के विषय

में स्पष्ट शब्दों में यह कहता हूँ कि भले यह वाद भगवान् वर्द्धमान् का कथन किया न हो, भले ही उसके सम्बन्ध में विधिवाक्य अंगसूत्रों में न मिलता हो तथापि वह लोक के प्रवाहवाही विभाग को प्रारम्भ में आत्मा की मूल स्थिति का भान कराने के लिये दर्पण के समान है, अतः उसका मर्यादित सेवन उनके लिये अत्युपयोगी है ।..... इस वाद के विवेक पूर्वक आश्रय से मेरी मान्यतानुसार चाहे जैसा अशुद्ध माना जाता हुआ मनुष्य भी यदा कदापि विशुद्ध हुए विना नहीं रह सकता । (पृ० १७४—७६)

ख—मेरी मान्यता के अनुसार मूर्तिवाद को सर्वथा अविधेय मानना भी अनुचित है । ऐसा करने से बहुत से बालजीवों के जीवन-विकास में बाधा पड़ती है, “भवितमार्ग का अवलम्बन करने वालों का कल्याण अटक जाता है” । (पृ० ५९)

(१२) जो मूर्तियाँ श्वेताम्बर जैनियों के अधिकार में हैं उनका सौन्दर्य और शिल्प, उन्होंने बनावटी तिलक वा चक्षु-आँखें लगाकर तथा इसी प्रकार के अन्य शिष्ट असंगत और अशास्त्रीय आचरणों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर डाला है । तथापि वे मूर्तिपूजकता का दावा करते हैं । मैं इसे धर्म-दम्भ और ढोंग समझता हूँ । अपने पूज्य देव की मूर्ति को पुतली के समान अपनी इच्छा के अनुसार नाच नचाते हुए भी उसकी पूजकता का सौभाग्य इसी समाज ने प्राप्त किया है । अपने इस समाज की ऐसी स्थिति को देखकर मूर्तिपूजक के तौर पर मुझे भी बड़ा दुःख होता है । (पृ० १५९)

ये हैं हमारे सुगृहीत नामधेय पंडित बेचरदास जी के चैत्यवाद सम्बन्धि विचार, जो कि प्रस्तुत पुस्तक में से संकलित करके यहाँ पर उद्धृत किये गये हैं । इसके अलावा साधुता के आगमानुसारी विशुद्ध

आदर्श की अपेक्षा समय और परिस्थिति के प्रभाव से कुछ उतरता हुआ आदर्श रखने वाले वर्तमान मुनि समुदाय की आधुनिक प्रवृत्ति के विषय में, तथा उपासना क्षेत्र में बढ़ी हुई भावुकता के कारण प्रवर्तमान पूजा प्रणाली के सम्बन्ध में हमारे विद्वान् मित्र ने जो कुछ कहा है उसको यहाँ पर उद्धृत करते हुए हमें संकोच होता है, उसे उद्धृत करके हम श्रद्धालु जनता की अपने मित्र के प्रति प्रसुप्त हुई असद्भावनाओं को फिर से जगाना नहीं चाहते। हमारे ख्याल में हमारे मित्र ने इस विषय में अपनी उद्भट लेखनी को अधिक से अधिक कर्कश और तीक्ष्ण बना दिया है। उसकी कठोरता और कर्कशता में आपका निर्दिष्ट सत्य भी भुस गया है। यदि आपको इस सम्बन्ध में कुछ लिखना अभीष्ट ही था (जो कि हमारे ख्याल में उसकी कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती और नाहि सिद्धान्तगत प्रतिपाद्य विषय से उसका कोई खास सम्बन्ध ही है, एवं उसका उल्लेख किये बिना भी काम चल सकता था) तो उसके लिये कुछ नर्म-मृदु-कोमल शब्दों का व्यवहार करना चाहिये था। अगर हम भूल नहीं करते तो हमें तो आपकी मनोवृत्ति में वर्तमान श्वेताम्बर साधु समुदाय और श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित पूजा प्रणाली के लिये अंगत द्वेष भरा हो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। सम्भव है, उस समय (इस पुस्तक के लिखने के वक्त) के वातावरण का आपकी मनोवृत्ति पर भी कोई विशेष असर हुआ हो तो कुछ आश्चर्य नहीं! एक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक विद्वान् के द्वारा श्वेताम्बर परम्परा में सदियों से चले आने वाली मूर्ति की उपासना का इतना तीव्र विरोध, इतना भयंकर प्रतिवाद और उसकी आगमिकता पर इतना तीव्र कुठाराघात किया जाय, यह तो जैन इतिहास में शायद पहली ही मिसाल है।

मूर्तिवाद की जितनी कड़ी आलोचना प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध होती है इतनी तो उसके विरोधी समाज की पुस्तकों में भी देखने में नहीं आई। अगर सत्य कहा जाय तो आपकी इस अमर कृति से श्रद्धालु जनता के हृदय में जितनी गहरी ठेस लगी है उससे कईगुणा अधिक लाभ इसने मूर्तिविरोधी समुदाय को पहुंचाया है। इस विषय में उसकी तर्फ से आज जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं या हो रही हैं उन सब में प्रामाणिक रूप से मुख्य स्थान इसी को ही प्राप्त हुआ है। इस दृष्टि से यह पुस्तक कोई कम महत्त्व की नहीं है। तथा इसके उपलक्ष्य में उसकी तर्फ (मूर्तिविरोधी समुदाय की तर्फ से) लेखक महोदय को जो शुभ आशीर्वाद प्राप्त हुए या हो रहे हैं वे उनके परिश्रम और योग्यता की कीमत अदा करने के लिए भी काफी हैं।

अस्तु, अब हम मुख्य विषय की ओर अपने पाठकों का ध्यान खेंचते हैं। हमारी समीक्षा का मुख्य विषय प्रस्तुत पुस्तक में उल्लेख किया गया चैत्यवाद प्रकरण है। परन्तु इसमें निरूपण किये गये चैत्य शब्द के मुख्य और गौण अर्थों पर शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक आदि विविध दृष्टियों के प्रकाश में सम्यक् रूप से विचार किया जाय, इससे पहले प्रस्तुत विषय से खास सम्बन्ध रखने वाली एक दो आवश्यक बातों का जिक्र कर देना भी हम जरूरी समझते हैं।

(१) इस समय हमारे सामने जो आगम साहित्य विद्यमान है वह श्रीदेवद्विगणि क्षमाश्रमण द्वारा संकलित किया गया आगमसाहित्य ही है। इसका पूर्वरूप कुछ भी रहा हो और उसमें भले ही अनेकानेक परिवर्तन या परिवर्द्धन हुए हों, एवं उसका वर्तमान स्वरूप विकृत अवस्था में हो या अविकृत दशा में। अब तो इसी के आधार पर वस्तु-तत्त्व का विचार करना होगा और इसके अनुसार प्राप्त हुए निर्णय को

अंतिम स्वीकार करना होगा । आगम-प्रामाण्यवादी के लिये इसके सिवा और कोई गति नहीं । जो आगम सर्वज्ञभाषित और गणधर-रचित कहे व माने जाते हैं और जिन्हें श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा में होने वाले सम्भावित मुनिवरों ने अपने अन्तःकरण में सुरक्षित रखा, उन्हीं को श्रमणपुंगव देवद्विगणि क्षमाश्रमण ने संकलित करके पुस्तकारूढ करने का स्तुत्य प्रयत्न किया । इसलिये देवद्विगणि द्वारा संकलित होने पर भी ये सर्वज्ञभाषित और गणधर-रचित ही माने जाते हैं और ऐसा मानने में कोई विशेष आपत्ति भी नज़र नहीं आती । यह तो सुनिश्चित ही है कि जिस समय आगमों की रचना हुई, उस समय सर्वप्रथम अंग—अंगसूत्र और बाद में उपांग आदि रचे गये; परन्तु देवद्विगणि के समय में अंग उपांगादि सभी विद्यमान थे । इनकी संकलना करते समय उन्होंने इनके पौर्वापर्य की ओर लक्ष्य न देते हुए केवल प्रतिपाद्य विषय की ओर ही अधिक ध्यान दिया, और उपांगादि में जो विषय वर्णित हो चुका है उसकी अंग में आवश्यकता पड़ने पर वहाँ पर उस विषय का उल्लेख न करके केवल उपांग के नाम का ही निर्देश कर दिया है । जैसे कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में औपपातिक, राजप्रश्नीय आदि सूत्रों का उल्लेख है । अतः अंगसूत्रों में उपांग आदि का उल्लेख होने पर भी उनकी प्रामाणिकता में कोई क्षति नहीं पहुँचती; यह संमिश्रण तो देवद्विगणि क्षमाश्रमण द्वारा सम्पन्न हुआ है । यह सब कुछ लिखने का हमारा अभिप्राय यह है कि इस समय हमारे सामने जो अंग और उपांग आदि के नाम से प्रसिद्ध आगमसाहित्य मौजूद है वह उसी प्राचीन गणधर और स्थविरादि रचित आगमसाहित्य का प्रतिरूप है और आगम-प्रामाण्यवादी के लिये वह संपूर्ण ही (जिसकी कि देवद्विगणि ने संकलना की है) समानरूप से प्रामाणिक है और होना चाहिये । इसमें से अमुक भाग को प्रामाणिक और अमुक को अप्रामाणिक कहने व

मानने वाला हमारे ख्याल से आगम-प्रामाण्यवादी नहीं कहा जा सकता और इस तरह का आगमप्रामाण्य जो कि व्यक्तिगत बौद्धनिर्णय की अपेक्षा रखता हो, कभी स्थिर ही नहीं किया जा सकता। हमारे विद्वान् मित्र इन आगमों को प्रामाणिक भी मानते हैं और साथ में इनके फबती (मज़ाक) भी उड़ाते हैं। (पृ० १५६ का फुटनोट) (१)

यह कैसी प्रामाणिकता ? इसी तरह एक तर्फ तो आप अमुक अधिकारी के लिये मूर्तिपूजा को नितान्त उपयोगी और आवश्यक बतला रहे हैं, और दूसरी तर्फ आपको आगमों में मूर्ति का गन्ध तक भी नहीं आता। क्या आप ही के शब्दों में हम इसे (आपके कथन को) धर्मदम्भ कहें या ढोंग ? समझ में नहीं आता कि आप किस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं।

(२) दूसरी बात ऐतिहासिक दृष्टि की है। आजकल इस दृष्टि को सर्वोपरि महत्व प्राप्त है, सभ्यजनता में आज इसकी जितनी प्रतिष्ठा है उतनी और किसी की नहीं। प्रतिष्ठा के उच्च सिंहासन पर विराजमान इस दृष्टि की ओर आज धार्मिक विद्वान् भी आकर्षित हो रहे हैं, वे भी अपने प्राचीन ऋषियों के दिव्य विचारों की परख इसी से कराने के लिये आतुर हुए देख पड़ते हैं। परन्तु हमारे हृदय में तो इसके लिये कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं, हमें तो इससे चार्वाक की मूर्ति का ही प्रतिबिम्ब नज़र आता है। इसके पीछे एकमात्र इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष का ही प्रकाश है और वह इतना परिमित है कि उससे दूर की वस्तु दिखाई ही नहीं दे सकती। ऐतिहासिक दृष्टि में अपना कोई

(१) सूत्रकार और टीकाकारों का ऐसा ख्याल है कि महावीर भगवान् की प्रत्येक क्रिया प्रधानतया देवों द्वारा कराई जाय तो उनकी विशेष बड़ाई हो, इसी धारणा से उन्होंने भगवान् महावीर की हड्डियां तक भी स्वर्ग में पहुंचा दी। इत्यादि—

निजी प्रकाश नहीं, वह तो एकमात्र इन चर्मचक्षुओं से उपलब्ध होने वाले अति मन्द प्रकाश पर निर्भर करती है और फिर वह इतनी अस्थिर है कि आज उसके द्वारा जो बात निश्चित की जाती है कल वह बदल जाती है । कुछ उदाहरण लीजिये :—

पहले इस ऐतिहासिक दृष्टि ने जैनधर्म को केवल भ्रमण भगवान् महावीर तक ही सीमित किया था, उन्हीं को इसका उत्पादक बतला कर ईस्वीसन् पूर्व ५२७ (या इसके कुछ आगे पीछे) के पहले जैनधर्म के अस्तित्व से इनकार कर दिया था । तब हमने भी इसके पीछे लगकर जैनधर्म के जन्म की तिथि अधिक से अधिक अढ़ाई हजार वर्ष को नियत कर दी और उसके जन्मदाता एकमात्र महावीर स्वामी को हो ठहरा दिया । अगर इस अवसर में कोई धार्मिक दृष्टि वाला आगमवादी हम से जैनधर्म को इससे अधिक पुराना कहता तो हम उसके गले पड़ने को तैयार हो जाते । (ऐतिहासिक दृष्टि का कैसा चमत्कारी प्रभाव !) परन्तु यह दृष्टि अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकी । अब इसका स्थान दूसरी ऐतिहासिक दृष्टि ने ले लिया है । उसने जैन-परम्परा को भगवान् महावीर से आगे भगवान् पार्श्वनाथ तक पहुँचाने की कृपा की है, बस इससे आगे बढ़ने को वह तैयार नहीं, अब हम इसी पर आस्था किये बैठे हैं । परन्तु वह दिन दूर नहीं जब कि यह भी असत्य साबित होगी और जैन-परम्परा अपने मूल पुरुष भगवान् ऋषभदेव तक पहुँच कर ही विश्राम लेगी । हमारे ख्याल में वर्तमान युग की इस ऐतिहासिक दृष्टि ने हमारी धार्मिक भावनाओं को बहुत ठेस पहुँचाई है । अतीन्द्रिय ज्ञान रखने वाले ऋषि महर्षियों के वचनों की हमारे हृदय में कोई कदर नहीं रही ; मनुष्ययोनि के अतिरिक्त एक देवयोनि भी है इस बात को हम एक निर्मूल कल्पना के सिवा और कोई महत्व नहीं देते । प्राचीन

जैन ग्रंथों में अनेक सदियों पहले का लिखा हुआ “मथुरा नयरी
 थूभो देव निम्मतो” (१) तब तक हमारी श्रद्धा का भाजन नहीं बन
 सका जब तक कि मथुरा के कंकाली टीले की भूमी से निकल कर
 देवनिर्मित स्तूप ने उसे प्रमाणित नहीं कर दिया। इसी प्रकार जैनधर्म
 की प्राचीनता को प्रमाणित करने तथा उसमें प्रचलित मूर्ति उपासना
 को श्रमण भगवान् महावीर से भी पुरातन बतलाने वाले और भी कई
 एक विशिष्ट ज्ञान रखने वाले पूर्वचार्यों के उल्लेख जैन वाङ्मय में
 उपलब्ध होते हैं, परन्तु हम उन पर विश्वास करने के लिए अभी
 तैयार नहीं क्योंकि उनमें हमारी मानी हुई ऐतिहासिकता नहीं है।
 आज से कुछ समय पहले ऐसी अनेक बातें थीं जिन पर विश्वास तो
 दर किनार, उनके खंडन के लिये हम उधार खाये बैठे थे। और
 जिन महापुरुषों ने उनको अपने सद्ग्रन्थों में स्थान दिया उन्हें दम्भी,
 ढाँगी और पोप कहकर पुकारने में भी हमें संकोच नहीं होता था।
 परन्तु समय ने पलटा खाया और आज वे सब के सब सत्य एवं वैज्ञा-
 निक दिखाई देने लगीं। इस ऐतिहासिक या वैज्ञानिक अथवा
 बुद्धिवाद के युग ने हमारी धार्मिक आस्था (जो कि सच्ची वैज्ञानिक
 है) पर इस हद तक पानी फेरा है कि हमें अभी तक भी अपने
 विशिष्ट ज्ञान रखने वाले ऋषि मुनियों के वचनों पर विश्वास नहीं
 होता। उनकी कही हुई अनेकानेक बातों को वर्तमान युग की
 ऐतिहासिक दृष्टि के तराजू से तोलने और नापने पर (जब कि
 वे पूरी उतर रही हैं) भी हम अभी तक उनके विषय में शंकाशील ही
 बने रहते हैं। मानवजाति के अतिरिक्त एक देवजाति भी है उसका
 लोक इस लोक से पृथक् है, इस बात को वर्तमान युग की ऐतिहासिक

(१) मथुरा नगरी में देव-निर्मित स्तूप है। (बृहत्कल्पभाष्य वि० ५
 पृ० १५३६)

दृष्टि कभी स्वीकार करने की नहीं, क्योंकि इसके लिये कोई शिलालेख या ताम्रपट्ट नहीं, और नाही किसी पाश्चात्य वैज्ञानिक ऋषि ने उसे स्वीकार किया है। ऐसी अवस्था में वैदिक जैन और बौद्धधर्म के प्राचीन से प्राचीन साहित्य में मानवजाति से पृथक् स्वरूप में स्वीकार की गई देवजाति की स्वीकृति के लिये हम इन्हें कैसे राजी कर सकते हैं ? परन्तु वह दिन दूर नहीं कि वर्तमान युग के ये ऐतिहासिक (अर्द्धनास्तिक) आज जिन बातों पर आस्था नहीं रखते, कल इनका स्वयं समर्थन करते हुए दिखाई देंगे। इतिहास इसका प्रत्यक्ष साक्षी है।

पाठकों को स्मरण रहे कि हम ऐतिहासिक दृष्टि के विरोधी नहीं और उसकी उपयोगिता एवं प्रामाणिकता के विषय में भी हमें कोई विसंवाद नहीं, उसके आधार पर ही भारतीय जनता अपनी सभ्यसंस्कृति को संसार के सामने रखने का सौभाग्य प्राप्त कर सकी है। आज भूगर्भ से जितने भी प्राचीन शिलालेख, मद्रालेख, मंदिर और मूर्तियाँ आदि उपलब्ध हुई हैं उनके आधार पर भारतीय प्रजा के आचार विचार तथा धार्मिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का जो निर्णय होता है उसमें किसी को किसी प्रकार के संदेह का अवकाश नहीं रहता है; इस दृष्टि से ऐतिहासिक दृष्टि को अधिक से अधिक महत्व प्राप्त है और होना चाहिये। परन्तु हमारा तो इस विषय में इतना ही कथन है कि जो बातें हमारे प्राचीन ऋषि महर्षियों ने अपनी अतीन्द्रिय-दिव्य दृष्टि के आलोक में वर्णित की हैं उनके विश्वासार्थ प्रत्यक्षानुगामिनी इस ऐतिहासिक दृष्टि का अवलम्बन कदाचित् न भी हो तो भी वे हमारे लिये श्रद्धेय होनी चाहियें, और इसी दृष्टि से हमें वस्तुतत्त्व का विवेचन करना चाहिये। सारांश कि आगम-विहित विचारों का यदि ऐतिहासिक दृष्टि समर्थन करती

हो तो बड़ी अच्छी बात है परन्तु उनको इस पर अर्थात् आगम-विहित विचारों को ऐतिहासिक दृष्टि पर निर्भर नहीं करना चाहिये । इनकी प्रामाणिकता को ऐतिहासिक दृष्टि से मापना तो हमारे ख्याल में अदूरदर्शिता की पराकाष्ठा है । केवल चर्मचक्षुओं पर आधार रखने वाली वर्तमान ऐतिहासिक दृष्टि को अतीन्द्रिय-पदार्थ-गारिनी दिव्य दृष्टि पर अधिकार स्थापित करने का साहस तो किसी प्रकार भी न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता ।

इसी तरह साम्प्रदायिक दृष्टि भी विचारक्षेत्र के विकास में पूर्ण बाधक है, उसके द्वारा किया गया निर्णय भी यथार्थ नहीं हो सकता । साम्प्रदायिकता मानव विचारों को अत्यन्त संकीर्ण बना देती है, विचारक व्यक्ति को विशालता की ओर न ले जाकर संकीर्णता की ओर ले जाने को बाधित करती है । आज संसार में मत-मतान्तरों को जन्म देकर उनमें संघर्ष उत्पन्न करके धर्म-क्षेत्र को पूरी यादवस्थली बनाने का एक-मात्र श्रेय साम्प्रदायिकता को ही है । अतः विचारशील व्यक्ति को अपनी दृष्टि साम्प्रदायिकता के विषम प्रदेश के विकृत स्पर्श से सदा दूर ही रखनी चाहिये, तभी वह वस्तुतत्त्व को प्राप्त कर सकता है ऐसी हमारी दृढ़ मान्यता है । अस्तु इतना उपोद्घात या प्रासंगिक निवेदन करने के बाद अब हम प्रकृत का अनुसरण करते हैं अर्थात् विवेचनीय पुस्तकगत चैत्यवाद की समीक्षा की ओर अपने पाठकों का ध्यान खेंचते हैं ।

चैत्य शब्दार्थ

चैत्य शब्द के अर्थ पर ऊहापोह करते हुए हमारे विद्वान् मित्र पंडित बेचरदास जी लिखते हैं :—

(१) जैसे पूर्वोक्त प्रकार से सिर्फ फूट पड़ने के कारण हमारा विशुद्ध जिनकल्प तथा स्थविर कल्प नष्ट हो गया और उसकी जगह

परम्पराकल्प एवं रूढीकल्प ने घर कर लिया है, वैसा ही चैत्यपूजा के संबन्ध में भी हुआ है। इस विषय को आपके सामने रखने से पहले मुझे चैत्य के इतिहास से लगता हुआ कितना एक आवश्यक उल्लेख करना है। मात्र जैन कोष का प्रमाण देकर कहा जाता है कि—

“चैत्यं जिनोकस्तद्बिम्बम्” (हेमचन्द्र) अर्थात् चैत्य शब्द का अर्थ जिनगृह और जिनबिम्ब होता है। कोष का यह प्रमाण मैं भी मानता हूँ, परन्तु संस्कृतसाहित्य में ऐसे संख्याबद्ध शब्द हैं कि जिनका अर्थ वातावरण के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। हमारा चर्चास्पद चैत्य शब्द भी उन्हीं शब्दों में से एक है। जब कभी ऐतिहासिकों से शब्दों का इतिहास पूछा जाता है, तब वे उसके वातावरणजन्य अर्थ की ओर ध्यान न देकर उसकी मूल उत्पत्ति व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति की तरफ लक्ष्य करते हैं। उसी प्रकार यदि चैत्य शब्द की मूल उत्पत्ति व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति की तरफ लक्ष्य किया जाय तब ही उसका असली अर्थ हमारे हाथ आसकता है।

चिता, चिति, चित्य और चित्या इन चार शब्दों में चैत्य शब्द की जड़ मिल सकती है। इन चारों शब्दों का अर्थ एक समाव है और वह “चे” होता है अर्थात् चे का सम्बन्धी याने उस पर बना हुआ या उसके निमित्त बना हुआ, या अन्य किसी आकार में रही हुई उसी की सत्ता-यादगार उसे चैत्य कहते हैं। जिस जगह मृतक का अग्नि-संस्कार किया जाता है, वहाँ उसकी राख पर ही कुछ निशान बनाया जाता है उसी को चैत्य कहते हैं। चैत्य शब्द का यह मूल एवं मुख्य अर्थ है और सब से अति प्राचीन अर्थ भी यही है। कदाचित् यह अर्थ करने में खेरी भूल होती हो तो तदर्थ घाठक महाशय निम्न-लिखित प्रमाणों की ओर ध्यान दें—संसार-प्रसिद्ध इंग्लिश विश्वकोश में (Encyclopedia) एन्साइक्लो-

पीडिया में चैत्य शब्द के लिये निम्न प्रकार स लिखा है—

Chaitya—(Sanskrit, an adjective form derived from “*Chita*” a funeral pile)-in accordance with its etymology the word might denote originally anything connected with a funeral pile e g. the bimus raised over the ashes of the dead person, or a tree marking the spot. Such seems to have been its earlier use in Indian literature, whether Brahmanical, Buddhist, or Jain; but as the custom of erecting monuments over the ashes or over the relics of departed saints prevailed chiefly among the Buddhists and the Jains, the word (or one of the Prakrit equivalents, Pali Chaitya, etc.) is especially characteristic of their literature. In this sense it is practically synonymous with stupa, ‘tope’ in India (Though stupa is raśker architecture and Chaitya the religious, term) and has various equivalents in the countries of Asia to which the custom extended with the spread of Buddhism. At a later period Chaitya was used more generally to denote any shrine, religinary or sacred tree. This is clear not only from the references in the literature, but also from the express statement in a Sanskrit dictionary of synonymous; the Viva pravasa of Mahasavara, Kavi (A. D. 1111), quoted by the Commentary of Mallinatha, (14th Century A.D.) on Kalidas’s Megaduta, Verse 23.

Encyclopedia of Religion and Ethics Vol. 3.
Page 335.

“चैत्य चिता शब्द से निष्पन्न हुआ विशेषण रूप है, याने उसकी व्युत्पत्ति के अनुसार चैत्य शब्द का मूल अर्थ चिता का सम्बन्धी होता है। उदाहरण के तौर पर मृतक मनुष्य की राख के ऊपर चिना हुआ स्तूप (Tumulus) या उस स्थान के चिन्ह स्वरूप में रोपित किया हुआ वृक्ष। इस शब्द का सब से पुराना अर्थ भारतीय साहित्य में, चाहे

वह साहित्य वैदिक हो, बौद्ध हो या जैन हो यही किया गया देख पड़ता है। परन्तु स्वर्गवासी महात्माओं के अवशिष्ट अस्थि या भस्म पर इस प्रकार के स्मारक बनाने का रिवाज मुख्यतया बौद्धों और जैनों में ही प्रवर्तित होने से यह शब्द (जिसका एक प्राकृत भाषा या पाली का रूप 'चेतिय' इत्यादि होता है) इन्हीं के साहित्य का खास पारिभाषिक शब्द है। इस अर्थ में वस्तुतः भारतवर्ष में मिलने वाले स्तूप शब्द का पर्याय बनता है। स्तूप और चैत्य में इतना ही फर्क है कि स्तूप शब्द शिल्पशास्त्र से और चैत्य शब्द धर्मशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। एशियाखंड में बुद्धधर्म प्रसरने (फैलने) के साथ २ ही जिन २ देशों में वह रिवाज प्रचलित होता गया त्यों त्यों उन देशों की भाषा में उस शब्द के अनेक पर्याय शब्द उत्पन्न होते गये। गत समय में यह चैत्य शब्द विशेष साधारणरीत्या किसी भी मंदिर, अवशिष्टाधार-भाजन या पवित्र वृक्ष इत्यादि के वाचक के तौर पर उपयोग में लिया जाने लगा, यह बात साहित्य में मिलने वाले उसके उल्लेखों द्वारा जितनी सिद्ध होती है उतनी ही पर्यायदर्शक संस्कृतकोशों पर से साबित होती है। यह विषय कवि कालिदास-रचित मेघदूत के २३वें श्लोक पर मल्लिनाथ की ई० सन् १४ वीं शताब्दी की टीका में उल्लिखित महेश्वर कवि ईस्वी सन् ११११ के विश्वप्रवास पर से भी देखा जा सकता है (एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजीयन एण्ड एथिक्स)।

(२) बनारस से प्रकट होने वाली नागरी प्रचारिणी पत्रिका में देवकुल विषय के लेख में चैत्य शब्द के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया है—

“देवपूजा का पितृपूजा से बड़ा सम्बन्ध है। देवपूजा पितृपूजा से ही चली है। मंदिर के लिये सब से पुराना नाम चैत्य है जिसका अर्थ चिता (दाहस्थान) पर बना हुआ स्मारक है। शतपथब्राह्मण

में उल्लेख है कि शरीर को भस्म करके धातुओं में हिरण्य का टुकड़ा मिला कर उनपर स्तूप का चयन (चुनना) किया जाता था । बुद्ध के शरीर धातुओं के विभाग तथा उन पर स्थान २ पर स्तूप बनाने की कथा प्रसिद्ध ही है । बौद्धों तथा जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक-चिन्ह थे, फिर पूज्य हो गये । (पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० अजमेर) ।

समीक्षा—इस समय जिनकल्प या स्थविरकल्प अथवा इनके स्थान में प्रतिष्ठित हुआ परम्पराकल्प इत्यादि हमारे विवेचन का विषय नहीं है, इस पर तो कभी अवसर मिला तो फिर विचार किया जायगा, इस समय तो हमारा विचार क्षेत्र केवल चैत्य और उससे सम्बन्ध रखने वाले विषय तक ही सीमित है । इसमें सन्देह नहीं कि चैत्य शब्द के अर्थ की ऐतिहासिक पर्यालोचना में चैत्य की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति इन तीनों पर विचार करना आवश्यक है, परन्तु इन सब में प्रधान तो उसकी प्रवृत्ति ही है । यद्यपि यह कोई अबाधित नियम नहीं कि अनेकार्थक शब्दों में अमुक अर्थ ही मुख्य और बाकी के तदुत्तरभावी एवं गौण हैं, यह तो शब्दों का इतिहास खोजने वालों की अपनी निजी कल्पना है जो कि विकासवाद का ही सर्वत्र साम्राज्य देख रहे हैं । कहीं कहीं पर यह कल्पना निराधार भी प्रमाणित होती है ।

उदाहरणार्थ :—कौशिक शब्द को ही लीजिये । यह शब्द जहाँ उल्ल (घूक) का वाचक है वहाँ इन्द्र और गुग्गुल एवं कोशाध्यक्ष का भी बोधक है । यहाँ पर उत्पत्तिस्थान एक होने पर भी अर्थ-विभेद स्पष्ट दिखाई पड़ता है । तथा “कोशे भवः कौशिकः” इस समान व्युत्पत्ति से उल्लूक, नकुल, इन्द्र और गुग्गुल (वनस्पति विशेष) ये चार विभिन्न अर्थ कौशिक शब्द के किस विकास क्रम के आधार

पर हुए, यह तो शब्दों का इतिहास ढूँढने वाले ही बतला सकते हैं । यही दशा हरि शब्द की है । “हरि” हृज् हरणे घातु से इन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, और कौश ने इसका व्यवहार विष्णु, सिंह, सर्प, बानर आदि लगभग बाईस अर्थों में किया है (१) इसकी उत्पत्ति और व्युत्पत्ति समान होने पर भी केवल प्रवृत्ति अर्थात् व्यवहार की विभिन्नता विविधता से इसका भिन्न २ अर्थों में व्यवहार हुआ माना जा सकता है । परन्तु इसका जिन २ अर्थों में व्यवहार हुआ है उनकी पौर्वापर्य कल्पना के लिये सिवाय कल्पक इतिहास घड़ने के और कोई ठोस आधार प्रतीत नहीं होता । कौशिक शब्द का पहले मुख्य अर्थ (जो कि उसकी मूल उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति के अनुरूप हो) क्या था और पीछे वातावरण के प्रभाव से वह किस २ अर्थ में परिवर्तित हुआ, इसका निर्णय हमें तो प्रायः अशक्य ही प्रतीत होता है । यदि उसका उत्पत्ति और व्युत्पत्ति आदि के अनुसार मुख्य अर्थ इन्द्र था तो उसका उल्लूक या नकुल आदि अर्थ किस वातावरण के प्रभाव से हुआ और यदि उसका मुख्य अर्थ नकुल या उल्लूक था, तो उसे पीछे से इन्द्र अर्थ में परिवर्तित होने के लिये किस वातावरण ने बाधित किया । इसी प्रकार हरि शब्द के विषय में भी कहा जा सकता है । कदाचित् ऐसा मान भी लिया जाय कि संस्कृत-साहित्य में कुछ शब्द ऐसे भी हैं कि जो अपने व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थ का परित्याग करके वातावरणजन्य रूढ़ अर्थ का भी बोध कराने लगते हैं और जब उन अर्थों का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण किया जाता है तब व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थ ही उन सब में मुख्य और प्राचीन

(१) देखो शब्दस्तोम महानिधि पृ० १३२३—

हरि पु० हृ-इन् विष्णो, सिंहे सर्पे, बानरे, भँके, चन्द्रे, सूर्य, वायो, अश्वे, यमे, हरे, ब्रह्मणि, किरणे, नववर्षमध्य वर्षभेदे, मयरे, कोकिले, हंसे, शुकपक्षिणि भर्तृहरिनामके वाक्यश्रुतीव्याख्यानकारके पंडिते, इन्द्रे, शीते, पिमलवर्णे, इच्छिणे च ।

ठहरता है और बाकी के अर्थ गौण एवं अर्वाचीन सिद्ध होते हैं। इसी पद्धति के अनुसार चैत्य शब्द का उत्पत्ति और व्युत्पत्ति के अनुसार मूल और मुख्य एवं सर्वप्राचीन अर्थ तो चिता—दाहस्थल पर बनाया गया कोई चिन्ह—निशान—विशेष ही है और बाकी के मंदिर एवं मूर्ति आदि उसके जितने भी अर्थ किये जाते हैं वे सब आधुनिक अर्थात् उस समय के वातावरण से उत्पन्न होने वाले नवीन कल्पित अर्थ हैं। अगर हम इस कथन को थोड़े समय के लिये यथार्थ भी मान लें तो भी केवल व्युत्पत्ति के आधार पर की गई शब्दार्थ की इस प्रकार की कल्पना से भी उसकी (शब्दार्थ की) प्राचीनता या नवीनता तो प्रमाणित नहीं हो सकती, उसके लिये तो उसकी प्रवृत्ति-व्यवहार को ही देखना होगा। आजकल उपलब्ध होने वाले आधुनिक संग्रह कोषों—शब्दकल्पद्रुम, बृहद्वाचस्पत्यभिधान और शब्दस्तोम-महानिधि तथा शब्दचिन्तामणि आदि प्रचलित कोषों में चैत्य शब्द के जितने भी अर्थ दिये गये हैं उन सब का उल्लेख करने से पूर्व प्रायः सभी कोशकारों ने चैत्य शब्द की एक ही प्रकार की (चित्याया इदम्, चित्यस्येदम्) व्युत्पत्ति की है। तब एक ही प्रकार की व्युत्पत्ति से निष्पन्न या सम्पन्न होने वाले चैत्य शब्द के अनेक विभिन्न अर्थों का कालकृत पौर्वापर्य केवल व्युत्पत्ति के द्वारा कैसे निश्चित किया जा सकता है इसका पाठक स्वयं विचार करें। हमारे विचार से तो इसका सुगम उपाय एक ही है, वह यह कि आधुनिक संग्रह-कोशों में चैत्य शब्द के जितने अर्थ बतलाये हैं, संस्कृत-साहित्य में उन उन अर्थों में चैत्य शब्द की प्रयुक्ति अवश्य होनी चाहिए। अगर चैत्य का इन २ अर्थों में वही पर व्यवहार न हुआ होता तो कोशकार कभी उल्लेख न करते। कोश की रचना भी तो शब्द और उसके अर्थ के व्यवहार पर ही निर्भर होती है, इस लिये वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में जहाँ कहीं जिस

अर्थ में चैत्य शब्द का व्यवहार हुआ है उसको देखकर इसका निर्णय कर लेना चाहिये । अगर किसी प्राचीन साहित्य में चैत्य का देवमंदिर या देवमूर्ति के अर्थ में व्यवहार हुआ उपलब्ध हो तो उसे प्राचीन और मुख्य अर्थ मानने में किसी को आनाकानी नहीं होनी चाहिये, अगर उसका प्राचीन साहित्य में चिता-चिन्ह ही के अर्थ में व्यवहार हुआ है तो उसके स्वीकार में भी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं उठानी चाहिये । अगर कहीं पर उसका प्रधान वृक्ष या देवावास, वृक्ष के अर्थ में ही प्रयोग देखने में आता है तो उसे ही प्राचीन और मुख्य मान लेना चाहिये । तात्पर्य कि शब्दार्थकल्पना में व्यवहार को ही प्रधान पद प्राप्त है । भारतीय-वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों धार्मिक सम्प्रदायों के साहित्य में चैत्य शब्द का पर्याप्त मात्रा में व्यवहार हुआ देखा जाता है, यद्यपि आजकल यह जैन और बौद्ध धर्म के ही साहित्य का एक पारिभाषिक शब्द मानने में आता है परन्तु वैदिक साहित्य में भी इसका कम व्यवहार नहीं हुआ है । और हमारे चर्चास्पद चैत्यवादगत चैत्य शब्द के मुख्य और गौण अथवा प्राचीन या नवीन अर्थ का निर्णय भी वैदिक साहित्य में व्यवहृत हुए चैत्य के ऊपर ही निर्भर करता है । चैत्य शब्द का मंदिर या मूर्ति अर्थ प्राचीन है या नवीन इसका विचार तो हम आगे चलकर करेंगे, इस समय तो उसका केवल उत्पत्ति और व्युत्पत्ति के आधार पर जो अर्थ किया गया है, प्रथम उसका अवलोकन करते हैं ।

चैत्य शब्द की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति

शास्त्रकारों ने किसी भी शब्द के अर्थ-निर्णय के आठ (१) साधन बतलाये हैं, परन्तु इनमें व्याकरण, कोश, आप्तवचन और व्यवहार

(१) शक्तिग्रह व्याकरणोपमान काशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति, सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥

(न्यायमुक्तावली शब्दसंग्रह)

ये चार प्रधान माने जाते हैं। इन चारों के आधार पर किया गया शब्दार्थ सुनिश्चित एवं स्थायी होता है। केवल व्याकरण से निश्चित हुआ शब्दार्थ यदि कोशादि तीनों और खासकर व्यवहार से प्रमाणित नहीं होता तो वह अग्राह्य ही रहता है। परन्तु शब्दार्थ के निर्णय में व्याकरण कोई कम उपयोगी नहीं है, उसके आधार से हम शब्दार्थ-निर्णय में रहे हुए सत्य के मर्म को स्पर्श कर सकते हैं अतः उसकी सहायता से उपलब्ध होने वाले चैत्य के अर्थ की ओर पाठक ध्यान दें:—

इसमें तो सन्देह नहीं कि चैत्य शब्द की निष्पत्ति बहुधा चिति और चित्य पर से हुई है, उसकी जड़ भी वहीं पर है, एवं उसका चिता की भस्म-राख अथवा उस पर (चिता पर) बनाया गया, स्मारक-चिन्ह विशेष यह अर्थ भी उसकी उत्पत्ति और व्युत्पत्ति को देखते हुए कुछ असंगत प्रतीत नहीं होता, परन्तु यह चैत्य का कोई मुख्य एवं प्राचीन अर्थ नहीं है। यह तो बहुत पीछे का है अर्थात् प्राचीन देवालयों—देवस्थानों की देखा-देखी भावुकता के कारण जब धर्म-प्रचारक महापुरुषों के भी समाधिमंदिर बनने आरम्भ हो गये, उस समय का है। तात्पर्य कि इन समाधि मन्दिरों और इसी प्रकार के अन्य स्थानों के अर्थ में प्रयुक्त होने वाले चैत्य शब्द को ही यह पूर्वोक्त व्युत्पत्ति लागू हो सकती है न कि उसके वास्तविक और प्राचीन अर्थ को भी। उसका अर्थात् चैत्य शब्द का मुख्य और प्राचीनतम अर्थ तो यज्ञ-स्थान है जिससे कि चिता या उसकी भस्म आदि का दूर से भी कोई वास्ता नहीं है। यह बात, चैत्य के मूलभूत चिति और चित्य की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति पर ध्यान देने से सहज ही में समझी जा सके, ऐसी है। चिति और चित्य इन दोनों का मूल उत्पत्ति-स्थान “चिञ् चयने” धातु है, इस चयनार्थक चिञ् धातु से ही इन दोनों की उत्पत्ति हुई है। चिति यह भावार्थ में होने वाले क्तिन् प्रत्यय

(स्त्रियां चित् ३।३।१४) से निष्पन्न होता है और चित्य की निष्पत्ति "चित्याग्निचित्ये च" (३।१।१३२) इस सू के द्वारा होती है। इन दोनों का व्युत्पत्तिलभ्य मुख्य अर्थ चयन विशेष है। (चयनं चितिः, चीयतोऽसौ इति चित्यः)

(१) चिति—

चिति चयन और अग्निचयन ये तीनों एक ही अर्थ के बोधक हैं, यज्ञभूमि में देवपूजन और हवनादि कार्यों के सम्पादनार्थ जो स्थंडिल निर्माण किया जाता है उसमें विधिपूर्वक बनाई और पकाई हुई विशेष प्रकार और आकार की १११७० ईंटें लगाई जाती हैं (१) उनके द्वारा निर्मित हुए उस स्थंडिल विशेष में पाँच परिधियें होती हैं इन प्रत्येक की ही चिति संज्ञा है। शतपथब्राह्मण में इसी अर्थ में चिति शब्द का प्रयोग किया है (२), कात्यायन श्रौतसूत्र में भी इसका उल्लेख है। तथा विशेष प्रकार और आकार वाली इष्टकाओं के द्वारा सम्पादित स्थल-विशेष को चयन कहते हैं, उसका सोमयाग की महावेदी के अन्तर्गत उत्तर वेदी में ही निष्पादन किया जाता है ("तच्च सौमिकमहावेद्यन्तर्गतोत्तरवेद्यामेव निष्पाद्यते" (३) सोमयाग की उत्तर वेदी को बढा कर वहीं पर इसकी रचना की जाती है और उस पर आहवनीय अग्नि को स्थापित करके हवन किया जाता

(१) इसके लिये देखो कात्यायन श्रौतसूत्र की भूमिका पृ० ६ ।

(२) क—पंचचितिकोऽग्निः ७।१।१ (अग्निचयनयाग में पाँच चित्तियें होती हैं)

ख—प्रजापतिः प्रथमां चितिं अपश्यत् प्रजापतिरेव तस्या आर्षेयम् । देवा द्वितीयां चितिमपश्यन् देवा एव तस्या आर्षेयम् । इन्द्राग्निः विश्वकर्मा च तृतीयां चितिमपश्यत् त एव तस्या आर्षेयम् । ऋषयश्चतुर्थीं चितिमपश्यन् ऋषय एव तस्या आर्षेयम् । परमेष्ठी पंचमीं चितिमपश्यत् परमेष्ठयेव तस्या आर्षेयम् ।

(३) कात्यायन श्रौतसूत्र १६।१।१ की व्याख्या ।

है । तथा अग्नि का आधार होने से इस स्थंडिल की अग्निचयन संज्ञा है ।

(देखो कात्यायन श्रौतसूत्र की विद्याधर कृत (१) भूमिका पृ० (६१))

इस प्रकार यज्ञीय स्थंडिल में जो सविधि इष्टकाचयन-विशिष्ट रचना है उसका नाम चिति है । चिति की यह व्याख्या उसकी उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल और अधिक प्राचीन है । अतः इस पर से निष्पन्न हुए चैत्य शब्द का यज्ञ अर्थ ही अधिक संगत है ।

(२) चित्य—

चित्य और अग्निचित्य दोनों समानार्थक शब्द हैं, तथा चयन और अग्निचयन भी इन्हीं के पर्याय हैं । पाणिनीय व्याकरण के अनुसार परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य, चित्य और अग्निचित्य ये पाँचों शब्द जहाँ अग्निस्थापनार्थ इष्टका-निर्मित स्थंडिल-विशेष अर्थ विवक्षित हो वहीं पर निपातित होते हैं । यदि इनसे उक्त अर्थ विवक्षित न हो तो, ये शब्द निष्पन्न ही नहीं हो सकता । इष्टका-निर्मित स्थल-विशेष अर्थ में परिचाय्य, उपचाय्य में तो परि और उप पूर्वक चिञ् धातु से ण्यत् प्रत्यय तथा आयादेश का निपात होता है । चित्य और अग्निचित्य में चिञ् धातु से क्यप् और तुक् का निपात होता है । तात्पर्य कि चित्य यह रूप तब तक नहीं बन सकता है जब तक कि उससे यज्ञसम्पादनार्थ शास्त्रविहित इष्टकारचित् स्थंडिल-विशेष अर्थ अभिप्रेत न हो । जहाँ पर यह अर्थ विवक्षित नहीं, वहाँ

(१) चयनं नाम इष्टकाभिः सम्पादितस्थलविशेषः केवलस्य सोमयागस्य या उत्तरवेदिः तां वद्वर्णयित्वा तत्रैव इष्टकाभिश्चयनं सम्पाद्य तदुपरि आहवनीयं निक्षिप्य तत्रैव होमः क्रियते, अग्न्याधारत्वादस्य स्थंडिलस्य अग्निचयनमिति संज्ञा ।

पर तो इनके क्रमशः उपचेयम्, परिचेयम्, संबाह्यम् और चेयम् अग्नि-
चेयम् इसप्रकार के ही रूप बनेंगे (१) ।

इस प्रकार चित्य शब्द की मूल उत्पत्ति, निष्पत्ति और व्युत्पत्ति
पर विचार करने से जान पड़ता है कि उसका वास्तविक अर्थ यज्ञ-
सम्पादनार्थ शास्त्रविहित इष्टका-निर्मित स्थंडिल विशेष ही है ।

इसके अतिरिक्त—“चित्योऽग्नि”—(चित्य नाम अग्नि का है)
इसमें अग्नि शब्द से अग्नि के आधारभूत इष्टका संपादित स्थंडिल-
विशेष का ही ग्रहण अभिमत है । इसका उल्लेख शतपथ और कात्यायन
श्रौत सूत्र में पर्याप्त मात्रा में है (२) । और इस स्थल-विशेष को

(१) (क)—

(अग्नी परिचाय्योपचाय्यसमूह्याः (३।१।१३९)

अग्निधारणार्थं स्थलविशेषे एते साधवः । अन्यत्र तु परिचेयं उपचेयं, संबाह्यम् ।

(ख)—चित्याग्निचित्ये च (३।१।१३२) अग्नी निपात्यते । चीयतेऽग्नी-
चित्योऽग्निः । अग्नेश्चयनं अग्निचित्या ।

बालमनोरमा—

(क)—अग्नी गम्य परिचाय्य उपचाय्य समूह्य एते निपात्यन्ते । अग्नि-
शब्दः इष्टकारचित्यस्थलविशेषे वर्तते, “इष्टकाभिरग्निं चिनोति” इति श्रुतिः ।
इष्टकाकृतचयनेन अग्न्याख्य स्थंडिलं निष्पादयेदित्यर्थः । “ब्रह्मवादिनी वदन्ति
यन् मृदा चाद्भिश्चाग्निश्चीयते, अथ कस्मादग्निश्च्यते इति यच्छब्दाभिश्चिनो-
त्यग्नयो वै छन्दांसि तस्मादग्निश्च्यते अथो इयं वा अग्निर्वैश्वानरो यत् मृदा
चिनोति तस्मादग्निश्च्यते” इति वाक्यशेषाच्च । तदाह अग्निधारणेति । तत्र
परिपूर्णादुपपूर्वाच्च चित्राः कर्मणि ण्यत् आयादेशश्च निपात्यते ।

(ख)—चित्याग्निचित्ये च । चित्यश्च अग्निचित्या चेति द्वन्द्वः । अग्नी-
निपात्यते । चित्योऽग्निरिति । कर्मणि ण्यत् तुक् च निपात्यते । अग्नेश्चयनमिति
अग्निशब्दे षष्ठ्यन्ते उपपदे चित्रो ण्यत् तुक् च स्त्रीत्वं लोकात् । (बालमनोरमा
उत्तरार्द्ध ५० ४९३) ।

(२) शतपथ—“अग्निरेष पुरस्ताच्चीयते” (१०।१।२) “अयाग्नि-
मारोहन्ति” (१।२।३।२४) अग्निं प्रोक्षति (१७।२।२९) तत्र अग्निशब्देन आह-
वनीयाधिकरणं सप्तपुरुषाद्येकशतपुरुषपरिमितं चित्रं क्षेत्रम् अभिधीयते “इष्टका-
भिरग्निं चिनोति” इति श्रुतेः तथा “अग्निमारोहन्ति” “अग्निं प्रोक्षति” इति

ही वहाँ चित्य के नाम से अभिहित किया है यथा—“चित्यमारोहन्ति” (१८।४।१) तथा—“चित्यारोहणं नमस्त” इति (१८।२।४) चित्यस्याग्नेरारोहणं कुर्यादध्वर्युः (कात्यायन श्रौ०) ।

यदि संक्षेप से कहें तो परिष्कृत (१), विहार भूमि—यज्ञभूमि में देवपूजनार्थ आहवनीय और गार्हपत्य आदि अग्नियों की स्थापना के लिये शास्त्रानुसार विधिपूर्वक इष्टकाचयन द्वारा जो स्थंडिल-हवनकुंड-विशेष निर्माण किये जाते हैं उनको चित्य कहते हैं । चित्ति-चयन और अग्निचयन इसी के पर्याय हैं । चित्य के इस प्रधान अर्थ (विशिष्ट चयन) में ही चैत्य का मौलिक अर्थ निहित है, इसके अनुसार चैत्य शब्द का यज्ञस्थान, यज्ञमंडप अथवा यज्ञवेदी अर्थ ही अधिक प्रामाणिक प्रतीत होता है । यह अर्थ उसकी मूल उत्पत्ति और व्युत्पत्ति के अधिक अनुरूप होने के साथ २ शिष्ट-सम्मत भी है । तथा प्राचीन कोशों (३) में भी उसका यही अर्थ किया है । इसके अलाव

चारोहणप्रोक्षणे स्थलस्येवोच्येते तस्य चित्यस्याग्नेरुपरिनिधीयमान—आहवनीयोऽग्निस्तत्कर्म च अग्निशब्देनोच्यते (सायणभाष्य) ।

कात्यायन श्रौतसू—“अग्निसोमांगं तद्गुणव्यतिषगात् (१६।१) ।

व्या०—अग्निशब्देन इष्टकाभिः सम्पादितमग्न्याधारभूतं स्थंडिलमुच्यते । तच्च सौमिकमहावेद्यान्तर्गतात्तारवेद्यामेव निष्पाद्यते । “उत्तारवेद्यां ह्यग्निश्चीयते” इति श्रुत्या उत्तारवेदे रूप्येव स्थंडिलनिर्माणस्य विहितत्वात् ।.....इदमेव स्थंडिलम् अग्न्याधारत्वादग्निरिति व्यवह्रियते । चितिः चयनम्, अग्निचयनम्—इत्यपि तत्स्यैव पर्यायाः ।

(२) (क)—प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में यज्ञार्थ नियत और स्वीकृत की गई भूमि के लिये विहार शब्द का प्रयोग किया गया देखा जाता है, यथा—“यागार्थं यत्र यत्र यावती भूमिः श्रुत्यादिभिः परिमाणविशिष्टत्वेन विहिता तत्र तत्र तावती भूमिर्विहारशब्दवाच्या (श्रौतपदार्थनिर्वाचन पृ० २) ।

(ख)—न विहारादपर्यावर्तत (मंत्रायणी वाराहसूत्र पृ० १) इत्यादि २ ।

(३) अग्निपुराण में—“चैत्यमायतनं तुल्ये” (३६।४।८) लिखा है । इसी का उल्लेख अमरसिंह ने अपने कोष में किया है । “चैत्य और आयतन ये दोनों यज्ञस्थान के वाचक हैं” यह इसका अर्थ है । भेदिना और त्रिकाण्डशेष

वैदिक साहित्य में इसका—चैत्य शब्द का इसी अर्थ में (यज्ञस्थान आदि अर्थ में) अधिक व्यवहार किया है (१) रामायण महाभारत

आदि कोषों की अपेक्षा अमरकोष अधिक प्राचीन है, उससे भी प्राचीन अग्नि-पुराण है। इन दोनों में चैत्य के केवल इस प्रधान अर्थ का ही उल्लेख किया। इसके पश्चाद्भावी कोषों में भी चैत्य का “यज्ञस्थान” अर्थ किया है और आधुनिक संग्रहकोषों में भी इस अर्थ को प्रधान स्थान प्राप्त है। इस पर से चैत्य शब्द के प्राचीन और प्रधान मुख्य अर्थ का निर्णय बड़ी सुगमता से हो सकता है। हमारे ख्याल से तो वह प्रधान अर्थ “यज्ञस्थान” ही सम्भव हो सकता है।

(१) रामायण और महाभारत में चैत्य शब्द का प्रचुर व्यवहार देखने में आता है। उसमें यज्ञस्थान के अर्थ में चैत्य शब्द की प्रवृत्ति के कुछ उदाहरण आगे दिये जाते हैं—

रामायण—“कच्चिच्चैत्यशतैर्जुषः सुनिविष्टजनाकुलः। अयो० का० सर्ग १०० श्लोक ४२।

टी०—चैत्यशतः अश्वमेधान्तयागानेकचयनप्रदेशः।

महाभारत—“चैत्ययूपांकिता भूमिर्यस्येयं सवनाकरा” (आ० प० अ० २ श्लो० २२९)।

टि०—चैत्ये चयनवति क्रतौ विहिताश्चैत्यास्ते च ते यूपाश्च तैरंकिता। इन दोनों स्थानों में, चैत्य शब्द अपने उसी प्रधान अर्थ—यज्ञविहित विशिष्ट-चयन सम्बन्धि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

इसके अतिरिक्त महाभारत के निम्नलिखित पाठ से ती चैत्य शब्द का यज्ञ अर्थ में व्यवहार बिलकुल ही स्पष्ट साबित हो जाता है—

ततो यज्ञो ववृषे तस्य राजन्, यत्र देवाः स्वयमन्नानि जह्नुः।

यस्मिन् शक्रो ब्राह्मणः पूज्यमानः, सदस्योमद्धरिमान् देवराजः॥

ततः संवर्तश्चैत्यगतो महात्मा, यथा वह्निः प्रज्वलितो द्वितीयः।

हवीष्युच्चैराह्वयन् देवसंधान् जुहावाग्नी मंत्रवित् सुप्रतीतः।

‘चैत्यगतः’ का अर्थ है यज्ञ में विराजमान। (महाभारत अश्व० प्र० अ० १० श्लो० ३१-३२)।

इसके अलावा आश्विलायनगृह्यसूत्र में भी इसका—(चैत्य शब्द का) इसी अर्थ में व्यवहार किया, है यथा—

.....“चैत्ययूपं वोपहत्य” (३।६।८) इस पर नारायण और हरि-दत्ताचार्य इस प्रकार लिखते हैं :—

नारायणीवृत्तिः—अग्निचयनस्थं यूपं स्पृष्ट्वा।

हरिदत्ताचार्यः—चित्थोग्निः तत्र भग्नो यूपश्चात्तः।

और आश्विलायनगृह्य के अतिरिक्त कण्वशाखीय शतपथ (१३।४।३।१) के एक पाठान्तर में “चैत्ये होवाच ब्रह्मा” ऐसा उल्लेख भी देखने में आता है, उस पर से तो चैत्य का यह पूर्वोक्त अर्थ ही मुख्य एवं प्राचीनतम प्रतीत होता है। इस प्रकार चैत्य शब्द के मूल इतिहास में उसकी मूल उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति का ध्यानपूर्वक पर्यालोचन करने से उसका मुख्य और प्राचीन अर्थ तो यज्ञस्थान अथवा यज्ञमंडप ही प्रामाणित होता है न कि चिता की भस्म या चितास्थान पर बना हुआ किसी प्रकार का स्मारक-चिन्ह-विशेष। यह अर्थ तो बहुत पीछे का है। इस अर्थ में तो चैत्य शब्द का व्यवहार उस समय हुआ जब कि यहाँ देवमन्दिरों की भान्ति समाधिमंदिरों के निर्माण की प्रथा आरम्भ हुई। इससे पहले चैत्य का चिता स्थान से कोई सम्पर्क न था, उसका मौलिक स्वरूप इससे चितास्थान से बिल्कुल अछूता था। अतः—चैत्य की “चित्यस्य इदम्” इस व्युत्पत्ति का “चितासम्बन्धि” अर्थ न करके “चयन सम्बन्धि” अर्थ करना ही अधिक युक्तियुक्त और प्रमाणसंगत प्रतीत होता है। चैत्य की मूल उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति भी इसी अर्थ को प्रमाणित कर रही है, परन्तु हमारे विद्वान् मित्र को तो चैत्य शब्द के मूल इतिहास की शोध करते करते उसका मूल केवल चिता में ही दिखाई-दिया। इसी लिये उन्होंने चैत्य के मूलभूत “चित्य” का एकमात्र “चिता” अर्थ समझ कर उससे निष्पन्न होने वाले चैत्य को आरम्भ से अन्त तक चिता के साथ पूर्ण रूप से सम्बद्ध करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया। उनके विचार में चैत्य के प्रत्येक अर्थ के साथ चिता का सम्बन्ध अनिवार्य है। चैत्य के नाम से व्यवहृत होने-वाले जिस पवित्र यज्ञ और अश्वत्थादि प्रधान वृक्षों का चिता से दूर का भी कोई वास्ता नहीं है,

उनके साथ भी चिता (१) को जबरदस्ती लाकर बिठा देना क्या एक प्रकार की शास्त्र बाह्य उच्छृंखल प्रवृत्ति नहीं है ? इसी प्रकार जैन आगमों में उल्लेख किये गये जिनचैत्य या अरिहंतचैत्य के “जिन-बिम्ब या अरिहंत-प्रतिमा” इस आगमसम्मत वास्तविक अर्थ (जो कि आचार्य हरिभद्र, अभयदेव सूरि और मलयगिरि स्वामी प्रभृति संभावित विद्वान् आचार्यों द्वारा समर्थित है) का अनादर करके उसे कल्पित एवं आगम बाह्य बतला कर उसके स्थान में जिनचैत्य का जिन की चिता पर चिना हुआ स्मारक-चिन्ह, और अरिहंत चैत्य का अरिहंतों की चिता पर चिना हुआ स्मारक-चिन्ह अर्थ करने का साहस तो शायद आपके सिवाय और किसी जैन विद्वान् ने नहीं किया ।

जहाँ तक हम समझ पाये हैं आपके विचारानुसार वह चैत्य का अर्थ ही नहीं जिसमें कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में चिता का सम्बन्ध उपस्थित न हो । परन्तु आपकी यह धारणा गलत-भ्रमपूर्ण है । इस में आपकी मानी हुई एकमात्र व्युत्पत्ति के अतिरिक्त और कोई ठोस प्रमाण नहीं । हम आगे चलकर बतलायेंगे कि संस्कृत साहित्य में चैत्य शब्द का ऐसे अर्थों में भी व्यवहार हुआ है कि जहाँ चिता के सम्बन्ध की आंशिक कल्पना को भी कोई स्थान नहीं है । इस लिये आप की “चिता के स्थान पर बनाया गया स्मारक ही चैत्य का मुख्य

(१) इसके लिए देखो आपका निम्नलिखित उल्लेख—

(क)—चैत्य शब्द का प्रारम्भिक अर्थ चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह था ।.....जब उसके ऊपर (चिता के ऊपर) किसी वृक्ष को रोपित किया जाता, उस वक्त चैत्य का अर्थ वृक्ष-चैत्य वृक्ष हुआ, जब उस स्मारक चिन्ह के पास यज्ञादि पवित्र क्रियायें की जाती थीं उस समय चैत्य का अर्थ यज्ञ स्थान भी हुआ । पृ० १६२ ।

(ख)—(३) चिता पर का पीपल या तुलसी आदि का पवित्र वृक्ष ।
(४) चिता पर चिने हुए स्मारक के पास का यज्ञस्थान वा होमकुण्ड । (पृ० १६४) ।

और सर्वप्राचीन अर्थ है” इस कल्पना में कुछ वज्रन प्रतीत नहीं होता । आगे चल कर हमारे विद्वान् मित्र ने अपनी इस पूर्वोक्त मान्यता को पुष्ट करने के लिये—“इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजियन् एण्ड एथिक्स” नाम के एक अंग्रेजी कोश का प्रमाण उपस्थित किया है । मालूम होता है कि चैत्य शब्दार्थ पर आपने जो कुछ ऊहापोह किया है वह सब इसी के आधार पर किया है । कारण कि इसमें जो कुछ लिखा है उसका आप ने अपने शब्दों में अनुवाद मात्र कर दिया है, फर्क सिर्फ इतना ही है कि इसमें केवल “चिता” शब्द का उल्लेख किया और आपने उसके साथ “चिति”, “चित्य” और “चित्या” ये तीन और जोड़ दिये हैं । इसके अतिरिक्त दोनों उल्लेखों में और कोई फर्क दिखाई नहीं देता । सो इसके विषय में तो हमारा वही उत्तर है कि जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं । केवल एक बात इसकी बाकी रह जाती है जिस पर कुछ प्रकाश डालना हम आवश्यक समझते हैं । इसमें लिखा है कि “इस शब्द का सब से पुराना अर्थ भारतीय साहित्य में—चाहे वह साहित्य वैदिक हो, बौद्ध हो या जैन हो यही किया हुआ देख पड़ता है” इत्यादि । परन्तु इस विषय में भारतीय साहित्य का जहाँ तक हमने पर्यालोचन किया है, वहाँ तक हमें तो उसमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिला कि जिसमें यह वर्णन किया गया हो कि चैत्य का सब से पुराना अर्थ मृतक मनुष्य की राख पर चिना हुआ स्तूप या उस पर रोपित किया हुआ वृक्ष है । बल्कि इसके विपरीत भारतीय साहित्य में ऐसे उदाहरण तो अनेक उपलब्ध होते हैं कि जिनमें चैत्य का व्यवहार इस पुराने अर्थ से किसी प्रकार का सरोकार-सम्बन्ध नहीं रखता । इसके सिवाय यह तो हमें भी स्वीकार है कि अन्य अर्थों के समान चैत्य का “चिता-चिन्ह” अर्थ भी कोशों में उल्लिखित है परन्तु चैत्य का सब से पुराना और प्रधान अर्थ यही है, इस मान्यता

के लिये हमारे पास कोई बलिष्ठ प्रमाण नहीं है। इस विषय में जब तक कोई पुरातन शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलता, तब तक इस अर्थ को हमें न तो अधिक प्राचीन ही मानने को तैयार हैं और ना ही चैत्य के अन्य अर्थों की अपेक्षा इसे अधिक महत्व दे सकते हैं। हमारे ख्याल में चैत्य के इस अर्थ (चिता पर बने हुए स्मारक) को प्राचीन भारतीय साहित्य में अब्बल तो कोई स्थान ही नहीं मिला और यदि मिला भी होगा तो बहुत ही कम—नहीं के बराबर, इस पर भी यदि उक्त विश्वकोश के लेखक महोदय भारतीय साहित्य का नाम लेकर उसकी प्रधानता और प्राचीनता का बड़ी प्रौढता से समर्थन करें तो हमारी सम्मति में वे अवश्य ही दया के पात्र हैं। मालूम होता है कि हमारे विद्वान् मित्र ने विश्वकोश के इस उल्लेख को अपने इस निबन्ध में स्थान देने से पहले उसकी प्रामाणिकता की जाँच पड़ताल करने का कष्ट नहीं उठाया, अन्यथा वे इतने दुर्बल आधार पर अपने विचारों की भित्ति का कभी निर्माण नहीं करते। ऊपर चैत्य शब्द की ऐतिहासिक चर्चा में हम यह अच्छी तरह से प्रमाणित कर चुके हैं कि चैत्य का मूलस्रोत चिता नहीं, किन्तु वेदविहित श्रौत और स्मार्त यज्ञों में विशिष्ट स्थान प्राप्त करने वाला चयन विशेष है। इस दृष्टि से चैत्य का प्रधान यौगिक और प्राचीन अर्थ यज्ञ-स्थान ही सिद्ध होता है, और इस अर्थ में उसका व्यवहार कितना प्राचीन है इसका निर्णय भी प्रथम उल्लेख किये गये वैदिक प्रमाणों से पाठक भली भाँति कर सकते हैं। इसके अलावा मन्दिर, मूर्ति, प्रधान वृक्ष, प्रासाद, श्वित्ता-चिन्ह या समाधि-स्थान आदि जितने भी अर्थों में चैत्य शब्द का व्यवहार होता है उन सब के स्वरूप का यदि कुछ गम्भीरता से पर्यालोचन किया जाय तो उनमें चयन का प्राधान्य स्पष्ट दिखाई देता है। हमारे विचार से तो चैत्य के सभी अर्थ चयन से ही अनु-

प्राणित हैं । उसका प्रत्येक अर्थ इसके चयन के आभास से आभासित हो रहा है, ऐसी दशा में इनको बलात् चिता की अग्नि में झोंकने का प्रयत्न करना, कहाँ तक न्यायोचित है इसका निर्णय हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं ।

(वैदिक साहित्य में चैत्य का व्यवहार)

अब हम वैदिक साहित्य में चैत्य शब्द का जिन २ अर्थों में व्यवहार हुआ है उसका उल्लेख करते हैं । वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में चैत्य शब्द का उल्लेख देखने में नहीं आया, केवल कण्वशाखीय शतपथ में एक पाठान्तर में उसका उल्लेख देखने में आया है । इसके अतिरिक्त आश्विलायनगृह्यसूत्र, कौटिल्य-अर्थशास्त्र, वाल्मीकीय-रामायण, महाभारत और वृद्धहारीतस्मृति आदि ग्रन्थों में चैत्य शब्द के पर्याप्त उल्लेख हैं, परन्तु इनमें चैत्य शब्द का प्रायः यज्ञ-स्थान, देवस्थान, देवमूर्ति, प्रधान वृक्ष और पाषाणबन्ध आदि अर्थों में ही उसका व्यवहार हुआ है । कहीं पर चितास्थान या उस पर के चिन्ह विशेष अर्थ में भी उसका व्यवहार होगा, (इसके लिये हम नां नहीं करते) मगर ऐसे अर्थ का व्यवहार हमारे देखने में इन ग्रन्थों में नहीं आया ।

(१) आश्विलायनगृह्यसूत्र—

आश्विलायनगृह्यसूत्र में यज्ञमंडप और देवमूर्ति के अर्थ में चैत्य शब्द प्रयुक्त हुआ देखा जाता है । इनमें यज्ञपरक चैत्य शब्द का उल्लेख तो ऊपर आ चुका है और मूर्ति तथा मंदिर-विषयक उल्लेख नीचे दिया जाता है—

“चैत्ययज्ञे प्राक्स्विष्टकृतश्चैत्याय बलिं हरेत्,, (अ० १ ख० १२ सू० १) ।

नारायणीवृत्ति—चैत्ये भवश्चैत्यः यदि कश्चिद्देवतायै प्रति-
 शृणोति । शंकरः पशुपतिः आर्या ज्येष्ठा इत्येवमादयो यद्यात्मनः
 अभिप्रेतं वस्तु लब्धं ततस्त्वामहमाज्येन स्थालीपाकेन पशुना वा
 यक्ष्यामीति । ततो लब्धे वस्तुनि तस्य तेन यागं कुर्यात् स चैत्ययज्ञः ।
 तत्र स्विष्टकृतः प्रक् चैत्याय बलिं हरेत् नमस्कारान्तेन नामधेयेन ।
 पुनश्चैत्यग्रहणं प्रत्यक्षहरणार्थं तेन चैत्यायतन एव उपलेपनादिकं
 कुर्यात् ।

इसका अभिप्राय यह है कि अगर कोई व्यक्ति चैत्य-मंदिर में
 विद्यमान शंकर, पशुपति, आर्या और ज्येष्ठादि देवों की मूर्ति के
 सामने यह प्रतिज्ञा करे कि यदि मेरा अभीष्ट सिद्ध हो जाय तो मैं
 आज्य और स्थालीपाक आदि से आपका यजन-पूजन करूंगा । इस
 प्रतिज्ञा के अनन्तर अगर उसका कार्य सिद्ध हो जाय तो वह आज्यादि
 से उसका—देवता का यजन करे, इसका नाम चैत्य यज्ञ है । वहाँ
 स्विष्टकृत होम से पूर्व ही चैत्य को बलि देवे । यह बलि नमस्कार-
 पूर्वक देवता का नाम उच्चारण कर के देनी चाहिये—(यथा—
 एष बलिः शंकराय नमः) (यहाँ पर सूत्र में जो दूसरी बार चैत्य का
 ग्रहण किया है उसका तात्पर्य यह है कि बलि पूजादि देवमूर्ति के
 सन्मुख ही होनी चाहिये, इस लिये चैत्यायतन—देवमन्दिर में ही
 उपलेपनादि आवश्यक क्रियाओं का अनुष्ठान करना चाहिये । यहाँ
 पर चैत्य यज्ञ का अर्थ है चैत्य में स्थित देवता—देवमूर्ति का यज्ञ । इसके
 सिवाय इस सूत्र की जो व्याख्या आचार्य हरिदत्त ने की है वह इससे
 (नारायणीय व्याख्या से) भी अधिक स्फुट है, उससे चैत्य के मन्दिर
 और मूर्ति अर्थ पर और भी विशेष प्रकाश पड़ता है (१) तथा इसके

(१) आचार्य हरिदत्त की व्याख्या का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

“इह कश्चित् केनचिदर्थेनार्थी या एताः प्रतिजनपदं वायतनेषु देवताः

आगे इसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले दो सूत्र और हैं उनसे यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है —

यद्युवै विदेशस्थम् । (१-१०) “पलाशदूतेन” । (१-११)

(क) हरिदत्ताचार्य—यजेतेति शेषः । उ व इति निपातौ वाक्यालंकारे । विप्रकृष्टो देशो विदेशः । यदि विदेशस्थं, चैत्यं यदा चोलेषु स्थितः सोमनाथं तदा प्रत्यक्षहरणायोगात् किं कर्तव्यमित्याह—“पलाश-दूतेन” हारयेदिति शेषः । पलाशवृक्षेण दूतं कारयित्वा तेन हारयेत् ॥

(ख) नारायणीवृत्तिः—यदि विदेशस्थं चैत्यं यजेत् तदा पलाश-दूतेन बलिं हरेत् ।

इसका भावार्थ यह है कि चोलदेश के किसी पुरुष ने सोमनाथ के मंदिर में स्वकीय अभीष्ट की सिद्धि के लिये प्रतिज्ञा की हो और उसकी पूर्ति होने के समय वह चोल में स्थित हो तो उस समय वह क्या करे ? क्योंकि उस समय सोमनाथ उसके समक्ष नहीं है जिस से उसका वह आज्यादि के द्वारा यजन कर सके, ऐसी अवस्था में वह याजक पलाश वृक्ष का एक दूत बना कर उसके द्वारा बलिपूजनादि कार्य का सम्पादन करे ।

आश्विलायन का यह चैत्य सम्बन्धि उल्लेख उसके—चैत्य के अर्थ प्रत्यय के लिये इतना स्पष्ट और असंदिग्ध है कि उससे चैत्य के देवमन्दिर या देवमूर्ति अर्थ में किसी प्रकार के भी सन्देह

पूज्यन्ते, तासां मध्ये यां च भजते यां च परं मन्यते तस्यै प्रतिश्रुणोति पशुना स्थाली-पाकेनाज्येन वा यच्चान्यदेवं युक्तं तेन त्वा यक्ष इति । सति तस्मिन्मन्त्रे सिद्धे तां देवतां तेन हविषा यजते तस्मिन् विषये इदमुच्यते । चैत्यम् आयतनं इह तात्स्थ्यात् ताच्छब्दं चैत्यस्थस्य देवतस्य यज्ञचैत्ययज्ञः ।

१ नारायणीवृत्ति में इन दोनों को एक ही सूत्र में संकलन कर दिया है, और दोनों पृष्ठ २ मानने में पहला पूर्व पक्षरूप है और दूसरा उत्तर पक्ष रूप ।

को अवकाश नहीं रहता, और ना ही इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चिन्ता का कोई सम्बन्ध प्रतीत होता है ।

(२) कौटिल्यार्थशास्त्र—

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मंदिर और मूर्ति आदि के अर्थ में चैत्य शब्द का प्रयोग लगभग १२ दफा किया है ।

उसमें से थोड़े से वाक्य पाठकों के अवलोकनार्थ नीचे दिये जाते हैं—

(क) “आक्रोशाद्देवचैत्यानामुत्तमं दण्डमर्हति” (अधि० ३ अ० १८ पृ० ११४) ।

(ख) दैवतचैत्यं सिद्धपुण्यस्थानमोपपादिकं वा रात्राबुत्थाप्य यात्रासमाजाभ्यममजीवेत् । (अधि० ५ अध्या० २ पृ० १४३) ।

(ग) “पर्वसु च वितदि छत्रोल्लापिका हस्तपताकाञ्छागोपहारैश्चैत्यपूजाः कारयेत्” (अधि० ४ अ० ३ पृ० १२३) ।

(घ) चैत्यदैवतद्वाररक्षा-स्थानेषु च सत्रिणः समयकर्मनिक्षेपं हिरण्याभिज्ञानमुद्राणि हिरण्यभाजनानि प्ररूपयेयुः (११। १ पृ० २३२) (चैत्यदैवतेत्यादि—“चैत्यदैवतानि चंडिकाद्यग्रदेवता”—इति टीकाकारो माधवयज्वा) ।

(च) “एवं गृहीतदुर्गो वा प्राश्यप्राशं चैत्यमुपस्थाप्य दैवतप्रतिमाछिद्रं प्रविश्यासीत्” (अधि० १२ अ० ५ पृष्ठ २४१) ।

(छ) “सुरंगामुखेनाग्निचैत्यदैवतप्रतिमाछिद्रानुप्रविष्टैरग्निचैत्यदैवतव्यंजनैः संभाषणे पूजनं च” (अधि० १३ अ० १ पृ० १७१) ।

१ कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रचनाकाल ईस्वी सन् पूर्व चौथी शताब्दी सुनिश्चित है । प्रायः सभी भारतीय विद्वानों का यही मत है कि मौर्य चन्द्रगुप्त को राजसिंहासन पर बैठाने वाले उसके प्रधान मंत्री महर्षि चाणक्य ही इसके विर्माता हैं और मौर्य चन्द्रगुप्त का समय आजकल के ऐतिहासिकों ने ई० पू० ४०० वर्ष ही स्थिर किया है । अतः यह ग्रन्थ भी उन्ही समय का है ।

(ज) "नगराभ्यासे वा चैत्यमारुह्य रात्रौ तीक्ष्णाः (अ० १३ पृ० २४४)

(झ) "चैत्यदेवतप्रतिमां वा तेजनतैलेनाभ्यषटलच्छन्नेनाग्निना वा) रात्रौ प्रज्वालय तथैव ब्रूयः" (अ० १३ अ० २ पृ० २४५) इत्यादि ।

इन सब का संक्षिप्त भावार्थ इस प्रकार है—

- (क) देवचैत्यों-देवमन्दिरों की निन्दा करने वालों को उत्तमदंड देना चाहिये (१)
- (ख) किसी एक ही रात्रि में देवतचैत्य--देवमन्दिर, सिद्धों के रहने का स्थान या घाट तैयार कर दे इत्यादि ।
- (ग) पर्व के दिनों में छत्र ध्वज पताका आदि उपहारों से चैत्य-देव मंदिर की पूजा करे ।
- (घ) देवमंदिर के दरवाजों पर संतरी लोग सुवर्णादि के पात्रों को रखें ।
- (च) दुर्गग्रहण करने के पश्चात् भोजन करके चैत्य-मंदिर में जाये, वहाँ देवता की प्रतिमा के छिद्र में--मूर्ति के पोलाड़ में छिप कर बैठ जाये ।
- (छ) देवताओं के साथ सम्बन्ध प्रकट करने के लिये कोई पुरुष सुरंग द्वारा अग्नि-कुंड विशेष, चैत्य-मंदिर तथा मूर्ति के नीचे पहुंच कर स्वयं देवता के रूप में बोले ।

(१) इसी से मिलता जुलता उल्लेख याज्ञवल्क्यस्मृति तथा आग्नेय-पुराण में है, यथा—त्रैविद्यनृपदेवानां क्षेपः उत्तमसाहसः (२।१।१) ।

त्रैविद्याः वेदत्रयसम्पन्नास्तेषां राज्ञां देवानां च क्षेपे उत्तमसाहसो दंडः । मिताक्षरा टीका । (आग्नेयपु० १५।८।८) ।

(ज) तीक्ष्ण लोग नगर के समीपवर्ति चैत्य-मंदिर पर चढ़ें और कहें इत्यादि (१)

(झ) मंदिर में स्थित देवप्रतिमा पर अभ्रक मिला तेजन तेल मल कर उसे रात्रि में प्रज्वलित करके उसी प्रकार कहें। इत्यादि २।

कौटिल्यार्थशास्त्र के इन उल्लेखों के प्रकाश में यदि चैत्यार्थ के इतिहास का अवलोकन किया जाय तो उसका मंदिर और मूर्ति अर्थ अढाई हजार वर्ष से कम प्राचीन तो नहीं, अधिक भले ही हो। तथा आश्विलायनगृह्यसूत्र और कौटिल्यार्थशास्त्र के इन उल्लेखों के विद्यमान रहते हुए, हमें यह कहने में अंश मात्र भी संकोच नहीं कि एकमात्र यज्ञस्थान को छोड़ कर मन्दिर और मूर्ति जितनी प्राचीनता चैत्य के अन्य किसी भी अर्थ को उपलब्ध नहीं हुई।

(३) रामायण—

वाल्मीकीय रामायण में चैत्य शब्द का यज्ञस्थान, देवालय, प्रासाद और प्रधान वृक्ष के अर्थ में व्यवहार किया देखा जाता है।

“कच्चिच्चैत्यशतैर्युष्टः” (२) इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ चैत्य शब्द यज्ञ स्थान का बोधक है। देवालय के अर्थ में चैत्य शब्द की नियुक्ति निम्नलिखित श्लोकों से प्रतीत होती है।

(१) यदा तु स हि संग्राममुपयास्यति रावणिः ।

चैत्यं निकुंभिला नाम, तत्र गत्वा प्रतिष्ठते ॥ यु० कां० ६२।१३।

(१) उक्त अर्थ शास्त्र का एक निम्नलिखित श्लोक भी द्रष्टव्य है—
सीमवृक्षेषु चैत्येषु, द्विमेष्वालक्षितेषु च ।

त एव द्विगुणा दंडाः कार्या राजवनेषु च ॥ आष० ३ पृ० ७३ ।

भावार्थ—मंदिर, सीमावृक्ष, राजवन तथा संरक्षित स्थान के पेड़ों को नष्ट करने पर दुगुना दंड दिया जाय।

(२) अयो० कां० १००।४३ चैत्यशतैः—अश्वमेधान्तयायानेकवचनप्रदेशः (टीका) ।

- (२) तदा सम्प्रेक्ष्य हनुमतं ब्रजन्तं यत्र राक्षसः ।
 स होतुकामो दुष्टात्मा, गतश्चैत्यं निकुभिलाम् ॥ यु० कां० ८२।२४।
 (३) चैत्यं निकुभिलामहं प्राप्य होमं करिष्यति । यु० कां० ८४।१४।
 (४) निकुभिलामभिययौ, चैत्यं रावणिपालितम् ॥ यु० कां० ८४।२९।

इन श्लोकों में उल्लिखित निकुभिला चैत्य का अर्थ टीकाकार महोदय ने, निकुभिला नाम का देवालय किया है और साथ में वट वृक्ष का भी निर्देश किया है (१) इससे उसके देवालय और प्रधान वृक्ष ये दोनों अर्थ प्रतीत होते हैं । और शब्द स्तोम महानिधि कोश (२) में इसका-निकुभिला चैत्य का लंका के पश्चिम भाग में स्थित गुफा और उसमें स्थित-प्रतिष्ठित देवी की मूर्ति अर्थ किया है । तथा सीता के अन्वेषणार्थ लंका में गये हुए हनुमान् वहाँ के सारे भूमिगृह—तहखाने, चैत्यगृह-देवालय और गृहातिगृह—अट्टारियों को फिर से खोजने के लिये तैयार हुए (३) । यहाँ प्रयुक्त हुए चैत्यगृह का भी टीकाकारों ने देवालय ही अर्थ किया है ।

इसके अलावा निम्नलिखित श्लोकों में भी चैत्य शब्द का उल्लेख किया है—

- “ततः स किंकिरान् हत्वा हनुमान् ध्यानमास्थितः ।
 वनं भग्नं मया चैत्यं प्रासादो न विनाशितः” ॥ १ ॥
 “चैत्यप्रासादमुत्प्लुत्य, मेरुशृङ्गमिवोन्नतम्” ॥ ३ ॥

(१) निकुभिलां चैत्यं—तदास्यदेवालयं, वटवृक्षं वा ।

(२) निकुभिला—स्त्री लंकायाः पश्चिमभागस्थायां गुहायां तत्स्थायां देव्यां च ।

(३) इति संचिन्त्य भूयोपि विचेतुमुपचक्रमे ।

भूमिगृहाश्चैत्यगृहान् गृहातिगृहकानपि ॥ सु० का० १२।१५। यहाँ चैत्यगृह का अर्थ स्वर्गीय पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने “देवालय” कहा है ।

(देखो उनकी रामायण की भाषा व्याख्या)

“संप्रधृष्यतु दुर्धर्षश्चैत्रप्रासादमुत्तमम् ।

पेतुर्विहंगमास्तत्र, चैत्रपालाश्च मोहिताः” ॥ ७ ॥

“एवमुक्त्वा महाकायश्चैत्रस्थो हरियूथपः” ॥ १२ ॥

(सु० कां० सर्ग ४३) ।

रावण के अनुचरों को मार कर हनुमान् सोचते हैं कि मैंने बन को तो नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है परन्तु बनगत चैत्र-प्रासाद का नाश नहीं किया । अतः इस को भी अब नष्ट करता हूँ, ऐसा विचार करने के अनन्तर वे कूदे और मेरु-पर्वत के शृंग की तरह ऊंचे उस चैत्र प्रासाद पर चढ़ गये और उसको भी नष्ट-भ्रष्ट कर डाला इत्यादि । यह इन श्लोकों का संक्षिप्त भावार्थ है ।

इन श्लोकों में प्रयुक्त हुए चैत्र प्रासाद का अर्थ टीकाकार ने राक्षसों के कुल देवता का मन्दिर किया है—(चैत्रप्रासादो रक्षः-कुलदेवताप्रासादः) जो कि उचित ही है, और यदि इसका केवल—विशिष्ट चयन युक्त-प्रासाद (मकान) अर्थ भी किया जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं । और निम्नलिखित श्लोकों में तो यह चैत्र शब्द प्रासाद के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है—

घनैरिवातपापाम्बे, मध्यमं वैष्णवं पदम् (१) ।

यस्य स्तम्भसहस्रेण प्रासादः समलंकृतः ॥२३॥

कलाशशिखराकारो दृश्यते स्वमिवोल्लिखन् ।

चैत्र्यः स राक्षसेन्द्रस्य, बभूव पुरभूषणम् ॥यु० कां० ३९।२४।

यहाँ पर प्रासाद अर्थ में प्रयुक्त हुए चैत्र शब्द का टीकाकार बड़ा सुन्दर समन्वय करते हैं । यथा—“चैत्र्यं वर्तुलाकारत्वात् बुद्धाय-तनमिव प्रासादम्” अर्थात् बुद्ध के आयतन की तरह गोल आकार वाला होने से इसको चैत्र प्रासाद का नाम दिया गया है । मालूम

(१) आकाशं वैष्णवं पदम् ।

होता है कि टीकाकार के समय में चैत्य शब्द प्रधानतया बौद्ध मन्दिर में व्यवहृत होने लग पड़ा था, परन्तु हमारे विचार से तो यहाँ चैत्य का अर्थ विशिष्ट चयन-रचना विशेष युक्त करना ही अधिक युक्त-युक्त है। तथा प्रधान वृक्ष के अर्थ में चैत्य शब्द का प्रयोग निम्नलिखित श्लोकों में देखा जाता है—

“देवायतनचैत्येषु सान्नाभक्ष्याः सदक्षिणाः” (अयो० कां० ३।१८)

इस श्लोक में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का टीकाकार ने “रथ्या वृक्ष” अर्थ किया है। (चैत्याः—रथ्यावृक्षाः)। इसका अर्थ है ग्रामान्तर्वर्तिमार्ग के प्रधान—अश्वत्यादि वृक्ष। इस प्रकार यज्ञस्थान, देवालय, प्रासाद और प्रधान वृक्ष इन चारों अर्थों में चैत्य शब्द का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध होता है।

मेघदूत का ग्राम चैत्य—

यहाँ पर हम प्रसंगोपात्त एक और बात की ओर भी विचारकों का ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं। हमारे विद्वान् मित्र ने “चैत्य-वृक्ष” का चितास्थान पर रोपित किया गया वृक्ष अर्थ करके, आगे इस प्रकार लिखा है—(“चिता पर का पीपल या तुलसी आदि का पवित्र वृक्ष”)—देखो मेघदूत पूर्व मेघ श्लो० २३ (पृ० १६।४)।

परन्तु मेघदूत का ध्यानपूर्वक अवलोकन करने से आपका उक्त कथन सत्य प्रतीत नहीं होता। मेघदूत में ग्रामचैत्य शब्द का उल्लेख है उसका सरल और स्पष्ट अर्थ ग्राम के प्रधान-पूज्य अश्व-त्यादि वृक्ष होता है। मेघदूत के प्रधान टीकाकार मल्लिनाथ और एक दूसरे व्याख्याकार विद्वान् ने भी यहाँ पर प्रयुक्त हुए चैत्य का प्रधान वृक्ष या पूज्य वृक्ष ही अर्थ किया है मेघदूत का वह

श्लोकांश और उसकी दोनों टीकाओं का पाठ नीच नोट में उद्धृत कर दिया गया है (१)।

चैत्य शब्द के इन दोनों (स्थ्यावृक्ष-प्रधानवृक्ष और पूज्य-वृक्ष) अर्थों में न तो चिता को कोई स्थान ही प्राप्त है और न उसकी कोई आवश्यकता ही दिखाई देती है, इसके अलावा मेघदूत के किसी टीकाकार ने भी इसका उल्लेख नहीं किया और ना ही इस बात की संभावना की जा सकती है कि चैत्य के नाम से अभिहित किये जाने वाले अश्वत्थादि प्रधान एवं पवित्र वृक्षों को इस लिए चैत्य कहने में आता है कि वे चिता स्थान पर रोपित किये जाते हैं। इसके सिवाय कहीं पर ऐसा उल्लेख भी देखने में नहीं आया कि जो अश्वत्थादि वृक्ष चिता पर रोपित नहीं किये गये उन्हें चैत्य के नाम से सम्बोधित भी नहीं किया जा सकता। हमारे मित्र, मेघदूत के एक श्लोक में उल्लेख किये ग्राम चैत्य पद से “चितास्थान पर का पीपल या तुलसी आदि का पवित्र वृक्ष” यह अर्थ किस आधार से निकाल रहे हैं, इसको तो हम यत्न करने पर भी नहीं समझ सके। क्या चितास्थान पर रोपित किये गये वृक्ष को ही चैत्य या चैत्यवृक्ष कहना चाहिये, ऐसा किसी प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थ में स्पष्ट उल्लेख है? मल्लिनाथ तथा दूसरे अर्वाचीन टीकाकारों ने तो विश्वकोश के आधार पर श्लोक-

(१) नीडारम्भगृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ॥

मल्लिनाथ—तथा गृहबलिभुजां काकादिग्रामपक्षिणां नीडारम्भः कुलाय-निर्माणः। चित्याया इमानि चैत्यानि रथ्या वृक्षाः। “चैत्यमायतने बुद्धमन्ये चोद्देशपादये” इति विश्वः। आकुलानि संकीर्णानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु ते तथोक्ताः—(आकुलग्रामचैत्याः)।

अन्य टीकाकार—आकुलग्रामचैत्याः—त्रिसंस्थुलाः ग्रामाणां चैत्याः—पूज्य-पादयाः येषु ते तथाविधाः।

गत चैत्य शब्द का प्रधान या पूज्य वृक्ष अर्थ किया है, और वह अर्थ ।
यहाँ पर संघटित भी होता है । उसमें चिता संपर्क की कोई सम्भावना
भी नहीं, फिर यह समझ में नहीं आता कि मेघदूत के ग्राम चैत्य से
चिता पर के पीपल का कैसे समर्थन हुआ ? जहाँ तक हम जानते हैं
प्रत्येक कोश में वृक्ष अर्थ में केवल चैत्य शब्द का—ग्रामादि प्रसिद्ध
महावृक्ष अर्थ किया है—(चैत्य न०—ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे)
और “चैत्य वृक्ष का” अश्वत्थादि प्रसिद्ध वृक्ष अर्थ किया है । (चैत्य-
वृक्ष० पु० अश्वत्थादिप्रसिद्ध वृक्ष) इसके अलावा त्रिकांड शेष
कोष में तो पीपल वृक्षका ही दूसरा नाम चैत्य वृक्ष—(चैत्यद्रु^१)
दिया है । तथा मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने भी
चैत्यद्रुम का ग्रामादि समीपवर्ती प्रधान वृक्ष ही अर्थ किया है ।
(ग्रामादिसमीपे ख्यातवृक्षश्चैत्यद्रुमः—१०।५०) अतः मेघदूत
के ग्रामचैत्यों—ग्रामान्तर्वर्ति प्रधान वृक्षों को श्मशानवर्ति पीपल
से कोई लगाव नहीं हो सकता, इसी तरह चैत्य या चैत्य वृक्ष का
चिता स्थान पर रोपित किया हुआ पीपल आदि पवित्र वृक्ष अर्थ
आपके माने हुए संसार-प्रसिद्ध इंग्लिश विश्वकोष (इन्साइक्लो-
पीडिया) और आप के सिवा और किसी प्राचीन भारतीय विद्वान्
ने किया हो ऐसा हमें संभव नहीं लगता । यहाँ पर वृक्ष वाचक चैत्य
शब्द का प्रसंग उपस्थित होने से यह बात हम ने यहाँ कही है, अन्यथा
इसकी चर्चा का स्थान तो आगे था । अस्तु, अब हम फिर उसी विषय
की ओर अपने पाठकों का ध्यान खींचने का यत्न करते हैं—

(१) पिप्पलो वादरंगः स्यात्, चैत्यद्रुः केशवालयः ।

अर्थात् पिप्पल, वादरंग, चैत्यद्रु चैत्यवृक्ष और केशवालय के चार नाम
पीपल वृक्ष के हैं ।

(४) महाभारत—

महाभारत के सभापर्व में लिखा है कि प्रजापति ने मैनाक पर्वत पर बिन्दुसरोवर के पास सौ यज्ञ किये, वहाँ पर शोभा के लिये अनेक मणिमय यूप और सुवर्णमय चैत्यों का निर्माण किया गया था—

“शोभार्थं विहितास्तत्र नतु दृष्टान्ततः कृताः ।

यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्पापि हिरण्मयाः ॥३-१२ ॥

इस श्लोक में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का यज्ञ वेदिकाओं अथवा सामान्य भवनों के सिवा और कोई भी अर्थ सम्भव नहीं हो सकता । इसमें विचारणीय बात सिर्फ इतनी ही है कि क्या आपका कल्पना किया हुआ चैत्य का प्रधान अर्थ—(चिता पर बनाया गया स्मारक) यहाँ पर लागू हो सकता है ? क्या ये स्वर्णमय चैत्य वेदिकायें या प्रासाद विशेष भी किसी चितास्थान पर ही निर्मित हुए होंगे ? इसके लिये कोई ठोस प्रमाण भी अपेक्षित है । अतः हमारे विचार से तो यहाँ चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ “चयन सम्बन्ध” के बिना और किसी का भी सम्पर्क नहीं है । इसके अतिरिक्त—“चैत्ययूपांकिताभूमिर्यस्येयं सबनाकरा” (१।२२९) इसमें उल्लेख किये यज्ञस्थान पर एक चैत्य के विषय में तो हम ऊपर लिख ही चुक हैं । तथा मंदिर के विषय में चैत्य शब्द का व्यवहार शांतिपर्व अ० १९३ के एक निम्नलिखित श्लोक में उपलब्ध होता है—

“शुचिदेशमनङ्गवानं, देवगोष्ठं चतुष्पथम् ।

ब्राह्मणं धार्मिकं चैत्यं, नित्यं कुर्यात् प्रदक्षिणम् ॥”

इस श्लोक की टीका में आचार्य नीलकण्ठ-शुचिदेश का अर्थ यज्ञशाला और चैत्य का अर्थ देवमंदिर करते हैं—(शुचिदेश—यज्ञा-दिशालं, चैत्यम्, देवायतनम्) इससे, प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त

हुए चैत्य शब्द का देवालय या देवमंदिर अर्थ निर्विवाद सिद्ध है । जहाँ तक हम समझते हैं महाभारत का यह चैत्य भी चिता से बिल्कुल भिन्न है ।

(५) वृद्धहारीतस्मृति—

वृद्धहारीत के राजधर्मप्रकरण (अ० ७) में चैत्य-विषयक निम्नलिखित दो श्लोक उपलब्ध होते हैं—

“बिम्बानि स्थापयेद् विष्णोर्ग्रामेषु नगरेषु च ।

चैत्यान्यायतनान्यस्य रम्याण्येव तु कारयेत् ॥२१४॥

इतरेषां सुराणां च, वैदिकानां जनेश्वरः ।

धर्मतः कारयेच्छ्वच्चैत्यान्यायतनानि तु ॥ २१५ ॥” (१)

इन श्लोकों का चैत्य अपने स्वभावसिद्ध देवालय अर्थ के बोधनार्थ किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता ।

हम ने अपने सभ्य पाठकों के समक्ष वैदिक साहित्य के चैत्य-विषयक प्राचीन उल्लेखों को उपस्थित कर दिया है । इनका ध्यान-पूर्वक अवलोकन करने से पाठक इस बात का निर्णय बड़ी आसानी-सुगमता से कर सकते हैं कि प्राचीन वैदिक साहित्य में चैत्य शब्द का मुख्य व्यवहार किस अर्थ में किया गया है । तात्पर्य कि यदि वैदिक-ग्रंथों के आधार पर चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ का निर्णय करना अभीष्ट हो तो उसके लिए अर्थात् चैत्य के प्रधानार्थ निर्णय के लिये ऊपर दिये गये वैदिक साहित्य के उद्धरण काफी हैं । इन पर से चैत्य के प्रधान अर्थ का निर्णय बखूबी हो सकता है । हमारा तो इस सम्बन्ध में केवल

(१) धर्मात्मा राजा ग्रामों और नगरों में विष्णु भगवान् के बिम्बों-मूर्तियों की स्थापना करावे और उनके रमणीक चैत्यायतन-चैत्यालय बनवावे । इसी प्रकार बाकी के वैदिक देवताओं के लिये भी (धर्मभावना से युक्त होकर) चैत्यालय तैयार करावे ।

इतना ही वक्तव्य है कि जब तक इनसे कोई अधिक प्राचीन प्रमाण (जो कि चैत्य का चिता स्थान पर बनाया गया स्मारक, या चिता स्थान पर रोपित किया गया वृक्ष इस प्रधान अर्थ का समर्थन करता हो) उपलब्ध न हो तब तक ("इस शब्द का—चैत्य शब्द का सब से पुराना अर्थ भारतीय साहित्य में, चाहे वह साहित्य वैदिक हो, बौद्ध हो या जैन हो यही किया गया देख पड़ता है") इंग्लिश विश्वकोष का यह कथन किसी प्रकार से भी स्वीकार करने के योग्य नहीं है। और अतएव एक मात्र इसी दुर्बल आधार पर की गई चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ की कल्पना को प्रधान पद देना भी हमारे मित्र का साहस मात्र है।

बौद्ध-साहित्य

हमारे विद्वान् बन्धु ने इंग्लिश विश्वकोष के आधार पर चैत्य शब्द के जिस प्रधान अर्थ की कल्पनाभित्ति का निर्माण किया है वह अपने स्वरूप में कितना मजबूत अर्थात् ठोस है, इसका पता तो ऊपर उद्धृत किय गये वैदिक प्रमाणों ने दे दिया, अब बौद्ध-साहित्य के कतिपय प्रमाणों से भी उसके अन्दर के पोल का पाठक अन्दाजा लगायें ?

(१) ललितविस्तरा—'

बौद्ध साहित्य में ललितविस्तरा का वही स्थान है जो जैन सम्प्रदाय में मूल आगमों का। उसमें चैत्यविषयक अनेक उल्लेख

(१) डा० हर्मन जैकोबि की मान्यता के अनुसार ललितविस्तरा का समय ईस्वी सन् पूर्व पहली शताब्दी से अर्वाचीन नहीं। उनके कथनानुसार ललित-विस्तरा का चीनी भाषा में अनुवाद ई० सन् ६५ में हुआ। (देखो श्री आत्मानन्द ज० श० स्मार्त ग्रंथ गुज० वि० पृ० ११८ में श्री शांतिलाल छगन-लाल उपाध्याय एम० ए० का 'पउम चरिय' विषयक अभिलेख)।

हैं, उनसे चैत्य की पूज्यता प्रमाणित होने के अतिरिक्त उसका—चैत्य का चिता स्थान से अतिरिक्त स्थान में निर्माण किया जाना बनाया जाना भी स्पष्ट सिद्ध होता है। प्रव्रज्या के लिये कंठक नामक घोड़े पर सवार होकर और छन्दक को साथ लेकर घर से निकलने के बाद बोधिसत्त्व एक उद्यान में पहुँचते हैं, वहाँ वे अपने सारे आभूषणों को उतार कर उन्हें छन्दक को सौंप देते हैं और कहते हैं “हे छन्दक ! तुम इन आभरणों—आभूषणों और कंठक को लेकर वापिस लौट जाओ” (“गच्छ त्वं छन्दक ! इमान्याभरणानि कण्ठकं च गृहीत्वा निवर्तयस्व” पृ० २७७) तब बोधिसत्त्व की आज्ञा से छन्दक तो वापिस चला गया, परन्तु जिस स्थान से वह गया वहाँ पर एक चैत्य की स्थापना की गई और वह चैत्य आज भी छन्दक निवर्तन के नाम से विख्यात है।

(“यत्र देशे छन्दको निवृत्तस्तत्र चैत्यं स्थापितमभूत् । अद्यापि तच्चैत्यं छन्दकनिवर्तनमिति ज्ञायते” (पृ० २७७) ।

इसके बाद बोधिसत्त्व के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि शिखा (चोटी) और प्रव्रज्या (संन्यास) यह दोनों एक साथ कैसे रह सकती हैं ? तब उन्होंने शिखा को खड्ग से काट कर ऊपर आकाश में फेंक दिया, और देवता उसे पूजार्थ लेकर चल दिये। आज भी देव अपने यहाँ चूड़ामहोत्सव करते हैं तथा वहाँ पर भी उन्होंने चैत्य की स्थापना—चैत्य का निर्माण किया, और आज भी वह—चैत्य—चूड़ाग्रहण चैत्य के नाम से ज्ञात है। (“पुनश्च बोधिसत्त्वस्यैतदभवत् कथं हि नाम चूड़ा च प्रव्रज्या चेति । स खड्गेन चूड़ां छित्वा अन्तरिक्षे प्रक्षिपति स्म, सा च त्रयस्त्रिंशता देवैः परिगृहीताऽभूत् पूजार्थम् ।

अद्यापि च त्रायस्त्रिंशत्सु देवेषु चूडामहो वर्तते तत्रापि चैत्यं स्थापित-
मभूत् । अद्यापि च तच्चूडाप्रतिग्रहणमिति ज्ञायते" पृ० २७८) ।
तदन्तर बोधिसत्व ने विचार किया कि कहाँ प्रव्रज्या और कहाँ यह
युवराजोचित वेष, वनवास के अनुरूप तो काषाय वस्त्र ही होते हैं अतः
यदि मुझे कहीं से काषाय वस्त्र मिलें तो ठीक हो । तब उन्होंने एक
काषायवस्त्रधारी देवपुत्र से काषाय वस्त्रों की याचना की और
उनके बदले अपने कौषिक वस्त्र उसे दे दिये । वह देवपुत्र पूजार्थ उन
वस्त्रों को लेकर देवलोक को चल दिया । वहाँ पर (उन वस्त्रों की
पूजा के लिये) चैत्य की स्थापना की । आज भी वह चैत्य काषाय-
ग्रहण के नाम से ज्ञात है । ("अथ स देवपुत्रो गौरवजातस्तानि वस्त्राणि
उभाभ्यां शिरसि कृत्वा तत एव देवलोकमगमत् तेषां पूजार्थम् तत्रापि
चैत्यं स्थापितं अद्यापि तच्चैत्यं काषायग्रहणमित्येवं ज्ञायते "पृ० २७८) ।

इन सब उल्लेखों से विदित होता है कि चैत्य का चिता से कोई
नियत सम्बन्ध नहीं, उसके सम्पर्क से रहित स्थल में भी बोधिसत्व
की स्मृति या पूजा के लिये चैत्यों—चिता सम्बन्ध से रहित विष्णु
मंदिरों का निर्माण किया जाता था । अतः अब बौद्ध-साहित्य भी
इस बात का अर्थात् चिंतास्थान पर बना हुआ स्मारक चिह्न ही
चैत्य कहला सकता है इस कथन का समर्थन नहीं करता ।

आजकल के कितने एक दूसरे विद्वान् भी चैत्य का चिता-मन्दिर
अर्थ करते व समझते हैं (१) और चैत्य का चिता मन्दिर अर्थ शब्द

(१) "स्तूप चैत्य और विहार अशोक के पहले भी थे । स्तूप वे इमारतें
थीं जिनके अन्दर कोई शरीर-वातु पूजा के लिये स्थापित किये होते थे । वे
चैत्यों अर्थात् चितामंदिरों के अंश थे । चैत्य सामूहिक पूजा के स्थान थे ।

(भा० ६० सू० २० पृ० ७५२)

साम्य को लेकर कुछ अनुरूप भी प्रतीत होता है, परन्तु यदि वे विद्वान् लोग इस पर जरा गम्भीरता से विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि यह अर्थ उसकी प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं। बौद्ध-सम्प्रदाय के भी कुछ ही स्तूप या चैत्य ऐसे होंगे कि जिन में चिता का सम्बन्ध लागू किया जा सकता हो, परन्तु वैदिक सम्प्रदाय में तो चैत्य के नाम से अभिहित किया जाने वाला एक भी देवमन्दिर ऐसा नहीं हो सकता कि जिस में प्रत्यक्ष तो क्या परोक्ष रूप से भी चिता का कोई सम्बन्ध हो। इस लिये वैदिक और बौद्ध-साहित्य से तो इंग्लिश विश्वकोष के उक्त चैत्यार्थ को कोई समर्थन प्राप्त नहीं होता।

जैन-साहित्य

जैन-साहित्य में आगम-साहित्य ही प्रधान एवं प्राचीन है। सो आगम-साहित्य का जहाँ तक हमारा परिशीलन है हमें तो उसमें भी कोई ऐसा उल्लेख देखने में नहीं आया जिससे कि उक्त इंग्लिश विश्वकोष में प्रदर्शित चैत्य के प्राचीन अर्थ को कोई सहयोग-सहारा प्राप्त हो सके। हमारे ख्याल में तो जैन-आगमों का चैत्य भी चिता के संमर्ग से बिल्कुल अलग है। जब कि यहाँ आगमगत चैत्य पर ही सारा विवाद है और उसी के अर्थनिर्णय के लिये सारा ऊहापोह किया जा रहा है, इस लिये जैन-साहित्य की चर्चा को हम आगे के लिये स्थगित रखते हैं।

(३) उक्त इंग्लिश-विश्वकोष के सिवा चैत्य शब्द के उक्त अर्थ को प्रधान और प्राचीन प्रमाणित करने के लिये हमारे विद्वान् मित्र ने नागरीप्रचारिणी में प्रकाशित हुए देवकुल-विषयक पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी के लेख में से भी कुछ अंश उद्धृत किया है, उसके

आधार पर एक तो आप चैत्य शब्द का “चिता स्थान पर बनाया गया स्मारक” अर्थ प्रमाणित करते हैं, दूसरा यह कि “हमारे पूर्वजों ने इन चैत्यों को मरने वालों की यादगार कायम रखने के लिये बनाया था न कि पूजा के लिये।”

गुलेरी जी ने अपने देवकुल शीर्षक लेख में बहुत सी ऐसी बातें भी लिखी हैं जो कि आप के सिद्धांत के प्रतिकूल हैं परन्तु उन सब को छोड़ कर आप ने अपने मतलब की बात को ही यहाँ पर उद्धृत किया है। अस्तु, अब हम गुलेरी जी के कथन की ओर भी पाठकों का ध्यान दिलाते हैं। गुलेरी जी कहते हैं कि देवपूजा पितृपूजा से ही चली है परन्तु हम इस कथन को प्रामाणिक नहीं समझते। इसके लिये न तो कोई शास्त्रवाक्य ही दृष्टिगोचर होता है और न इतिहास ही इसकी साक्षी पूरता है। शास्त्रों में पहले देवपूजा का विधान है पीछे पितृपूजा का, तथा ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण भी विद्यमान नहीं जो यह बतलावे कि अमुक समय पहले पितृपूजा थी, बाद में देवपूजा का आरम्भ हुआ। हमारा इस विषय से यहाँ पर कोई प्रयोजन नहीं, अतः इस पर हम अधिक कुछ नहीं लिखते। दूसरे—आप के इस कथन को तो हम भी मान्य करते हैं कि “मंदिर के लिये सब से पुराना नाम चैत्य है” परन्तु इसके आगे आपने जो यह लिखा है कि “जिसका अर्थ चिता-दाहस्थान पर बना हुआ स्मारक है” इसे हम सर्वथा प्रामाणिक मानने के लिये तैयार नहीं हैं। हमारे ख्याल से समाधि-मंदिरों में तो यह अर्थ घट सकता है, किन्तु देवमंदिरों के लिये यह कदापि लागू नहीं हो सकता। प्राचीन वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में जिन देवमंदिरों के लिये चैत्य शब्द का व्यवहार किया है उनका चितास्थान पर न तो कभी निर्माण हुआ और न होता है। अगर “चिता पर बना हुआ स्मारक” एकमात्र यही चैत्य का अर्थ

है तब तो देवमंदिरों के लिये चैत्य शब्द का व्यवहार ही नहीं हो सकता । ऐसी दशा में “मंदिर के लिये सब से पुराना नाम चैत्य है” इस कथन में कोई भी सार नहीं रह जाता । इस विषय पर हम पहले काफी लिख आये हैं यहाँ दुबारा उसके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है ।

इसके आगे गुलेरी जी कहते हैं कि (“शतपथब्राह्मण में उल्लेख है कि शरीर को भस्म करके धातुओं में हिरण्य का टुकड़ा मिला कर उन पर स्तूप का चयन-चुनना किया जाता था”) परन्तु शतपथ में स्तूप-चयन का उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया । वहाँ पर तो मृतक का अस्थिचयन करके उसको एक गढे में दबा देने मात्र का उल्लेख है ।

आगे चलकर आप कहते हैं कि—“बौद्धों तथा जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक चिन्ह थे, फिर पूज्य हो गये” अलबत्ता, यह कथन अवश्य विचारणीय है । हमारे सुयोग्य मित्र ने इसको प्रस्तुत पुस्तक में अनेक बार दोहराया है, और जहाँ तक हम समझ सके हैं चैत्य-विषयक प्रस्तुत पुस्तक में जो विचार प्रदर्शित किये गये हैं उनका सारा दारोमदार ऊपर उल्लेख किये गये इंग्लिश-विश्वकोष पर और गुलेरी जी के इस कथन पर ही है । हमारे मित्र के विचार-भवन की यही दो आधार शिलायें हैं, इन्हीं दो के बलबोत्ते पर आप प्राचीन और अर्वाचीन सभी जैन विद्वानों को ललकार रहे हैं । परन्तु आप की इस ललकार में कितना दम है और उसके पीछे कितना शक्ति-संचय है कि जिनके ऊपर निर्भर रह कर आप कतिपय आगम सिद्ध विचारों को भी तमस्तरण या साहित्य-विकार का नाम दे रहे हैं, उनमें भी

स्वयं कितना बल है इसका विचार हम आगे प्रसंग आने पर करेंगे । इस समय तो मात्र इतना ही कह देना काफी है कि गुलेरी जी का उक्त कथन जैनों के समाधि-मन्दिरों के लिये तो भले ही उपयुक्त हो सके, परन्तु उनके देवमंदिरों में यह बिलकुल लागू नहीं हो सकता । वे तो आरम्भ से ही पूज्य रहेंगे ।

आगमों में चैत्य शब्द का व्यवहार

इसके अनन्तर प्रस्तुत पुस्तक में जैनागमों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द के अर्थ पर हमारे श्रद्धेय पंडित जी ने जो विचार प्रदर्शित किये हैं अब पाठक उनकी ओर भी ध्यान देने की कृपा करें—

आगमोदयसमिति से प्रकाशित होने वाले आचारांगसूत्र में से क्रमशः—१—“चेइय महेसु” (पृ० ३२८), २—“चेइयाइ” (पृ० ३६६—६७), ३—“रुक्खं वा चेइयकडं” “थूभं वा चेइयकडं” (पृ० ३८२) और ४—“मडयथूभियासु वा” “मडयचेइयेसु वा” इन चारों पाठों को उद्धृत करके आप लिखते हैं कि—(“सूत्रों में जहाँ कहीं चैत्य शब्द का उपयोग किया गया है वहाँ पर विशेषतः उसका व्यन्तरायतन अर्थ किया गया है । यह व्यन्तरायतन और कुछ नहीं, किन्तु श्मशान में, उज्जड़ जगह में, खंडहरों या गृहस्थों के रहने की हद के किसी विभाग में जलाये हुए या दबाये हुए मृतक शरीरों पर चिनवाये हुए चबूतरे-स्तूप या कबरें हैं । विशेषतः मृतकों को जलाने या दफनाने की जगह में ही व्यन्तरों का निवास लोकप्रतीत है, अतः वैसी जगह में चिने हुए चबूतरे, स्तूप या कबरें जिसे हम चैत्य शब्द से संबोधित करते हैं, उसे व्यन्तरायतन—व्यन्तर के रहने के स्थान की संज्ञा भी संघटित होती है । तथा “रुक्खं वा चेइयकडं” “थूभं वा

चेइयकडं” “मडयथूभियासु” “मडयचेइयेसु”---(मृतकचैत्येषु)
 वे सारे उल्लेख तो उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं जिस अर्थ को हम उपरोक्त
 प्रमाण से निर्विवाद समझते हैं। इस प्रकार आचारांगसूत्र, चैत्य शब्द
 के उपरोक्त प्रमाणित अर्थ को ही पुष्ट करता है।”) पृ० १३९-१४०।

समीक्षा—

हमारे विद्वान् मित्र पंडित बेचरदासजी ने अपने विचारानुसार
 चैत्य शब्द की मूल उत्पत्ति और व्युत्पत्ति की कल्पना करके उसके
 आधार से चैत्य शब्द का जो मूल-प्रधान और सर्वप्राचीन अर्थ निर्धा-
 रित किया है, उसकी समीक्षा हम ऊपर अच्छी तरह से कर आये हैं।
 हमारे विचार से तो चैत्य शब्द का “चिता स्थान पर बनाया गया स्मा-
 रकचिन्ह विशेष अर्थ” न तो उसका मूल अथ च प्रधान अर्थ है और नां
 ही वह सब से प्राचीन है। उसका मूल और प्राचीन अर्थ तो (जो कि
 उसकी उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप है और
 होना चाहिये) वही है, जिस का कि हम पहले उल्लेख कर आये हैं।
 उसके अनुसार जैनागमों में प्रयुक्त हुआ चैत्य शब्द भी अपने उसी
 मुख्य-चयन सम्बन्धि अर्थ का ही बोधक है। इसी पर से वह चैत्य
 शब्द आगमाश्रित होकर देवस्थान, जिनभवन और जिनप्रतिमा
 तथा प्रधानवृक्ष के अर्थ का (चिता के सम्पर्क से बिल्कुल अलग
 थलग रहकर) बोध करा रहा है। परन्तु हमारे मित्र तो चिता को
 चैत्य का अविनाभावी समझ रहे हैं अर्थात् चिता के बिना चैत्य रह
 ही नहीं सकता। जब कि उनके मत में उसका उत्पत्तिस्थान ही
 चिता है। अपने इसी उद्देश को या इसी भावना को सफल बनाने के
 लिये आपने आचारांग प्रभृति जैनागमों में जहाँ कहीं भी चैत्य को

पाया, वहीं पर उसके साथ चिता को चिपकाने का यत्न किया, अथवा येनकेन प्रकारेण उन्ने ही (चैत्य को ही) चिता स्थान पर लाकर बिठाने का भगीरथ प्रयत्न किया । अस्तु, अब हम आचारांगसूत्रस्थ चैत्य सम्बन्धि उक्त पाठों की ओर अपने पाठकों का ध्यान खींचते हैं :

आचारांगसूत्र से ऊपर उद्धृत किये गये पाठों में से पहले के दो पाठों ("चेइयमहेसु" "चेइयाइ") में तो चिता की गन्ध तक भी नहीं आती । "चेइयमहेसु—चैत्यमहोत्सवेषु" का सीधा और स्पष्ट अर्थ है "यज्ञमहोत्सव में" अर्थात् यहाँ पर प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का अर्थ यज्ञ है और यज्ञ में चिता का किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार करना यज्ञ-प्रक्रिया से सर्वथा अनभिज्ञता प्रकट करना है । आचारांगसूत्र में जहाँ पर यह उल्लेख आया है, वहाँ अन्य महोत्सवों के साथ चैत्यमहोत्सव का भी उल्लेख है (१) । साधु को भिक्षार्थ जिन जिन

(१) इंदमहेसु वा, खंदमहेसु वा, एवं कदमहेसु वा, मुगुंदमहेसु वा, भूय-महेसु वा, जक्खमहेसु वा, नागमहेसु वा, यभमहेसु वा, चेइयमहेसु वा, रुक्ख-महेसु वा, गिरिमहेसु वा, हरिमहेसु वा, अगडमहेसु वा, तडागसहेसु वा, दह-महेसु वा, नइमहेसु वा, सरमहेसु वा, सागरमहेसु वा, आगरमहेसु वा, अन्नरयेसु तहप्पगारेसु । (आचारांग, समि९ पृ० ३२८) ।

इसी से मिलता जुलता पाठ ज्ञाताधर्मकथांग में है परन्तु दोनों का प्रकरण भिन्न है । आचारांग में तो इन उत्सवों का उल्लेख साधु की भिक्षा-वृत्ति को उद्देश करके किया है और ज्ञातासूत्र में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के राजगृह नगरी में पधारने के समय पर किया है । बहुत से लोग भगवान् महावीर के दर्शनार्थ एकत्रित होकर जा रहे हैं, इनको जाते देख वहाँ पर किसी ने पूछा है कि क्या आज कहीं पर इन्द्रमहोत्सव है, स्कन्दमहोत्सव है अथवा रुद्र, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, नदी, तालाब, वृक्ष और चैत्य आदि का कोई उत्सव है—

स्थानों में नहीं जाना चाहिये उन सब का वहाँ पर उल्लेख किया है । उसमें इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, भूत, यक्ष और नाग आदि देवताओं के पूजामहोत्सव में, तथा स्तूपमहोत्सव, चैत्यमहोत्सव, वृक्षमहोत्सव, नदी-तालाब और सागर आदि के महोत्सव में अर्थात् इनके निमित्त से जहाँ पर कोई उत्सव मनाया जा रहा हो, वहाँ पर साधु को भिक्षा के लिये जाने का निषेध किया है ।

इस सारे उल्लेख के देखने से मालूम होता है कि ये सब प्रायः वैदिक-परम्परा के पूजामहोत्सव हैं । जैन-

“किञ्च भो देवाणुष्पिया । अज्ज रायगिहे नगरे, इंदमहेति वा, खंदमहेति वा, एवं रुद्र, सिव, वेसमण, नाग, जक्ख, भूय, नई, तालाब, रुक्ख, चेनिय, पब्बया, उज्जाण, गिरि, जत्ता वा । पृ० ४५ ।

इसी तरह का पाठ भगवतीसूत्र में उपलब्ध होता है । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के क्षत्रियकुंडग्राम नगर में पधारने पर वहाँ के लोगों को उनके दर्शनार्थ जाते देख राजकुमार जामाली कहता है—

किणं अज्ज खत्तियकुंडगामनयरे इंदमहे इ वा खंदमहे इ वा मुगुंदमहे इ वा नागमहे इ वा जक्खमहे इ वा भूयमहे इ वा कूबमहे इ वा तड़ागमहे इ वा नई-महे इ वा पब्बयमहे इ वा रुक्खमहे इ वा चेइयमहे इ वा थूभमहे इ वा जण्णं एए वहवे उग्गा भाग्ग..... निग्गच्छंति ।

इन उल्लेखों से जान पड़ता है कि उस समय इन्द्र स्कन्ध प्रभृति अनेक प्रकार के देवों की पूजा प्रचलित थी और समय २ पर इनके निमित्त से अनेक प्रकार के उत्सव मनाये जाते थे, इनमें यज्ञ के अन्त में उसकी स्मृति के लिये स्तूप बनाया जाता था; उसके निमित्त बड़ा भारी समारोह किया जाता था वहीं स्तूपमहोत्सव है, तथा यज्ञ की समाप्ति पर अबभूथ-स्नान के अनन्तर जो ऋष्यागत और अतिथियों के भोजनादि का समारोह किया जाता था उसी का नाम चैत्यमहोत्सव-यज्ञ महोत्सव है । वैदिक परम्परा में स्तूप और चैत्य महोत्सव की प्रथा अत्यन्त प्राचीन है ।

परम्परा में इन्हें लौकिक उत्सवों का नाम दिया गया है । वैदिक सम्प्रदाय में इन्द्र, स्कन्द (कार्तिकेय), विष्णु, रुद्र, यक्ष, कुबेर आदि देवताओं की पूजा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है, उसमें भी चैत्य और स्तूप महोत्सव तो और भी प्राचीन हैं । यज्ञ की समाप्ति पर उसके स्मरण में स्तूप प्रतिष्ठा—(स्थापना) और चैत्यमहोत्सव अर्थात् यज्ञसम्बन्धि समारोह ये दोनों ही प्रथायें वैदिक एवं अत्यन्त प्राचीन हैं । ये प्रथायें आचारांगसूत्र के निर्माणकाल में भी अपने पूर्ण यौवन पर थीं, इसी लिये जैनागमों में उनका यत्र तत्र पर्याप्त उल्लेख पाया जाता है । इस लिये यहाँ पर निर्दिष्ट “चेइयमहेसु” में के चेइय-चैत्य का अर्थ यज्ञविशेष है और यज्ञसम्बन्धि उत्सव का नाम ही चैत्य महोत्सव है । चैत्य के इस चयन-प्रधान अर्थ में जहाँ उसकी उत्पत्ति और व्युत्पत्ति का समर्थन प्राप्त है वहाँ प्रवृत्ति-व्यवहार का भी पूरा सहयोग है । एवं इस अर्थ की प्राचीनता तो निर्विवाद सिद्ध है । इसी प्रकार “चेइयाइ” में भी उसके सम्बन्ध को देखते हुए जिस अर्थ में वह प्रयुक्त हुआ है उसका चिता या चितास्थान पर बने हुए आकार विशेष से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता । यहाँ पर उसका सर्वसम्मत निर्विवाद अर्थ चिने हुए—बनाये या बढ़ाये हुए घर-मकान विशेष है । पूज्य शीलांकाचार्य के अलावा, प्राकृतशब्दमहार्णव और अर्द्धमागधिकोष में भी इसका यही अर्थ (१)

(१) क) —“तदेवं भूतैः आगारिभिः गृहस्थैः बहून् श्रमणादीन् उद्दिश्य तत्र तत्र आरामादौ यानशालादिभिः स्वार्थं कुर्वद्भिः श्रवणाद्यवकाशार्थं “चेइयाइ” “महांति कृतानि भवंति” (शीलांकाचार्य) ।

(ख) —चेइयः—त्रि० (चेतित) करेलुं, बनावेलुं, चणेलुं (किया हुआ, बनाया हुआ, चिना हुआ) (“आगारिहिं आगाराइं चेइयाइं भवंति” आचा० २।२।२ (अर्द्ध मा० कोष) ।

किया गया है। इसके अलावा आचारांगसूत्र के इस स्थल के पाठ में तो इतनी स्पष्टता है कि उसके अर्थ प्रत्यय के लिये किसी अन्य सहायक की अपेक्षा ही दरकार नहीं है। गृहस्थों ने जहाँ साधु के उद्देश से अपने घरों को चिना हो, बढ़ाया हो, वे मकान साधु को रहने के लिये नहीं कल्पते और जिन को उन्होंने अपने लिये चिना है, बनाया या बढ़ाया है उनमें साधु रह सकता है। इसी अभिप्राय के सूचक पाठ में वहाँ आचारांगसूत्र में “चेइयाइ” का उल्लेख है—(“समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं आगाराइं चेइयाइं भवति”) अर्थात् जहाँ श्रमणों के उद्देश से गृहस्थों ने अपने घरों को चिना हो, बढ़ाया हो। इस लिये हमारे विचारानुसार आचारांगसूत्र गत “चेइयमहेसु” और “चेइयाइ” इन दोनों पाठों में तो आप के माने हुए चैत्य शब्द के प्रधान और सर्वप्राचीन अर्थ (चिता स्थान पर बनाया गया चिन्ह या आकार विशेष) की दाल गल नहीं सकती। तब आपका (“इस प्रकार आचारांगसूत्र, चैत्य शब्द के उपरोक्त प्रमाणित अर्थ को ही पुष्ट करता है”) यह उल्लेख कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय हम अपने पाठकों पर ही छोड़ते हैं। अच्छा, अब आगे के पाठों पर ध्यान दें “एक्खं वा चेइयकडं” “थूभं वा चेइयकडं” इन दोनों प्राकृत शब्दों के संस्कृत प्रतिरूप क्रमशः

(ग)—चेइय (चेतित) कृत, विहित—आचा० २।१।२।२ (प्राकृतशब्द-महार्णव) इन उल्लेखों से आचारांग के इस “चेइयाइ” पाठ का अर्थ निर्विवाद रूप से चित्त हुआ, या बढ़ाये हुए गृहस्थों के घर यही अर्थ सिद्ध होता है। यहां पर “चेइयाइ” यह “आगराई” का विशेषण है इसका “चिता पर का स्मारक चिन्ह” अर्थ न तो कभी संभव है और न ही किसी ने किया है। इससे हमारे मित्र भी अपरिचित नहीं हैं, फिर भी यदि वे चितास्थान को ही गाये जाय तो यह उनकी इच्छा है। हम तो इसे हठधर्मों के सिवा और कुछ नहीं कहेंगे।

“वृक्षं वा चैत्यकृतम्” “स्तूपं वा चैत्यकृतम्” बनते हैं। यहाँ “चैत्य-
कृत” का अर्थ चैत्याधिष्ठित या चैत्योपलक्षित है। इसके अनुसार
चैत्यकृत वृक्ष का अर्थ होता है, जिसके नीचे इष्टकाचयन अर्थात्
चबूतरा बना हुआ हो अथवा किसी देव-विशेष का स्थान हो ऐसा
वृक्ष। इसी तरह जिस में किसी देव-विशेष की स्थापना की गई हो
अथवा जो किसी देव विशेष की पूजार्थ निर्माण किया गया हो ऐसा
स्तूप चैत्यकृत स्तूप कहलाता है। पूज्य शीलांकाचार्य ने भी इनका
इसी प्रकार का अर्थ किया है (१)। इस प्रकार चैत्यकृत वृक्ष और
चैत्यकृत स्तूप इन दोनों स्थानों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का व्यन्तर जाति
के किसी देव-विशेष का स्थान या किसी आकार-विशेष में उसकी
स्थापना, यह अर्थ बोधित होता है; परन्तु हमारे विचार से तो इस
स्थल में प्रयुक्त हुआ चैत्य शब्द चयन प्रधान-यज्ञ-विशेष का ही
परिचायक है, और चैत्यकृत वृक्ष तथा चैत्यवृक्ष एवं चैत्यकृत स्तूप
और चैत्यस्तूप इनमें अर्थकृत कोई भेद नहीं। नात्पर्य कि चैत्यकृत
वृक्ष कहो या चैत्यवृक्ष कहो—अर्थ दोनों का एक ही है। इसी तरह
चैत्यकृतस्तूप और चैत्यस्तूप भी समानार्थक ही हैं। ऐसी परिस्थिति
में इनका क्रमशः यज्ञीय (यज्ञसम्बन्धि) वृक्ष और यज्ञीय (यज्ञ-
सम्बन्धि) स्तूप यह अर्थ फलित होता है। यज्ञीय वृक्ष—अश्वत्थादि (२)

(१) वृक्षं वा चैत्यकृतम्—वृक्षस्याघातं व्यन्तरादिस्थलकम् । “स्तूपं वा”
व्यन्तरादिकृतम् ॥ पृ० २८२ ॥

(२) वट और अश्वत्थादि वृक्षों का यज्ञीय वृक्ष के नाम से गृह्यसूत्रों में
अनेक स्थानों पर उल्लेख किया गया है, देखो—लौगाक्षगृह्यसूत्र का “यज्ञियस्य
वृक्षस्य प्रागायतां शाखां” इत्यादि पाठ (५।१।७१)

प्रधान वृक्ष है और यज्ञानुष्ठान के अनन्तर यज्ञ-स्थान पर निर्माण किया गया स्तूप चैत्यस्तूप कहलाता है । तथा वट और अश्वत्थादि प्रधान वृक्षों के लिये यज्ञवृक्ष और चैत्यवृक्ष, दोनों शब्दों का प्रयोग कोशों में देखा जाता है । (देखो—शब्दस्तोममहानिधि में चैत्य-वृक्ष और यज्ञवृक्ष तथा—“पिप्पलो वादरंगः स्यात् चैत्यद्रुः केशवा-लयः—त्रिवाण्डशेषः”) इस प्रकार इन उक्त दोनों “रुक्खं वा चेइय-कडं—थूभं वा चेइयकडं” पाठों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द की उपयुक्त अर्थविचारणा से यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस स्थल का चैत्य भी चिता स्थान से कोई सरोकार नहीं रखता । यहाँ पर—उसका देवस्थान अथवा यज्ञस्थान कोई भी अर्थ क्यों न माना जाय, परन्तु वह चितास्थान पर के चिन्ह-विशेष से तो अपने आप को सर्वथा पृथक् किये हुए है, ऐसी दशा में “आचारांगसूत्र, चैत्य शब्द के उपरोक्त प्रमाणित चिता स्थान सम्बन्धि अर्थ को पुष्ट करता है” यह कथन हमारे ख्याल में तो कुछ भी मूल्य नहीं रखता ।

अब हम क्रमप्राप्त आचारांगसूत्र के चौथे पाठ का समीक्षण करते हैं—मडयचेइयेसु—मृतकचैत्येषु इस वाक्य का प्रकरणसंगत सरल और स्पष्ट अर्थ यह है कि जहाँ पर मृतक का चैत्य हो अर्थात् मरे हुए के स्थान पर कोई मढी या मन्दिर अथवा चबूतरा बना हुआ हो वहाँ पर साधु मल-मूत्र का परित्याग न करे । आचारांगसूत्र के, प्रथम उद्धृत किये गये तीनों पाठों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द में तो हमारे विद्वान् मित्र का माना हुआ प्रधान अर्थ संघटित होता नहीं, अलबत्ता इस चौथे पाठ में उसकी कुछ संभावना हो सकती है । तात्पर्य यह कि आचारांगसूत्र में जितने स्थानों पर चैत्य शब्द का प्रयोग हुआ है उनमें से आपके माने हुए

प्रधान अर्ध-चितास्थान पर बने हुए स्मारक चिन्ह विशेष के संघटित होने की यदि कहीं पर कुछ संभावना हो सकती है तो वह एकमात्र यही—“मडयचेइएसु” स्थान हो सकता है। इसके बिना बाकी के तीनों स्थानों का चैत्य उक्त प्रधान अर्थ का बलकुल स्पर्श नहीं करता। अतः चैत्य के यज्ञ, मंदिर और मूर्ति आदि अन्य अर्थों के समान उसका, चिता स्थान पर बना हुआ चिन्ह—आकार विशेष अर्थ भी हो सकता है। परंतु यह अर्थ न तो उसका मुख्य अर्थ है और नां ही सर्वप्राचीन। उसका मुख्य प्राचीनतम अर्थ तो वही है जिसका कि हम सप्रमाण उल्लेख पहले कर आए हैं। प्राकृत-शब्दमहार्णव—(पाइय-सद्महण्णवो) नाम के जैनकोष में चैत्य शब्द का लगभग ११ अर्थों में व्यवहार किया है (१)। उनमें से

(१) चेइ-चेइय-पुं० न० (चैत्य) १—चिता पर बनाया हुआ स्मारक-स्तूप कबर वगैरह स्मृतिचिन्ह (मडयथूभियासु वा, मडयचेइयेसु वा आचा० २।२।३)

२—व्यन्तर का स्थान, व्यन्तरायतन (भग० ३ वा राय० निर० १।१ विपा० १।१।२)

३—जिनमन्दिर, जिनगृह, अर्हन्मन्दिर ठा० ४।२ पत्र ४२० पंचमा० पंचा० १२ द्र० ४।२७—पडिमं कासीयचेइएरम्मे, पव० ७९)

४—इष्टदेव की मूर्ति, अभीष्ट देवता की प्रतिमा—(“कल्लाण मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामो” औप० भग०)

५—अर्हत्प्रतिमा, जिनदेव की मूर्ति (ठा० ३।१।३ वा० वण्ह २।३ आव० २। “वीइएणं जप्पाएणं नंदीसर वरदीये समो ६ सरण करेइ तहि चेइयाइ वंदइ” भग० २०।९)

६—उद्यान, बगीचा—(मिहिलाए चैइएवच्छे सीअच्छाए मणोरथं” उक्त० ९।१०)

एक अर्थ चिता पर का स्मारक-स्तूप, कबर वगैरह स्मृति चिन्ह भी है, परन्तु इस अर्थ में भी चैत्य का व्यवहार चिता सम्बन्ध को लेकर नहीं होता किन्तु उसके मूलभूत चयन-विशेष को लेकर

७—सभावृक्ष, सभागृह के पास का वृक्ष ।

८—चबूतरे वाला वृक्ष ।

९—देवों का चिन्हभूत वृक्ष ।

१०—बह वृक्ष जहां जिन देव को केवल ज्ञान उत्पन्न होता है—
(ठा० ८ सम० १२।१५६)

११—यज्ञस्थान ।

इस प्रकार प्राकृतशब्दमहार्णव में चैत्य शब्द के ११ अर्थ दिये गये हैं । इनमें सिर्फ विचार करने की बात यह है कि—चिता पर के स्तूप और कबर या चबूतरे वगैरह अर्थों में जहां चैत्य शब्द का व्यवहार किया गया है वहां तो आचाराङ्गसूत्र का यह “मडयथूभियासु वा, मडयचेइयेसु वा” उदाहरण दिया है, और जहां उसका—चैत्य का व्यन्तर का स्थान, व्यन्तरायतन अर्थ में व्यवहार किया है वहां उसके समन्वयार्थ, व्याख्याप्रज्ञप्ति, औपपातिक और राजप्रसनीय आदि सूत्रों के नाम से उनमें उल्लिखित—“गुणसिलिए चेइए” “पुण्णभदे चेइए” “अंबसालवणे चेइए” आदि के उदाहरण उपस्थित किये हैं । इससे यही प्रमाणित होता है कि चैत्य के नाम से पुकारे जाने वाले मृतकों के चबूतरे या कबरें वगैरह व्यन्तरायतन-व्यन्तरदेव के स्थान नहीं हैं ये तो मृतकों के स्थान-मृतकायतन कहला सकते हैं, व्यन्तरायतन तो देवस्थान के नाम से प्रसिद्ध एक अलग वस्तु है जिसका वर्णन ‘औपपातिक सूत्र’ में बड़े विस्तार से किया गया है और उसी का अनुसरण दूसरे आगमग्रन्थों में किया है । अतः इन मरे हुए पुरुषों की कबरों को व्यन्तरायतन के नाम से सम्बोधित करना सरासर पक्षपात और आगमसिद्धान्त का प्रत्यक्ष अपलाप करना है । इसके अतिरिक्त व्यन्तरायतन का वास्तविक अर्थ क्या है, उसका मरे हुए मनुष्यों की कबरों के साथ कोई सम्बन्ध है या कि इससे भिन्न देवस्थानों का नाम व्यन्तरायतन है; इत्यादि बातों पर सविस्तर और सप्रमाण विवेचन हम आगे चलकर करेंगे ।

होता है। यह बात “मडयचेइयेसु-मृतकचैत्येषु” इस पाठ में उल्लेख किये गये ‘मृतक’ विशेषण से सुनिश्चित होती है। अगर चैत्य में चिता का सम्बन्ध ही प्रधान होता या उसके अनुसार सूत्र-कार को चैत्य का एकमात्र चितासम्बन्धी-चिता पर का स्मारक अर्थ ही अभीष्ट होता तो वह चैत्य के साथ मृतक विशेषण लगाने का कभी कष्ट न उठाते, जब कि चैत्य का अर्थ ही मृतक की चिता पर चिना हुआ स्तूप, चबूतरा या कबर वगैरह हो। तब इससे यह भली भांति निश्चित हो जाता है कि चैत्य का वास्तविक सम्बन्धी विशिष्ट प्रकार का चयन है। “मडयचेइयेसु-मृतक-चैत्येषु” में भी इसी विशिष्ट चयन को प्रधान स्थान प्राप्त है, उसके अनुसार मृतक चैत्य का अर्थ होता है—मरे हुए के शरीर पर अथवा मरे हुए की चिता पर का इष्टकाचयन-ईंटों का चिनाव। फिर वह स्तूप के आकार में हो, मन्दिर के आकार में हो या चबूतरे के रूप में अथवा और किसी रूप में। तात्पर्य कि जिन २ अर्थों में चैत्य शब्द का व्यवहार होता है उन सब में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हमें चयन की ही व्याप्ति दिखाई देती है। जिस चिता सम्बन्ध को हमारे मित्र चैत्य का प्रधान अर्थ मान रहे हैं उसमें भी चयन ही मुख्य है (चयनं चिता)। इसलिए—आचारांग के “मडयचेइयेसु” पाठ में भी तद्गत चैत्य का चयन विशेष से ही सम्बन्ध है, न कि चिता से। अतः आचारांग का यह चतुर्थ पाठ भी हमारे मित्र के माने हुए चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ का समर्थन नहीं करता। इस प्रकार हमारे विचार से तो आचारांगसूत्र के इन चैत्यसम्बन्धि उल्लेखों में चिता के सम्बन्ध को कोई अवकाश नहीं, और ना ही इस अभि-प्राय से उसमें—आचारांगसूत्र में कहीं पर चैत्य शब्द का व्यवहार हुआ

दृष्टिगोचर होता है। तब—(“ये सारे उल्लेख तो उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं जिस अर्थ को—“चिता स्थान पर बनाए गये स्मारक चिन्ह अर्थ को हम उपरोक्त प्रमाण से निर्विवाद समझते हैं। इस प्रकार आचारांगसूत्र, चैत्य शब्द के उपरोक्त प्रमाणित अर्थ को ही पुष्ट करता है”) इस कथन में हमें तो मताग्रह के सिवा और कोई भी सार नज़र नहीं आता। संसार में जैन-आगमों का अभ्यासी कोई भी तटस्थ विद्वान् आचारांगसूत्रगत “चेइयाइ” (पृ० ३६६-३६७ समिति) का “चिता सम्बन्धि स्मारक चिन्ह” अर्थ नहीं करेगा, और नां ही आज तक किसी ने किया है। परन्तु आपने तो बाकी के पाठों के साथ इसे भी उसी अर्थ में घसीटने का प्रयत्न किया है जो कि आप-जैसे अभिज्ञों के लिए सर्वथा अयोग्य है।

व्यन्तरायतन

इस भांति आचारांगसूत्रगत चैत्य शब्द के अर्थों का पर्यालोचन करने के बाद अब हम उसके व्यन्तरायतन अर्थ पर भी अपने विचारों को पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का यत्न करते हैं—विद्वान् टीकाकारों ने चैत्य शब्द के जिनमन्दिर और जिन-प्रतिमा अर्थ करने के अतिरिक्त आगमों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का प्रकरण-संगत “व्यन्तरायतन” अर्थ भी किया है, जिसके औचित्य में किसी प्रकार के भी सन्देह को स्थान नहीं है। परन्तु ‘व्यन्तरायतन’ इस शब्द का आगम और टीका सम्मत जो अर्थ है उससे हमारे मिश्र का अर्थ बिलकुल विलक्षण है। आप कहते हैं कि—

(“यह व्यन्तरायतन और कुछ नहीं, किन्तु श्मशान में उज्जड़

जगह में खंडहरों में या गृहस्थों के रहने की हद के किसी विभाग में जलाए हुए या दबाए हुए मृतक शरीरों पर चिनवाए हुए चबूतरे स्तूप या कबरें हैं”) इत्यादि । पृ० १४० ।

आपका यह कथन किसी स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता । आपके विचारानुसार जिस स्थान पर किसी पुरुष को जलाया या दफनाया गया हो वहाँ पर जो चबूतरे या कबरें वगैरह बनाई जाती हैं उसी का नाम व्यन्तरायतन है; कारण कि लोक में प्रायः मृतकों के जलाने या दफनाने की जगह में ही व्यन्तरो का निवास माना जाता है अतः वैसी जगह में चिने हुए चबूतरे, स्तूप या कबरें—जिन्हें हम चैत्य से सम्बोधित करते हैं उसे व्यन्तरायतन—व्यन्तर के रहने का स्थान कहते हैं । परन्तु हमारे विचार से तो आपकी यह कल्पना आगम-सम्मत नहीं है । कोष में चैत्य शब्द के अर्थों में उसका मृतक के स्थान में चिना हुआ चबूतरा या कबर वगैरह भी एक अर्थ किया गया है उसको लेकर वहाँ यदि किसी निचली श्रेणी के व्यन्तर देव का निवास हो तो उसे व्यन्तरायतन—व्यन्तर का स्थान कहने व मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती, मगर आगमों में जिस व्यन्तरायतन के लिए चैत्य शब्द का व्यवहार हुआ देखा जाता है वह व्यन्तरायतन इससे भिन्न है । जैनागमों में मृतकों के चबूतरे या कबरें आदि के लिए चैत्य शब्द का व्यवहार नहीं किया उनका चैत्य तो यक्षमंदिर के लिए व्यवहृत हुआ है । उसी अर्थ में अर्थात् यक्षायतन—यक्ष-मंदिर के अर्थ में ही टीकाकारों ने व्यन्तरायतन शब्द का प्रयोग किया है । आगमगत जिस चैत्य शब्द का टीकाकारों ने व्यन्तरायतन अर्थ किया है, (टीकाकार कृत इस अर्थ को हमारे मित्र भी मान्य करते हैं) उसका स्वरूप हमें आगमों से ही

निश्चित करना होगा। यदि आगमगत चैत्य का स्वरूप मरे हुए पुरुषों के चबूतरे या कबरों से मिला प्रमाणित होता हो और वह किसी यक्षादि देव-विशेष के मंदिर अर्थ में व्यवहृत हुआ हो तो “व्यन्तरायतन” का किसी देव-विशेष का मन्दिर अर्थ करना ही अधिक युक्तियुक्त होगा। उसमें चिता-सम्बन्ध को बलात् नियोजित करना किसी प्रकार से भी उचित नहीं कहा जा सकेगा। वर्तमान युग के ऐतिहासिकों की भांति हमारे मित्र चाहे स्वीकार न करें, परन्तु जैनागमों में मनुष्ययोनि से भिन्न देवयोनि का अस्तित्व स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। उनमें भवनपति, बाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक ये चार प्रकार के देव माने हैं और इनके अवान्तर भेदों का भी आगमों में स्पष्ट उल्लेख है। भवनपति के दस, व्यन्तर के आठ, ज्योतिष्क के पाँच और वैमानिक के दो भेद हैं। तथा आठ प्रकार के व्यन्तरों में पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व इनको परिगणित किया है। व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) में इनके देवलोकों का भी वर्णन किया है (१)। हमारे ख्याल में व्यन्तर देवों में भूत पिशाचादि की अपेक्षा यक्षादि व्यन्तर उच्च श्रेणि के देव हैं। जैनागमों के पर्यालोचन से प्रतीत होता है कि उस समय भारत वर्ष में यक्षों की पूजा अधिक प्रचलित थी। उनके बड़े २ मन्दिर थे, मन्दिरों में यक्षों की प्रतिमाएँ थीं, उनकी पूजा सेवा बड़े समारोह से हुआ करती थी। दूर २ से लोग उनके दर्शनार्थ आया करते थे, धूप-दीप तथा फल-पुष्पादि से उनका विधिपूर्वक पूजन करते थे। जैनागमों में जहाँ जहाँ “पुष्पभदे चेइए”

(१) देखो—भगवतीसूत्र शतक १ उ० १ पृ० ३६

“गुणसिलिए चेइए” इत्यादि पाठों में चेइए-चैत्य शब्द का उल्लेख किया है वहाँ उसका सर्वत्र टीकाकारों ने व्यन्तरायतन अर्थ किया है, परन्तु यह व्यन्तरायतन ऊपर बतलाए गए यक्ष-मन्दिर का ही दूसरा नाम है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार की कबर या मरे हुए पुरुषों के चबूतरे वगैरह के लिये आगमों में चैत्य शब्द का निर्देश नहीं किया। अतः व्यन्तरायतन का आगम-सम्मत अर्थ देवमन्दिर-यक्षमन्दिर है न कि मरे हुए मनुष्यों की कबरें या चबूतरे वगैरह।

औपपातिक सूत्र में पूर्णभद्र चैत्य का जो वर्णन किया गया है, उस पर से आगमों के “पुण्णभद्दे चेइए” “गुणसिलिए चेइए” और “मणिभद्दे चेइए” इत्यादि पाठों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का क्या अर्थ है अर्थात् उसका अर्थ चिता स्थान पर बने हुए चबूतरे या कबर वगैरह है अथवा यक्षमन्दिर-व्यन्तर जाति के उत्कृष्ट देव-विशेष का स्थान है, इसका निर्णय भली भाँति हो सकता है। औपपातिक सूत्र का वह पाठ और उसका भावार्थ इस प्रकार है—
 “तीसे णं चंपाए णयरीए वंहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए पुण्णभद्दे णामं चेइए होत्था, चिराइए पुब्बपुरिसपण्णत्ते पोराने सद्दिए कित्तिए णोए सच्छत्ते सज्झाए सघट्टे सपडागे पडागाइपडागंमंडिए सलोमं हत्थे कयवेयइडिए लाइय उल्लोइय महिए गोसीस सरस रत्त चंदण दहर दिण्ण पंचगुलितले, उवविय चंदणकलसे चंदणघड सुकय तोरण पडिदुआर देसमाए असित्तो वसित्त विउल वट्टवग्घारिय मल्लदामकलावे पंच वण्ण सरस सुरमि मुक्क पुप्फ पुंजोवयार कलिए कालागुरु-पवरकुंदुरुक-तुल्लक धूब मघमवत्त गंधुदूयीमिरामे, सुगंधवरगंधगंधिए गंधवट्टिभूए णड णट्टग जल्ल मल्ल

मुष्टिय वेलंबग पवग कहग लासग आइक्खग लंख मंख तूणइस्ल
तुंबवीणिय भुसग मागह परिगए बहुजणजाणक्खस्स विस्सु-
यकित्तिए बहुजणस्स आहुस्स आहुणिज्जे पाहुणिज्जे अच्चणिज्जे
वंदणिज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे
कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे, दिव्वे सच्चे
सच्चोवाए सण्णिहिय पडिहारे जागसहस्स भाग पडिच्छए बहुजणी
अच्चेइ आगम्म पुण्णभट्ठं चेइयं” (१)

भावार्थ—उस चम्पानगरी के उत्तरपूर्व दिशा के मध्य भाग
अर्थात् ईशान कोण में पूर्व पुरुषों द्वारा प्रज्ञप्त-प्रशंसित उपा-
देयरूप से प्रकाशित बहुत काल का बना हुआ अत्यंत प्राचीन

(१) छाया—तस्यां नं चम्पायां नगर्यां बहिः उत्तरपोरस्त्ये दिग्भागे
पूर्णभद्रं नाम चैत्यम् अभवत् । चिरातीतं पूर्वं पुरुषप्रज्ञप्तं पुराणं शब्दितं कीर्तितं
ज्ञातं सच्छत्रं सध्वजं सघटं सपातकं पताकातिपताकामंडितं सलोमहस्तं कृतवित-
दिकं लाइय-उल्लोइय-महियं मोक्षीर्षं-सरसं रक्तचन्दनद्वंदं दत्तं पञ्चगुल्लि-
लम् उपचितचन्दनकलशं चन्दन घटं सुकृत तोरणं प्रति द्वारं देशं भागम्, आसि-
क्तावसिक्तं विपुलं वृक्षं लम्बमानं मात्यदामकलापम् पञ्चवर्णं सरसं सुरभि-
मुक्तं पुष्पं पुञ्जोपहारं कलितम्, कालागुरु प्रधरं कुन्दरुक्कं तुरुष्कं घूपमघमघा-
यमानं मत्तमोद्धताभिरागमम्, सुगन्धधरं गन्धं गन्धितम्, गन्धवतिभूतम्, नटं मत्तकं
जल्लं मल्लं मोष्ठिकं विडम्बकं प्लवकं कम्बुकं रासकं आख्यायकं लंखं मंखं तूणिकं
तुम्बवीणकं भुजगं मागघं परिगतम्, बहुजनं जानपदस्य विभूतं कीर्तितम्, बहु-
जनस्य आर्हीतुः आहवनीयम् प्राहवनीयम् अर्चनीयम्, वन्दनीयम्, नमस्यनीयम्,
पूजनीयम्, सत्कारणीयम्, सम्माननीयम् कल्याणं जंगलं देवतं सत्यं (इव) विमयेन
पर्युपासनीयम्, दिव्यं सत्यं, सत्योपायं सन्निहितप्रतिहार्यं मागससभाग-प्रतीच्छ-
कम् बहुजनः अर्चति आगम्य पूर्णभद्रं चैत्यम् ।

और प्रसिद्ध पूर्णभद्र नाम का एक चैत्य था । जो कि ध्वजा घंटय पताका लोभहस्त-मोरपिच्छी और बेंदिका आदि से सुशोभित था । चैत्य के अन्दर की भूमि गोमयादि से लिपी हुई थी और दीवारों पर श्वेत रंग की चमकीली मिट्टी पोती हुई थी, और उन पर चन्दन के थापे लगे हुए थे । वह चैत्य चन्दन के सुन्दर कलशों से मंडित था और उसके हरे एक दरबाजे पर चन्दन के घड़ों के तोरण बन्धे हुए थे । उसमें ऊपर नीचे सुगन्धित पुष्पों की बड़ी २ मालायें लटकाई हुई थीं । पाँच वर्ण के सुगन्धि वाले फूल और उत्तम प्रकार के सुगन्धि युक्त धूपों से वह खूब महक रहा था । वह चैत्य अर्थात् उसका प्रान्त भाग नट नर्तक जल्ल मल्ल मौष्ठिक विदूषक तथा कूदने वाले, तरनेताले, ज्योतिषी, रास पाने वाले, कथा करने वाले, चित्रपट दिखाने वाले, वीणा बजाने वाले, और गाने वाले भोजक आदि लोगों से व्याप्त रहता था यह चैत्य अनेक लोभों में और अनेक देशों में बिख्यात था, बहुत से भक्त लोग वहाँ आहुति देने, पूजा करने, वन्दना करने और प्रणाम करने के लिये आते थे । वह चैत्य बहुत से लोगों के सत्कार सम्मान एवं उपासना का स्थान था, तथा कल्याण और मंगल रूप देवता के चैत्य की भाँति विनयपूर्वक पर्युपासनीय था । उसमें दैवी शक्ति थी और वह सत्य एवं सत्य उपासना अर्थात् उपासकों की लौकिक कामनाओं को पूर्ण करने वाला था, वहीं पर हजारों बज्रों का भाग नैवेद्य के रूप में अर्पण किया जाता था; इस प्रकार से

अनेक लोग दूर दूर से आकर इस पूर्णभद्र चैत्य की अर्चा पूजा करते थे (१) ।

(१) भगवती तथा दूसरे अंगसूत्रों में जहाँ २ इस प्रकार के चैत्य का किसी दूसरे नाम से उल्लेख किया है (जैसे कि 'गुणसिलिए चैइए, पुफ्फ बइए चैइए' इत्यादि) वहाँ उसका वर्णन या स्वरूप औपपातिक सूत्र के उक्त उल्लेखानुसार ही समझने का आदेश है । अन्तकृद्दशा सूत्र में मुद्गरपाणियक्ष के मन्दिर का उल्लेख करते हुए वहाँ इसी औपपातिकसूत्रगत वर्णन का निर्देश किया है यथा—

“तस्सणं पुफ्फरामस्स अदूरसामंते तत्थणं अज्जुणस्स मालागारस्स अज्जत्तं पज्जत्तं पियं पज्जयागए अर्धमकुलपुरिसपरम्पराए मीमंगर पाणिसस्स जक्खस्स जक्खाययणे होत्था । पोसाणे दिग्गे सच्चं जह्म पुण्ण भद्दे ।”

अर्थात्—अर्जुन माली के उस पुष्पाराम-पुष्पघाटिका के अतिसमीप में ही अर्जुनमाली के बड़े बड़े पितृभिक्षादि वंशपरम्परा से चला आने वाले पूर्णभद्र चैत्य के समान अर्थात् प्राचीन देवीसमिन्त काला सञ्जय मुद्गरपाणि नाम के यक्ष का एक मन्दिर था । उसमें मुद्गरपाणि यक्ष की मूर्ति प्रतिष्ठित थी । इस उल्लेख से यह भी भली भाँति सिद्ध होता है कि उस समय अंगसूत्रों के रचने-काल में-जनता में यक्षों की-व्यन्तरदेवों की पूजा का विशेष प्रचार था । उनके प्राचीनतम मन्दिर थे और उनमें यक्षादि देवों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थी, लोग उनकी सेवा पूजा बड़ी श्रद्धा से करते थे । उनको इन देवमूर्तियों में प्रत्यक्षफल देने का विश्वास था, एवं धन-पुत्रादि ऐहिक सुखप्राप्ति के निमित्त वे उनकी भक्ति करते और उनको बहु प्राप्त भी हो जातों । अर्जुनमाली की स्त्री के साथ अत्याचार करने वालों का मुद्गरपाणि यक्षदेव के द्वारा किस प्रकार प्रतिकार हुआ, और कुलसा की भक्ति से प्रसन्न होकर हरिष्येगमैषी देव ने उसके निर्वृत्तपन-मृतवत्साधन को कैसे दूर किया, इसका वर्णन अन्तकृद्दशा नाम के अंगसूत्र में बहुत ही अच्छी तरह विस्तार से किया गया है । इसी प्रकार ज्ञाता-धर्मकथाज्ञ को देखने से भी विदित होता है कि उस समय जनता में शिव, स्कन्द,

इस उल्लेख से चैत्य सम्बन्धी सारी ही बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है। आगमों में चैत्य शब्द से क्या अर्थ अभिप्रेत है, और टीकाकारों ने जिस चैत्य का व्यन्तरायतन के नाम से—उल्लेख किया है, उसका स्वरूप क्या है एवं व्यन्तरायतन से उनका क्या आशय है, तथा टीकाकारों का किया हुआ चैत्य का जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा अर्थ आगमों का, कहाँ तक अनुसरण करता है, और चैत्य का चित्ता-दाहस्थान पर बना हुआ चबूतरा या कबर वगैरह अर्थ को आगमों का भी समर्थन मिलता है कि नहीं ? इत्यादि बातों का यथार्थ निर्णय करने के लिए औपपातिक सूत्र के उक्त उल्लेख से अधिक प्रामाणिक उल्लेख दूसरा कोई देखने में नहीं आएगा। अतः इसके आधार पर चैत्य शब्द का जो अर्थ सुनिश्चित होता है वही प्रामाणिक समझना चाहिए। जैसा कि प्रथम ब्रतलम्बा मया है—अमुक शब्द का यथार्थ अर्थ क्या है, इसका निर्णय शब्द की व्युत्पत्ति की उपेक्षा उसकी प्रवृत्ति अथवा व्यवहार पर अधिक निर्भर करता है। इस दृष्टि से विचार करने पर औपपातिक सूत्र में वर्णित चैत्य शब्द का देवमन्दिर और देव-प्रतिमा अर्थ ही अधिक प्रमाणसंगत ठहरता है। अतः हमारे विचार से अत्यन्त प्राचीन और पवित्र ऐसे उपास्य देवस्थान को

नाग, श्वश्रु और कुम्भेर आदि देवों की पूजा का विशेष प्रचार था। ग्राम के बाहर किसी उद्यान में या किसी बावड़ी आदि के समीप इनके छोटे बड़े मन्दिर थे और उनमें इनकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित थीं। घनपुत्रादि की प्राप्ति के लिये लोग इनकी सेवा पूजा करते और उनके चरकी प्राप्ति भी होती; इसके लिये देखो उक्त सूत्र का पृ० ८२+३ का देवचिन्तनप्रकरण। (अगस्त्यसंहिता संस्करण)

जिसे टीकाकारों ने व्यन्तरायतन के नाम से सम्बोधित किया है—कबर स्थान कहना व मानना एक प्रकार की हिमाकत है—मिथ्याभिमान है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत वर्णन में पूर्णभद्र चैत्य के लिए “कल्याणं मंगलं देवयं चैद्यं विण्णं वज्जु वासणिज्जे—कल्याणं मंगलं देवतं चैत्यं विनयेन पर्युपासनीयम्” यह उल्लेख भी चैत्य शब्द के वास्तविक अर्थ—(मन्दिर और मूर्ति) पर पूरा प्रकाश डाल रहा है। इस सम्बन्ध में विशेष विचार आगे किया जावेगा। तब इस सारे उल्लेख का सारांश यह निकला कि टीकाकार महानुभावों ने जिस चैत्य के लिए व्यन्तरायतन शब्द का प्रयोग किया है वह किसी मरे हुए मनुष्य की कबर या चबूतरा नहीं, किन्तु उस समय में पूजे जाने वाले यक्षादि देव-विशेषों के प्रसिद्ध और अत्यन्त प्राचीन मन्दिर हैं जो कि चिता-दाहस्थान पर चिने हुए चबूतरों से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसलिए पूर्वोक्त प्रमाणों के आधार से व्यन्तरायतन का प्रामाणिक अर्थ देवमन्दिर ही सुनिश्चित होता है और वही मानना चाहिये, एवं टीकाकारों को भी उसका यही अर्थ अभिप्रेत है (१)।

(१) ओपपातिक तथा दूसरे आगमों में पूर्णभद्रादि नामों के साथ उल्लेख किये गये चैत्य शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए टीकाकारों ने चैत्य का जो अर्थ किया है उस पर से इस बात का पूरा निर्णय हो जाता है कि “व्यन्तरायतन” से टीकाकारों का आशय व्यन्तर जाति के देव-विषय के मन्दिर से है न कि किसी मूर्तक की कबर या चबूतरा वगैरह से।

ग्रन्थ—“चित्तेल्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वेति चैत्यं, संज्ञाशब्दत्वाद्देव-विम्बं तदाश्रयत्वात् तद्गृहमपि चैत्यं, तच्चेह व्यन्तरायतनं न तु भगवतामर्हता-मायतनम्” (अभयदेवसूरि—भग० श० १। उ० १)

जिनचैत्य का आगमसम्मत अर्थ

इसके अलावा सूत्रकृतांग,—समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाता—धर्मकथा, उपासकदश, अन्तकृदश, अनुत्तरोपपातिकदश, प्रश्न-व्याकरण और विपाकश्रुत इन समस्त सूत्रों में जहाँ पर “देवयं चेइयं” पाठ आया है वहाँ पर तो उसका आगम-सम्मत अर्थ देव-प्रतिमा या इष्टदेवप्रतिमा है, और जहाँ पर “गुणसिलए चेइए” “मणिभद्दे चेइए” इत्यादि पाठ हैं वहाँ पर उनका वही ऊपर दिया गया व्यन्तरायतन अर्थ समझना । परन्तु जहाँ पर केवल चैत्य, जिनचैत्य, या अरिहन्तचैत्य पाठ देखने में आता है वहाँ पर तो उसका जिनप्रतिमा या जिनमन्दिर अर्थ ही अधिक युक्ति-युक्त और प्रकल्पसंगत दिखाई देता है । अतः आगमों में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द की प्रवृत्ति में चिता-दाहस्थान को कोई अवकाश नहीं है । जहाँ तक हम देख पाए हैं आगमों में उसका—चैत्य का इस अर्थ में कहीं पर व्यवहार ही नहीं देखा गया, परन्तु जब हम प्रस्तुत पुस्तक में अपने विद्वान् मित्र का निम्नलिखित उल्लेख पढ़ते हैं तब हमें बहुत आश्चर्य होता है । आप लिखते हैं—

“इन अंगों में मात्र दो चार स्थल ही ऐसे हैं कि जहां चैत्य शब्द से “जिनचैत्य” (जिनकी चिता पर चिना हुआ स्मारक-चिन्ह) समझा जा सकता है, तथा जहां पर अरिहन्त चैत्य” ऐसा स्पष्ट पाठ मालूम होता है वहां तो बड़ा अर्थ (अरिहन्तों की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह) अनायास सिद्ध ही है” (पृष्ठ १४१)

हम ऊपर अनेक सबल प्रमाणों द्वारा वह अच्छी तरह से सिद्ध कर आए हैं कि—“चिन्ता पर चिन्ता हुआ स्मारक चिन्त” यह चैत्य शब्द का मूल-प्रवान और प्राचीनतम अर्थ नहीं है, अन्य अर्थों की भांति कोषों में उसका एक, वह भी अर्थ किया है परन्तु किसी जैनोपनिषद् में उसका इस अर्थ में व्यवहार देखने में नहीं आता। इसके अतिरिक्त जैनसिद्धान्त के अनुसार तो आगमों में ऐसे स्थानों पर भी चैत्यों की विद्यमानता का उल्लेख है कि जहाँ पर कभी मनुष्य की मृत्यु का सम्भव ही नहीं (१) : (हमारे मित्र भी जैनोपनिषद् के उस उल्लेख से अपरिचित नहीं, किन्तु भली भाँति सुपरिचित हैं) ऐसे स्थल के चैत्य के लिये आप कहाँ से और किस धर्मवीर की भस्म लावेंगे ? हमारे ब्याल से तो इस विषय में आपके लिये सिर्फ दो ही मार्ग हैं, या तो आप आगमों की मान्यता को तिलांजलि दे दें अथवा चित्तभस्म का व्यामोह छोड़ दें। भगवतीसूत्र (२०।९) के जंघाचारण और विद्याचारण मुनियों की लब्धि के वर्णन-प्रसंग में आये हुए—“तहि चेट्याइ-वदइ (२)”—(तत्र चैत्यानि वन्दते) पाठों के

(१) इसके लिये देखो स्थानोपनिषद् ४।२ गत नन्दीश्वर द्वीप के सिद्धाय-तनों, शाश्वते जिनभवनों और शाश्वती जिनप्रतिमाओं का वर्णन प्रसंग पृ० २३० से ३३ तथा भगवतीसूत्रगत विद्याचारण और जंघाचारण की लब्धि का प्रसंग (श० २० उ० ९ प० ११९) [श्रीरायचन्द्र जि० संग्रह]

(२) (प्र०) विज्जाचारणस्स णं भत्ते ! उड्ढं केवत्तिह गतिविसए पत्तते ? (उ०) गोमथा ! से णं इओ एगेणं उप्पत्तएणं नंदववणे समो सरणं करेइ, नंद २ करेत्ता तहि चेट्याइ वदत्ति, तहि० वदत्तिस्स चित्तिपुणं उप्पत्तएणं वडववणे समो-

चैत्यों का चिता स्थान से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं, और ना ही सम्भव हो सकता है। एवं इस स्थल पर उल्लेख किए गए चैत्य शब्द का जिनचैत्य अर्थात् जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा अर्थ ही सर्वप्राचीन मुख्य और आगमसम्मत प्रतीत होता है। इसके सिवा उसका “जिन की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह” अर्थ करना तो आगमों की प्रत्यक्ष रूप से अवहेलना करना है। जब कि वहाँ पर चिता का सम्भव ही नहीं है तब वहाँ चितास्थान आएगा कहाँ से ? जैनागमों में शाश्वते चैत्यों का वर्णन है, इससे कोई भी विद्वान् इनकार नहीं कर सकता, ये चैत्य चिता के सम्पर्क से बिल्कुल शून्य हैं। इनका चितास्थान पर निर्मित होना कल्पना में भी नहीं आ सकता। ऐसी अवस्था में केवल—“चित्पाया इदं चैत्यम्” इस व्युत्पत्ति के द्वारा उपलब्ध होने वाले अपूर्ण और अप्रधान अर्थ को मुख्य मान कर जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा के अर्थ में व्यवहृत होने वाले इस आगमगत चैत्य शब्द का भी “जिन की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह” अर्थ करना हमारे ख्याल में जैनागमों और जैनसिद्धान्त से प्रत्यक्ष बगावत करना है।

विषम भूल की परीक्षा

हमारे विद्वान् मित्र का कथन है कि जिनचैत्य या अरिहन्त-चैत्य का, जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा अर्थ करना टीकाकारों की बड़ी भारी भूल है ! आप लिखते हैं—

सरणं करेइ, पंडग० २ करेता तहि चेइयाइ बंदइ, तहि० २ बंदिता तयो पडि-
नियत्तति, तयो पडिनिमत्तित्ता इहमागच्छइ, इहमागच्छिइ, इह चेइयाइ बंदति ।
विज्जाचारिणस्स जं गोयमा ! उड्ढं एवस्सिइ गतिविमए पन्नत्ते ।

“यद्यपि टीकाकारों ने जिनचैत्य या अरिहन्तचैत्य का जिनप्रतिमा या जिनमंदिर अर्थ किया है सो सही है, परन्तु अंगों में आये हुए चैत्य शब्द का इस तरह अर्थ करते हुए उन्होंने जो विषम भूल की है उसे मैं अब आप के सामने रखूँगा” इत्यादि पृ० १४१

समीक्षा—

जहाँ तक हमारा आगमों का परिशीलन है हम यह बलपूर्वक कह सकते हैं कि टीकाकार महानुभावों ने आगमों में उपलब्ध होने वाले चैत्य शब्द का जहाँ जहाँ पर जो २ अर्थ किया, जो २ व्याख्या की है वह नितराय प्रकरणसंगत और आगमसम्मत है। उन्होंने अंगसूत्रों में आये हुए चैत्य शब्द का अर्थ करने में लेशमात्र भी कहीं पर खँचातानी की हो ऐसा बिलकुल देखने में नहीं आता, ऐसी दशा में उनके किये हुए आगमसम्मत अर्थ को भूल भरा-प्रामादिक बतलाना हमारे ख्याल में उनसे-टीकाकार महानुभावों से सरासर अन्याय करना और उनकी प्रामाणिकता पर बलात्कार करना है।

हम ऊपर अनेक सबल प्रमाणों से इस बात को पुष्ट कर आये हैं कि—“चितास्थान पर बनाया गया स्मारक चिन्ह” यह चैत्य शब्द का न तो मुख्य और प्राचीनतम अर्थ है और ना ही इस अर्थ में उसका जेनागमों में कहीं पर व्यवहार ही हुआ है। तब हमारे मित्र ने टीकाकारों पर जो विषम भूल का अपवाद लगाया है उसके सम्बन्ध में (आप ही के शब्द में कुछ हेर-फेर करके) हम इतना ही कहनापय्यति समझते हैं कि—

विद्वान् टीकाकारों ने जिनचैत्य या अरिहंतचैत्य का जो जिनप्रतिमा या जिनमन्दिर अर्थ किया है वह सही है अर्थात् उनका यह अर्थ सर्वथा आगमसम्मत और प्रकरणसंगत है, तथा अंगों में आये हुए चैत्य शब्द का इस तरह अर्थ करते हुए उन्होंने जिस प्रामाणिकता का परिचय दिया है वह उनके निर्मल ज्ञान और विशुद्ध चारित्र्य का ही आभारी है । परन्तु विपरीत इसके अंगों में आये हुए चैत्य या अरिहन्तचैत्य का आगमसम्मत जिन-मन्दिर या जिनप्रतिमा अर्थ न करके आपने उसका “जिन की या अरिहन्तों की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह” अर्थ किया है और ऐसा अर्थ करने में आपने जो विषम भूल की है उसके लिए आपको अधिक से अधिक प्रायश्चित्त करना चाहिये, क्योंकि स्वल्पबोध रखने वाली जैन जमता के हृदय में आपके इस अर्थ से जो भ्रम या विपरीत भाव उत्पन्न हुआ है उसका समस्त उत्तरदायित्व केवल आप पर ही है ।

इसके अतिरिक्त टीकाकार महामुभावों के आगमसम्मत अर्थ को आगमबाह्य और उनके अपने समय का कल्पित अर्थ बतलाना, एवं आगमों में उपलब्ध होने वाले उसके प्रवृत्ति निमित्त व्यवहार का अपलाप करके केवल व्युत्पत्तिलभ्य काल्पनिक अर्थ को ही सर्वप्रधान और सर्वप्राचीन मानना तथा इसी आधार पर चैत्य शब्द का निर्वचन करना और उसी को मुख्य बतलाना—इत्यादि सब कुछ हमारे स्माल में तो दूरग्रह पूर्ण विक्षिप्त मनोवृत्ति का ही परिणाम है जो कि सम्भवतः इस पुस्तक का लिखते समय आप में भी सा होनी चाहिये ।

देवयं चेइयं की व्याख्या

सूत्रकृतांग—

हमारे विचारप्रवीण विद्वान् बन्धु ने चैत्य को चिता का अविनाभावी बनाने के लिये अधिक से अधिक बौद्धिक श्रम उठाया है। आपको चैत्य के अर्थ में एकमात्र चिता का ही आभास होता है। आप के मत में चैत्य शब्द का इसके सिवाय—चितास्थान के सिवाय—न तो कोई दूसरा प्रधान अर्थ ही है और न कोई इतना प्राचीन, परन्तु हमारे विचार से तो आप इस विषय में बुरी तरह फेल—असफल हुए हैं। इसके लिये आप “देवयं चेइयं” की व्याख्या को पढ़िए ? सूत्रकृतांग का निर्देश करते हुए आप लिखते हैं—

“अंगसूत्रों में जहाँ पर अमुक पुरुष अमुक व्यक्ति का आदर करता है। ऐसा उल्लेख आता है वहाँ सब जगह यह (मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासति) उल्लेख दिया हुआ है। इसका अर्थ यह होता है कि जो उपासक है वह अपने उपास्य की मंगल के समान मांगलिक रीति से और देवता के समान तथा चैत्य के समान वा देव के चैत्य के समान पर्युपासना करता है। अर्थात् जैसे धर्मवीर और कर्मवीर पुरुषों के चैत्यदेव हुए, बाद उनकी चिता पर चिनाए हुए स्मारक—पर्युपास्य हैं त्यों यह उपास्य भी उस उपासक को पर्युपास्य हैं (१)” (पृ० १४१—२)

(१) “जो उपासक छे ने पोतना ‘उपास्य’ नी मंगलनी पेठे मांगलिक रीते अने देवतानी पेठे तथा चैत्यनी पेठे वा देवना चैत्यनी पर्युपासना करे छ। अर्थात् जेम धर्मवीर अने कर्मवीर पुरुषोना चैत्यो देव थया पछी तेओनी चिता ऊपर चणाएलं स्मारको पर्युपास्य छे तेम ए उपास्य पण ते उपासक ने पर्युपास्य छे” (मूल पाठ० पृ० १०३)

समीक्षा—हम इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली वस्तु स्थिति के सम्पूर्ण स्वरूप को अपने विचारशील पाठकों के सम्मने उपस्थित करें, इससे पूर्व ऊपर उद्धृत किये गये “देवयं चेइयं” के अर्थ की ओर ही प्रथम उनका ध्यान आकर्षित करते हैं। उद्धृत पाठ में “देवयं चेइयं” (दैवतं चैत्यं) का जो देव के समान, चैत्य के समान अथवा देव के चैत्य के समान अर्थ किया है वह तो ठीक है, परन्तु उसका तात्पर्य वर्णन करते हुए जो ‘अर्थात्’ से लेकर ‘पर्युपास्य है’ तक का उल्लेख है। वह आगमसम्मत नहीं है। “तात्पर्य कि “दैवतं चैत्यं” का धर्मवीर पुरुषों के मरने के बाद उनकी चिता पर चिनाए हुए स्मारक’ अर्थ करना न तो आगमसम्मत है और ना ही प्रकरणसंगत दिखाई देता है, इसका तो सीधा और स्पष्ट अर्थ देवमन्दिर या देवप्रतिमा ही हो सकता है, फिर वह मंदिर या प्रतिमा जिनदेव तीर्थंकर आदि का हो अथवा किसी व्यन्तर जाति के देव-विशेष का हो। यह अर्थ प्रकरणसंगत के होने के साथ २ आगमानु-मोदित भी है (इस पर अधिक विचार आगे चल कर किया जावेगा)। अस्तु, थोड़े समय के लिये हम यही मान लेते हैं कि हमारे विद्वान् श्रित्र ने “देवयं चेइयं-दैवतं चैत्यम्” का जो अर्थ अथवा तात्पर्य बतलाया है वही यथार्थ है। परन्तु इस अर्थ व तात्पर्य में जो २ दोष उपस्थित होते हैं उनका कोई सबल परिहार हमें नहीं सूझता।

१ ‘देवयं’ और ‘चेइयं’ इन दोनों पदों को यदि अलग अलग मानें अर्थात् इनका परस्पर विशेषण भाव स्वीकार न करें तो प्रकरणानुसार पहले पद का अर्थ होगा देवता की तरह और दूसरे का अर्थ होगा चिता पर चिनाए हुए स्तूप,

चबूतरे या कबर आदि की तरह पर्युपास्य है। किसी पूज्य व्यक्ति या वस्तु-विशेष के लिये यह कहना कि वह देवता की तरह पर्युपास्य अर्थात् उपासना के योग्य है बहुतो उचित प्रतीत होता है, किन्तु इसके साथ यह भी कहना कि वह चैत्य अर्थात् चिता की राख, अथवा चिता पर बनाए गये चबूतरे या कबर वगैरह की तरह उपासना के योग्य है—कहाँ तक उचित है इसका निर्णय हमारी अपेक्षा पाठकगण अच्छी तरह कर सकते हैं।

२. और यदि इन दोनों को अलग-अलग मान कर परस्पर में सम्बद्ध मानें अर्थात् इनके विशेष्य विशेषण रूप सम्बन्ध को स्वीकार करें, तब तो “देवता” यह “चैत्य” का विशेषण होगा और चैत्य उसका विशेष्य बनेगा। इस अवस्था में समुचित वाक्य का अर्थ होगा, देवता-सम्बन्धी चैत्य। और प्रकरण के अनुसार उसका यह अर्थ होगा कि वह—(पूजनीय व्यक्ति) उपासक के लिये देवता के चैत्य की तरह पर्युपास्य है। परन्तु चैत्य का अर्थ यदि चिता पर की राख (चिता-भस्म) या उस पर चिनाया गया चबूतरा अथवा कबर, वगैरह हो तो संमिलित वाक्य का बलात् यह अर्थ करना पड़ेगा कि वह आदरणीय व्यक्ति-उपासक या श्रद्धालु के लिये देवता की चिता पर की राख—भस्म, या देवता की चिता पर चिनाया गया चबूतरा अथवा देवता की कबर की तरह पर्युपास्य है।

इस अर्थ के लिये पहले तो हमें आत्मकों में देवताओं की चित्तों का पता लगाना होगा, फिर उन पर चिनाये गये चबूतरे या कबरें ढूँढनी होंगी। तब कहीं जाकर हम अपने विद्वान् बन्धु के इस अर्थ को सार्थक करने में सफल हो

सकेंगे । परन्तु बहुत परिश्रम करने पर भी हम इस विषय में सफल नहीं हो सके । हमें न तो आगमों में कहीं देवों का समान स्थान ही मिला और ना ही उनके कबरस्तान के दर्शन हुए ।

१. हम अभी तक यह नहीं समझ सके कि हमारे विद्वान् बन्धु ने “देवचैत्य” का “धर्मवीर और कर्मवीर पुरुषों की चिता पर चिमाये गये स्मारक (चबूतरे कोरह)” अर्थ किस आधार पर किया है । इसका तो देवमन्दिर अर्थ प्रत्यक्ष रूप से भासमान हो रहा है, भला आप यह तो बतलायें कि उपासना और पूजा में क्या अन्तर है ? क्या जिनकी हम उपासना करते हैं वे हमारे लिये पूजनीय नहीं हैं ? अथवा जिसकी हम पूजा करते हैं वह हमारा उपास्य नहीं हो सकता ? यदि पूज्य और उपास्य में कोई विशेष अन्तर नहीं तो उपासना और पूजा में भी कोई अन्तर नहीं होना चाहिये । तब आपके इस कथन का क्या अर्थ है कि “हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजने के लिये नहीं, बल्कि उन मरने वाले महापुरुषों की यादगार के तौर पर निर्माण किये थे, परन्तु बाद में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई थी और वह आज तक चली आ रही है ।” (पृ० १५९)

यहाँ पर तो आप इन्हें चैत्यों को स्पष्ट शब्दों में पर्युपास्य—उपासना के योग्य बतला रहे हैं । क्या आपको उपासना तथा पूजा में कोई विशेष अन्तर प्रतीत होता है ? यदि धर्मवीर पुरुषों के चैत्य—देव हुए बाद उनकी चिता पर चिमाये हुये स्मारक पर्युपास्य हैं तो फिर वे कौन से चैत्य हैं जिन्हें आपके पूर्वजों ने केवल यादगार के लिए निर्माण कराया था ? आपके कथनानुसार तो इतमें कोई भी अन्तर प्रतीति होता नहीं । एक तरफ तो आप इन

चैत्यों को केवल मरे हुए पुरुषों की यादगार मात्र बतला कर उनकी उपास्यता का निषेध कर रहे हैं और दूसरी तरफ आगमों के आधार पर उन्हें उपास्य अर्थात् उपासना के योग्य बतला रहे हैं। क्या यह उपास्यता इनमें पहले से ही थी या बाद में आई? अथवा यादगार वाले चैत्य इन उपासनीय चैत्यों से पृथक् ही हैं। यदि इनकी पूजा-उपासना बाद में प्रारम्भ हुई है तो आगमों में इन्हें उपास्य एवं वन्दनीय क्यों कहा गया? जिन चैत्यों को सर्वज्ञकल्प गणधरभाषित आगम ग्रंथों में पर्युपास्य अर्थात् पूजनीय बतलाया गया है, उन्हें केवल यादगाररूप बतलाने वाले आप कौन? क्या आप के पास इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण है कि जिसका यह अर्थ हो सके कि ये चैत्य केवल यादगीरी के लिये ही निर्माण किये गये थे, सेवा पूजा के लिए नहीं। जब कि आगमों में उन्हें स्पष्ट रूप से उपास्य एवं वन्दनीय बतलाया गया है।

४ इसके अलावा आपने “देवयं चेइयं” का अन्यत्र (भगवतीसूत्र में) जो अर्थ किया है वह इस अर्थ से बिल्कुल मेल नहीं खाता। वहाँ पर आप “देवयं-दैवतं देव का अर्थ दिव्य प्रभाव वाला” और “चेइयं-चैत्यं-चैत्य का अर्थ इष्ट देव की प्रतिमायुक्त” किया है; (१) इसके अनुसार तो (“देवयं चेइयं”) देवचैत्य का भावार्थ यह हुआ कि जो दिव्यप्रभाव वाला हो और जिसमें इष्टदेव की

(१) देखो व्याख्याप्रज्ञप्ति-भगवतीसूत्र के फुटनोट में आपका निम्नलिखित उल्लेख—अर्थात् औपपातिकसूत्रगत पूर्णभद्र चैत्य के वर्णन प्रस्ताव में आये हुए—(“कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्ज”) इस पाठ का निम्नलिखित अर्थ—

कल्याण तथा मंगल ने करनाहं, दिव्य प्रभाववाला, इष्टदेवनी प्रतिमायुक्त अने विनीतभावे पूजातुं”.....ते चैत्यहत्तुं” (खं० २ पृष्ठ. २)

प्रतिमा विराजमान हो उसे देवचैत्य कहते हैं। हमारे ख्याल से तो यही अर्थ ठीक है। इसमें “देवयं-दैवतं” का देव सम्बन्धि-अर्थ के अलावा-दिव्य शक्तिवाला अर्थ भी हो सकता है और (चेइयं) चैत्य का “इष्टदेव की प्रतिमा से युक्त” अर्थ तो प्रकरण और युक्तिसंगत है ही परन्तु हमारे विद्वान् बन्धु- (जिनको चितास्थान पर बनाया गया स्तूप, चबूतरा या कवर वगैरह के सिवा चैत्य का दूसरा कोई प्रधान और प्राचीन अर्थ ही प्रतीत नहीं होता) ने भी इस स्थान पर अपनी मनोवृत्ति को उदार और विवेकानुगामिनी बनाने में कोई कमी नहीं रखी। क्या ही अच्छा होता अगर इसी प्रकार से अन्यत्र भी यह उदारता व्यवहार में लाई जाती।

५ तथा राजप्रश्नीय सूत्र की व्याख्या में उक्त वाक्य—

*** कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे**
 का आपने जो अर्थ किया है वह है तो यथार्थ, परन्तु पूर्वोक्त अर्थ से विलक्षण है। औपपातिक वर्णित चम्पा में होने वाले पूर्णभद्र चैत्य की तरह आमलकला नगरी के बाहर ईशान कोण में रहे हुए अतिप्राचीन आम्रशाल वन चैत्य नाम के एक यक्ष-देवमंदिर के वर्णन-प्रस्ताव में प्रयुक्त किये गये —(“वंदणिज्जे, नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सक्कारणिज्जे सम्माणणिज्जे कल्लाणं मंगलं

* “कल्याणं मंगलं दैवतं चैत्यं (इव) तिनयेन पर्युपासनीयम्” यह आपकी दी हुई संस्कृत छाया है, जिसमें (इव) शब्द का अधिक निर्देश किया है, जो कि अर्थसंगति के लिये अधिक आवश्यक है। इसके बिना वाक्यार्थ की संगति लगाना यदि असंभव नहीं तो कठिनतर अवश्य है। औपपातिक सूत्रगत उक्त पाठ का अर्थ करते हुए आपने इस (इव) की ओर ध्यान नहीं दिया जो कि नितान्त आवश्यक था।

देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासणिज्जे”) इन पदों का आपने गुजराती भाषा में इस प्रकार अर्थ किया है—

“घणा अहोता लोको त्यां आहुति देवा, पूजा करवा अने नमन करवा आवता घणा लोकोनुं ए सत्कारनुं सन्माननुं अने उपासनानुं स्थान हतुं,—कल्याण अने मंगलरूप एवा देवता सम्बंधि चैत्यनी पेठे ए, विनयपूर्वक पर्युपासनाने योग्य हतुं” (रायपसेणइय सुत्तनोसार पृ० ६-७)

इसका भावार्थ यह है कि बहुत लोग वहां—उस चैत्य में (यक्षदेव के मंदिर में) आहुति देने, पूजा करने, वन्दना करने और नमस्कार करने को आते, वह चैत्य बहुत से लोगों के लिये सत्कार, सन्मान और उपासना का स्थान था; एवं कल्याण और मंगलरूप देवता सम्बंधि चैत्य की तरह वह विनयपूर्वक उपासना करने के योग्य था । अर्थात् जैसे देवता का चैत्य कल्याण और मंगलरूप है और जैसे उसकी विनयपूर्वक उपासना की जाती है उसी प्रकार उस आम्रशालबन नाम के चैत्य की भी बड़े विनीत भाव से सेवा पूजा करते थे ।

अच्छा, अब दोनों अर्थों में विलक्षणता देखिये ?— ऊपर उद्धृत किये गये दोनों आगम पाठ समान हैं और दोनों का एक ही विषय से सम्बन्ध है, सिर्फ नाम मात्र का अन्तर है । औपपातिकसूत्र में पूर्णभद्र चैत्य का नाम है, और राजप्रश्नीय में आम्रशालबन नाम के चैत्य का निर्देश है । अतः इन दोनों स्थानों में न तो पाठभेद है और न अर्थभेद । परन्तु हमारे श्रद्धेय पंडित जी ने दोनों स्थानों का मूल पाठ समान होने पर भी उसका अर्थ जुदा २ किया है । पहले अर्थ में तो

अपने “कल्याणं मंगलं देवयं चेइयं” आदि सब पूर्णभद्रचैत्य-
(व्यन्तरायतन) के ही विशेषण बना दिये हैं । और दूसरे अर्थ में
कल्याण मंगलादि को दूसरे चैत्य के विशेषण बनाकर व्यन्त-
रायतन को उसके समान वन्दनीय और उपासनीय बतलाया है; (१)
ऐसा अर्थ भेद क्यों ? और किस लिये ? इसके सिवा यहां पर “देवता
संबन्धि चैत्य” का अर्थ भी विचारणीय है । क्या यहां पर भी उसका
“दिव्य प्रभाव वाला और इष्टदेव की प्रतिमा से युक्त” अर्थ ही
अभिप्रेत है या कि कोई दूसरा ? पहले अर्थ के अनुसार तो उसका

(१) पाठकों की विचार-सुविधा के लिये उक्त अर्थभेदसूचक दोनों
पाठ नीचे दिये जाते हैं—

(क) औपपातिक—“ते चैत्य ते देशना अने बीजा देशोना जनोमां
ख्याति पात्र हतुं, तेमज आहुत आपनारा घणा लोकोनुं आहुति तथा
प्राहुति नुं स्थान हतुं, तथा तेओनी अर्चा स्तुति नमस्कार पूजा सत्कार अने
सन्माण ने योग्य हतुं; कल्याण तथा मङ्गल ने करनां दिव्य प्रभाव
बालुं; इष्ट देवनी प्रतिमायुक्त अने विनीत वावे पूजानुं” (भगवती खं० २ पृ० २)

(ख) राजप्रशनीय—एचैत्य घणां लोकोमां अने अनेक देशोमां
प्रख्यात हतुं, घणा आहोता लोकोत्यां आहुतिदेवा, पूजाकरवा, बन्दनकरवा,
अने नमन करवा, आवता, घणा लोकोनुं ए सत्कारनुं, सन्माननुं अने उपा-
समानुं स्थान हतुं । कल्याण अने मङ्गलरूप एवा देवता सम्बन्धि चैत्यनी
पेठे ए, विनय पूर्वक पर्युपासवाने योग्य हतुं । (गयमसेनइय सुत नो
सार पृ० ६-८)

इन दोनों में अर्थागत भेद विस्पष्ट है । हमारे विचार से तो ये
दोनों ही अर्थ ठीक हैं परन्तु पहले की अपेक्षा दूसरा अर्थ अधिक संगत है ।
क्योंकि “कल्याणं मङ्गलं देवतं चैत्यं” का “विनयेन पर्युपासनीयम्” के साथ
जो सम्बन्ध है वह ‘इव’ के अध्याहार से जितना सुसंगत हो सकता है उतना
उसके बिना नहीं होता ।

यह भावार्थ होगा कि—आमलकल्पा नगरी का वह चैत्य—उस चैत्य की तरह पर्युपासनीय है जो कि कल्याण और मंगलरूप दिव्य प्रभाव वाली इष्टदेव की प्रतिमा से युक्त है। इस अर्थ में हमें तो कोई आपत्ति नहीं, हमें तो यह अर्थ इष्ट ही है; परन्तु हमारे मित्र को यह बहुत महंगा पड़ेगा जिस अर्थ के करने से आपने विद्वान् टीकाकारों को विषमभूल का पात्र बनाने का साहस किया, तथा जिस अर्थ को आप आधुनिक, कल्पित और आगमविरुद्ध बतला रहे हैं। उसी अर्थ को स्वयं भी स्वीकार करें तो इसमें भूल का पात्र कौन और आगम-विरुद्ध अर्थ का प्ररूपक कौन ? इसका आप ही विचार करें। पूज्य अभयदेवसूरि और आचार्य मलयगिरिजी आदि विद्वानों ने तो यहां चैत्य का अर्थ इष्टदेव की प्रतिमा ही किया है (१) और उसी अर्थ का अनुसरण यहां पर हमारे विद्वान् मित्र कर रहे हैं। इस दशा में चैत्य का चिता स्थान पर का स्मारक अर्थ कभी प्रामाणिक सिद्ध नहीं ठहर सकता। हमारे विद्वान् मित्र ने चैत्य का जो अर्थ यहां पर किया है, अगर वह यथार्थ एवं आगमसम्मत है तब तो उनके पूर्वोक्त कथन का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। और यदि उनके मत में चैत्य का

(१) (क) कल्याणं अर्थहेतुः मंगलं अनर्थप्रतिहेतुः दैवतं-देवः चैत्यम्-इष्ट-देवप्रतिमा इत्यादि (अभयदेवसूरिकृत औपपातिकसूत्र वृत्ति पृ० ४)

(ख)—कल्याणं कल्याणहेतुं, मंगलं दुरितोपशमहेतुं दैवतं दैवं चैत्यं इष्टदेवप्रतिमा, चैत्यमिव चैत्यं पर्युपासयामहे, एतत् भ० श० २ उ० १ स्कन्दकाधिकारे। मलयगिरी का उल्लेख देखो जीवाभिमम पृ० २३०

१ भ० २।१ पृ० २४८ में हमारे मित्र ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया है—तथा कल्याणना हेतु-कल्याणरूप, पापनी शान्तिमां निमित्त-मंगल-रूप, दैवतरूप श्रमण भगवन्तनी चैत्यनी-इष्टदेवनी मूर्तिनी पेठे पर्युपासना करिये।

पूर्वोक्त—चितास्थान पर का स्तूप या चबूतरा आदि अर्थ ही प्रधान एवं सर्वप्राचीन है तब उनके इस कथन में कोई सार नहीं रहता । क्या हम अपने विद्वान् बन्धु से यह पूछ सकते हैं कि चैत्य शब्द का आगमसम्मत मुख्य और प्राचीन अर्थ चितास्थान पर चिनाया गया स्तूप, चबूतरा या कबर वगैरह है अथवा दिव्य प्रभाव वाली इष्टदेव की प्रतिमा युक्त मन्दिर विशेष ? दोनों ही अर्थ आपके किए हुए हैं, इन दोनों में जो विभिन्नता दिखाई देती है वह किसी और व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती । इष्टदेव की प्रतिमा अर्थ में जहां चैत्य शब्द का व्यवहार होता हो वहां चिता के सम्पर्क का तो स्वप्न में भी ध्यान नहीं आ सकता, इस लिये प्रस्तुत पुस्तक में “देवयं चेइयं” का आपने जो तात्पर्यार्थ किया है और जिस अर्थ के मुख्य और प्राचीनतम होने की आप बार २ दुहाई दे रहे हैं, एवं संभावित टीकाकारों पर असभ्य आक्षेप करने से भी आपने जिसके लिये संकोच नहीं किया, वह कितना बोदा और निस्सार है इसके लिये अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रही । “जादू वह जो सिर चढ़ बोले” इस लोकोक्ति के अनुसार आपके इस दूसरे आगमसम्मत अर्थ ने (जो कि औपपातिक और राजप्रश्नीय सूत्रगत “देवयं चेइयं” का आपके द्वारा किया गया है) ही आपके प्रधान और प्राचीनतम (चितास्थान पर चिनाये गये चबूतरे वगैरह) अर्थ की अच्छी तरह से पोल खोल दी है अर्थात् उसे कल्पित सिद्ध कर दिया है । इसके सिवा यहां पर एक और बात भी विचारणीय है, वह यह कि औपपातिक और राजप्रश्नीय सूत्र के इन पाठों में चैत्य शब्द दो बार प्रयुक्त हुआ है । उसमें प्रथम चैत्य को अर्थात् पूर्णभद्र चैत्य को देवता के चैत्य की तरह पूजनीय बतलाया गया है, इससे दोनों में विभिन्नता या विलक्षणता अवश्य सिद्ध होती है । यदि इनके स्वरूप में कुछ भेद न हो तो इनका उपमा-

नोपमेय भाव ही संघटित नहीं हो सकता । जैसे—यह पुरुष पुरुष के समान पूजनीय है इसका कुछ अर्थ नहीं होता, उसी प्रकार यह चैत्य, चैत्य के समान पर्युपास्य है इसका भी कुछ अर्थ नहीं होगा; और जिस प्रकार यह पुरुष देवता की तरह पूजनीय है इस वाक्य में देव और पुरुष का परस्पर भेद दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार पूर्णभद्र-चैत्य, कल्याण और मंगलरूप देव चैत्य की तरह उपासना के योग्य है, इस वाक्य में भी पूर्णभद्र चैत्य और देव चैत्य में विभिन्नता है और होनी चाहिये । अगर इन दोनों का स्वरूप भिन्न २ है तो इनका अर्थ भी विभिन्न ही होगा । इस सिद्धान्त के अनुसार दोनों चैत्य शब्दों की अर्थविचारणा से जो निष्कर्ष निकलता है, उसको ध्यान में रखते हुए ही टीकाकार महानुभावों ने पहले का “पूर्णभद्रं चैत्यम्” में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द का व्यन्तरायतन यक्षमंदिर अर्थ किया है और दूसरे का “देवयं चेइयं—दैवतं चैत्यं” में प्रयुक्त चैत्य का इष्टदेव प्रतिमा अर्थ किया है, जो कि हमारे विद्वान् बन्धु को भी अभिमत है । ऐसी परिस्थिति में इस अर्थ को न तो प्रकरणविरुद्ध और नां ही टीकाकारों के समय का रूढ़ अर्थ ही कह सकते हैं, और नां ही इसे आगमविरुद्ध कहने का साहस किया जा सकता है; क्योंकि इस स्थल में उसका—चैत्य का इसी अर्थ में व्यवहार हुआ है । अगर यहां पर केवल व्युत्पत्ति को लेकर उसका चिता स्थान पर का चबूतरा आदि अर्थ माना जाय तो उक्त सूत्रों में उसका जो वर्णन दिया गया है वह सभी निरर्थक ठहरेगा । अतः प्राचीन आगमों में चैत्य शब्द का “चितास्थान पर बनाये गये स्मारक” अर्थ में व्यवहार नहीं किया; किन्तु देवमन्दिर और देवप्रतिमा अर्थ में व्यवहार किया है । इस पर अधिक विवेचन हम आगे चल कर करेंगे ।

(६) इसके अतिरिक्त राजप्रशनीय सूत्र में भगवान् महावीर

स्वामी को चैत्यरूप और देवरूप भी बतलाया है (१)। अगर चैत्य शब्द का मुख्य और प्राचीन अर्थ चितास्थान पर चिनाये गये स्तूप, चबूतरे या कबर वगैरह ही होता और आगमकार को भी उसका यही अर्थ अभीष्ट होता तो पूर्ण ज्ञान और यथाख्यात चारित्र्य की सजीव मूर्ति श्रमण भगवान् महावीर स्वामी चैत्यरूप से कभी निर्दिष्ट न किये जाते । अतः चैत्य का जो अर्थ हमारे मित्र कर रहे हैं, हमारे ख्याल में न तो वह मुख्य और प्राचीन ही है और ना ही उस अर्थ में उसका किसी आगम में व्यवहार हुआ है। उसका आगमसम्मत अर्थ तो देव-मंदिर या देवप्रतिमा है जिस से हमारे मित्र को संभवतः कुछ अंगत द्वेष है। इस प्रकार की अनेक आपत्तियों “देवयं चेइयं” के उक्त अर्थ में—चितास्थान पर चिनाये गये स्मारक अर्थ में उपस्थित होती हैं जिनका निवारण करना हमारे मित्र के लिये जरूरी था और है।

(१) इसके लिये देखो निम्नलिखित मूल पाठ और उसका पं० बेचरदासजी का किया हुआ गुजराती भाषान्तर—

“तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि णमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं चेतियं देवयं पज्जुवासामि” (पृ० ५२)
भाषान्तर—तोहूँ श्रमण भगवान् महावीर ने वांदना, नमवा, सत्कार करवा तथा कल्याणरूप, मंगलरूप, चैत्यरूप अने देवरूप श्रमण भगवान् महावीर नी पर्युपासना करवा जाऊं इत्यादि ।

इस पाठ में श्रमण भगवान् महावीर को कल्याणरूप, मंगलरूप, चैत्य-रूप और देवरूप कहा है; अगर मरे हुआ की चिताओं पर के चबूतरे या कबरों ही चैत्य का मुख्य और आगमसम्मत अर्थ हो तो हमारे विचार में भगवान् महावीर को चैत्यरूप बतलाना उनकी बड़ी से बड़ी अवज्ञा करना है। इस विषय पर आचार्य मलयगिरि की व्याख्या देखने योग्य है, यथा—
“कल्याणं—कल्याणकारित्वात्, मङ्गलं—दुरितोपशमकारित्वात्, देवतां—देव-त्रैलोक्याधिपतित्वात्, चैत्यं सुप्रशस्तमनोहेतुत्वात् पर्युपासितुं—सेवितुम् ।

अतः उक्त वाक्य का प्रकरणसंगत देवमंदिर या देवप्रतिमा अर्थ ही हमारे विचार में अधिक प्रामाणिक है । उसका—चैत्य का व्यवहार आगमों में प्रायः इसी अर्थ में हुआ देखा जाता है ।

वस्तुस्थिति का विचार

“देवयं चेइयं” के विषय में हमारे विद्वान् मित्र ने जो कुछ कहा है उसका दिग्दर्शन हमने अपने पाठकों को करा दिया । आपने इसका जो अर्थ प्रस्तुत पुस्तक में किया है वह कितना निर्वल और दोषग्रस्त है उसका निर्णय भी ऊपर के विवेचन से पाठक कर सकते हैं । अब हम प्रस्तुत पाठ के सम्बन्ध में वस्तुस्थिति के यथार्थ स्वरूप को पाठकों के सन्मुख उपस्थित करने का यत्न करते हैं ।

जैनागमों में जहां किसी पूज्य व्यक्ति या पूज्य वस्तु को सत्कार और सन्मान के योग्य तथा अर्चा पूजा, वंदना और नमस्कार के योग्य बतलाया है वहां सभी जगह पर (“कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं विणएणं पज्जुवासति—पज्जुवासामि—पज्जुवासेता—पज्जुवासणिज्जे”) यह पाठ आया है ।

जहां तक हमारा ध्यान है आगमों में जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पूज्य पदार्थों के लिये यह पाठ प्रयुक्त हुआ है । चेतन पदार्थों में तीर्थंकर देव और संयमशील मुनिवर्ग के लिये, जड़ पदार्थों में चैत्यों—देवमंदिर और देवप्रतिमाओं तथा जिनसक्थियों के लिये ।

भगवतीसूत्रमें श्रमण भगवान् महावीर और तीर्थंकर देवों की अस्थियों के लिये, स्थानाङ्गसूत्र में श्रमणों ब्राह्मणों के लिये और औपपातिक तथा राजप्रश्नीय आदि में व्यन्तरदेवों के चैत्यों—मंदिरों के लिये इस पाठ का उल्लेख है ।

१ श्री भगवतीसूत्र (१) में श्रमण भगवान् महावीर को चैत्य की तरह पर्युपास्य बतलाया है। यहां पर टीकाकार ने चैत्य का अर्थ-इष्टदेव की प्रतिमा किया है—(चैत्यं—इष्टदेवप्रतिमा) टीकाकार अभयदेवसूरि जी के इस अर्थ को हमारे मित्र ने भी स्वीकार किया है। (२)

२ चमरचंचा राजधानी की मुधर्मासिभा के माणवक चैत्य-स्तम्भ में वज्रमय गोल डब्बे के अन्दर रक्खी हुई जिनसक्थियों को श्रमण भगवान् महावीर ने देवों के लिये वन्दनीय, पूजनीय तथा सत्कार, सन्मान और नमस्कार के योग्य दतला कर उनकी कल्याण और मंगलरूप देव चैत्य की तरह उपासना का उपदेश दिया है (३)। तात्पर्य कि जिस प्रकार कल्याणरूप मंगलमय देवचैत्य की उपासना की जाती है उसी प्रकार जिनेन्द्र देवों की ये अस्थियें भी उपासनीय हैं।

(१) शतक २ उद्दे० १ स्कन्दक परिव्राजक के अधिकार में इस प्रकार लिखा है—(“तं गच्छामि णं समणं भगवं महावीरं वंदामि नमंsamि सेयं खलु मे समणं भगवं महावीरं वंदित्ता नमसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासेत्ता”)

अभयदेवसूरि—कल्लाण-कल्याणहेतुं, मंगलं—दूरितोपशमहेतुं, देवत्तां—दैवं, चैत्यं—इष्टदेव प्रतिमा, चैत्यमिव चैत्यं पर्युपासयामः—सेवामहे।

(२) देखो औपपातिक सूत्रगत “देवयं चेइयं” पाठ का भगवतीसूत्र खंड २ पृ० २ पर दिया गया उनका गुजराती भाषान्तर का लेख।

(३) अज्जो ! चमरस्सणं असुरिदस्स असुरकुमाररण्णो चमरचंचाए रायहाणीए, सभाए सुहम्माए माणवए चेइयखं भे वइरामएसु गोल-वट्ट समुग्ग-एसु बहूओ जिणसकहाओ सन्निखत्ताओ चिट्ठंति । जाओणं चमरस्स असुरिदस्स असुरकुमाररन्तो अन्नेसिच बहूणं असुरकुमाराणं देवाणय देवीणय, अच्च-णिज्जाओ वंदणिज्जाओ णमंसणिज्जाओ पूयणिज्जाओ सक्कारणिज्जाओ सम्माणणिज्जाओ, कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासणिज्जाओ भवंति ॥

(श० १० उ० ५)

यहां पर प्रयुक्त हुए “देवयं चेइयं” देवचैत्य का यदि “धर्मवीर और कर्मवीर पुरुषों की चिताओं पर चिनाये गये स्मारक” (स्तूप, चबूतरें या कबरें आदि) अर्थ मानें तो इनकी पूज्यता भी अनायास ही सिद्ध हो जाती है, जो कि हमारे मित्र को इष्ट नहीं है। और इसके सिवा उक्त अर्थ के लिये तो केवल चैत्य शब्द ही काफी है, फिर साथ में देव शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता थी? तात्पर्य कि “देवयं चेइयं-दैवतं चैत्यं” का सरल और स्पष्ट अर्थ देवचैत्य-देव का या देवता का चैत्य होता है और चैत्य का अर्थ आप करते हैं “चिन्ता पर चिनाया गया स्मारक-चिन्ह-विशेष” परन्तु इतना प्रयोजन तो अकेले चैत्य शब्द से सध जाता, अर्थात् चैत्य का चिता-मंदिर या समाधि-मंदिर अर्थ मान लेने से ही आपका यह अभीष्ट सिद्ध हो जाता है। कारण कि आपके मत में चैत्य और देवचैत्य इन दोनों का एक ही अर्थ है (१) — तदर्थ चैत्य के साथ देव शब्द के प्रयोग की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु आगमों में सभी जगह इस प्रकार के पाठ में “देवयं चेइयं” का ही उल्लेख किया है, इससे प्रतीत होता है कि यहां पर “देवयं चेइयं—दैवतं चैत्यं” का यह अर्थ (जिसका हमारे विद्वान् मित्र ने आरम्भ से अन्त तक बार २ उल्लेख किया है) आगमसम्मत नहीं, उसका आगमानुसारी अर्थ तो वही है कि जिसका निर्देश विद्वान्

(१) इसके लिए प्रस्तुत पुस्तक के पृ० १४७ का निम्नलिखित उल्लेख देखें—

(क) “चेइयाइं वंदइ” (अजीम० पृ० १५०७—१५०८—१५०९)
 (ख) “अरहतं चेइयाणिवा” (अजीम० पृ० २४६—२५६) (ग) “देवयं चइयं” (अजीम० पृ० २५१—२१८) (घ) “चेइयमहे” अजीम० पृ० ७९९) । इन चारों उल्लेखों में भी चैत्य शब्द के उसी भाव का समन्वय करना समुचित मालूम होता है जो उसका मुख्य और प्राचीन भाव है।

टीकाकारों ने “इष्टदेवप्रतिमा” के नाम से किया है और जिस का “दिव्य प्रभावयुक्त इष्टदेव प्रतिमा” अर्थ करके अथच राजप्रशनीय सूत्र के भाषान्तर में दिव्य चैत्य (१) अर्थ करके हमारे विद्वान् मित्र ने भी अपनी विचारपूर्ण उदार मनोवृत्ति का परिचय दिया है ।

३ स्थानांगसूत्र (२) में संयमशील श्रमणों और ब्राह्मणों को देवता और चैत्य के समान कल्याण और मंगलरूप माना है । यहां पर टीकाकार पूज्य अभयदेव सूरि ने चैत्य का अर्थ जिनप्रतिमा (तीर्थंकरदेव की मूर्ति) किया है—(चैत्यमिव—जिनादिप्रतिमेव) जो कि हमारे ख्याल में इष्टदेव प्रतिमा का ही दूसरा प्रतीक है । मूलागम पाठ को देखते हुए उसका यही अर्थ उपयुक्त मालूम देता है । “कल्याण और मंगलरूप होने से संयमशील श्रमण और ब्राह्मण

(१) तो हे देवानुप्रियो आपणे जइए भगवान महावीर ने वांदिए नमिए सत्कारिए अने कल्याणरूप मंगलमय दिव्यचैत्यनी पेठे तेमनी पर्युपासना करिये (पृ० २७)

(“तं गच्छामोणं देवाणुप्पिया ! समणं भगवं महावीरं वंदामो णमंsamो सक्कारेमो सम्माणेमो कल्लाणं मंगलं ‘देवयं चेइयं’ पज्जुवासेमो”) यहां पर “देवयं चेइयं” का आपने दिव्य चैत्य अर्थ किया है और उसे कल्याण और मंगलरूप बतलाया है । हमारे विचार से तो यह दिव्य चैत्य किसी अलौकिक प्रभावशाली देवप्रतिमायुक्त मंदिर के सिवा और कुछ नहीं हो सकता ।

(२) “तहारूवं समणं वा माहणं वा वंदिता नमंसित्ता सक्कारेत्ता सम्माणेत्ता कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासत्ता” (स्था० ३ उ० १)

अभयदेवसूरिः—वदित्वा—स्तुत्वा, नमस्यित्वा—प्रणम्य, सत्कारयित्वा—वस्त्रादिना सन्मानयित्वा—प्रतिपक्षविशेषेण कल्याणं—समृद्धिस्तद्धेतुत्वात् साधुरपि कल्याणं, एवं मंगलं विघ्नक्षयस्तद्योगात् मंगलं, दैवतं इव (दैवतेव) दैवतं, चैत्यमिव-जिनादिप्रतिमेव चैत्यं श्रमणं पर्युपास्य उपसेव्येति ।

देवता के समान और चैत्य के समान पूजा और उपासना के योग्य हैं” यह उक्त आगमगत मूल पाठ का तात्पर्यार्थ है । इससे चैत्य की जो पूज्यता या उपास्यता व्यक्त होती है वह उसे चितास्थान पर के स्मारक वगैरह से बिल्कुल पृथक् कर देती है । और वह चैत्य हमारे सामने एक पवित्र उपासनालय—देवालय के रूप में उपस्थित होता है । जिन सद्गुणों के संचार से यह मनुष्य देवसमान या देवतास्वरूप कहलाने का गौरव प्राप्त करता है वे सद्गुण देवों के अन्दर स्वभाव-सिद्ध हैं या होने चाहिये, इसी से मनुष्य की अपेक्षा वे विशेष हैं और हो सकते हैं । उपमान सदा ही उपमेय से अधिक होता है । अतः मानव-व्यक्ति की अपेक्षा देवों में जो वैशिष्ट्य है उसके आधार पर ही देव को मानव का उपमान बनने का गौरव प्राप्त है । तात्पर्य कि किसी मनुष्य को तो देवतास्वरूप कहा व माना जा सकता है, किन्तु देवता को मनुष्यस्वरूप नहीं, क्योंकि देवता मनुष्य से अधिक है । इसी दृष्टि से स्थानांगसूत्र में चारित्रवान् साधु को देवसमान या देवतास्वरूप कहा है । इसी प्रकार चैत्य में भी कोई ऐसी विशेषता अवश्य है या होनी चाहिये कि जिससे वह आदर्शजीवी साधुओं का उपमान बना और उससे वे उपमित किये गये । विचार करने पर वह विशेषता पूज्यता और उपास्यता में है । तात्पर्य कि “संयमशील श्रमण-साधु चैत्यरूप अर्थात् चैत्य के समान पूजा और उपासना के योग्य है” इस तात्पर्यार्थ में साधु मुनिराज की अपेक्षा चैत्य में जो अधिकता व्यक्त होती है वह उसकी पूज्यता और उपास्यता को ही आभारी है । परन्तु यह पूज्यता या उपास्यता देव चैत्य अर्थात् किसी शान्त प्रदेश के उपासनालय में प्रतिष्ठित वीतराग प्रभु की ध्यानारूढ़ मुद्रा—विशुद्ध-प्रतीक में जितनी स्फुट होती है उतनी किसी चितास्थान के चबूतरे या कबर आदि में कदापि नहीं हो सकती । तात्पर्य कि विकासगामी

आत्मा के लिये उपासना या पूजा के निमित्त जिस आदर्श की आवश्यकता है वह देवचैत्य के ऊपर प्रदर्शित किये गये स्वरूप में ही उपलब्ध हो सकता है। उसे किसी चितास्थान के मलिन वातावरण में ढूँढने की कोशिश करना निरा उत्पथ प्रयाण है। प्रस्तुत प्रकरण में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द के इसी आगमसम्मत भावार्थ को पूज्य अभयदेवसूरि ने ऊपर उद्धृत किये गये शब्दों (“चैत्यमिव जिनादिप्रतिमेव चैत्यं श्रमणं पर्युपास्य-उपसेव्य”) में व्यक्त किया है। अतः यहां पर चैत्य का यही उपयुक्त अर्थ है और होना चाहिये।

हमारे विद्वान् बन्धु ने श्री अभयदेवसूरि के इस अर्थ को आगम-सम्मत नहीं माना, आपके मत में चैत्य का यह अर्थ उनके समय का और उनके समय के वातावरण से उत्पन्न होने वाला आधुनिक अथवा गौण अर्थ है, परन्तु हमारे ख्याल में आपका यह विचार भ्रमपूर्ण है। चैत्य शब्द के जिस अर्थ को आप मुख्य और प्राचीन एवं आगमानुसारी मान रहे हैं, वास्तव में वह उसका मुख्य और प्राचीन एवं आगमानुसारी अर्थ ही नहीं है, यह तो उसके कतिपय अन्य अर्थों में से अन्यतम है, जिसका व्यवहार प्रदेश बहुत ही स्वल्प और वह भी जैन-साहित्य से बाहर का है। जैन-साहित्य में तो उसका इस अर्थ में व्यवहार प्रायः नहीं जैसा है।

४ औपपातिक और राजप्रश्नीय के पाठों का उल्लेख ऊपर आ चुका है उन पर से वहां चैत्य शब्द का व्यवहार किस अर्थ में हुआ है, इसका अनुमान या निश्चय करना पाठकों के लिये कोई कठिन नहीं है।

हमारे विद्वान् मित्र ने “देवयं चेइयं” का जो अर्थ किया है वह कितना प्रामाणिक और आगमानुमोदित है, इसका स्पष्टीकरण

हमने यथामति उपर कर दिया है। उस पर से वस्तुस्थिति का निर्णय करना अब पाठकों का काम है। हमारे विचार से तो इस प्रकार की अर्थकल्पना को जैनागमों में कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ।

“चैत्यस्तूप का अर्थसमन्वय”

(३) स्थानाङ्ग—

इसके आगे प्रस्तुत पुस्तक में स्थानाङ्ग के नाम से जो उल्लेख है उसकी ओर भी पाठक ध्यान दें—

(“नासिणं × उपरि चत्तारि २, चेतित थूभा × × × तेसिणं चेतित थूभाणं पुरतो चत्तारि मणि पेढिआओ, तासिणं × उवरिं चत्तारि चेतित रुक्खा” (स० २२९-३० नंदीश्वर विचार) इस उल्लेख में चैत्यस्तूप शब्द का उपयोग किया गया है, इसका अर्थ भी उपरोक्त प्रकार से समझना चाहिये; अन्यथा इस शब्द का इस प्रकार में समन्वय होना संभवित नहीं है।” (पृ० १४२)

इस ऊपर उद्धृत किये गये लेख का तात्पर्य यह है कि अगर यहां पर प्रयुक्त हुए चैत्य स्तूप का चितास्थान पर चिनाया गया स्मारक अर्थ न करें तो इस शब्द का यहां पर समन्वय ही नहीं हो सकता। इस लिये यहां पर उल्लेख किये गये चैत्यस्तूप का भी वही उपरोक्त चिता स्थान पर का स्मारक-चिह्न अर्थ करना व समझना चाहिये। परन्तु स्थानांगसूत्र के इस प्रकरण का जहां तक हमने विचार किया है, उसके अनुसार हमें तो इस कथन में कुछ भी तथ्य नजर नहीं आया। हम तो यह समझने में यत्न करने पर भी सफल नहीं हो सके कि यदि यहां पर “चैत्यस्तूप का” चितास्थान पर चिना हुआ स्मारक अर्थ

न मानें तो इस प्रकरण में उसके समन्वित होने में कौन-सी बाधा उपस्थित होती है। और इसके विपरीत हमें तो उक्त अर्थ ही यहां पर आपत्तिजनक और प्रकरणविरुद्ध एवं अनावश्यक प्रतीत होता है। अगर स्थानाङ्गसूत्र के इस प्रकरण को ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उसमें उक्त अर्थ की तो शायद गन्ध तक भी न आवे। और हमारे विद्वान् मित्र इस विषय से अपरिचित हों ऐसा नहीं, किन्तु उनको इसका आग्रह है। इसी कारण से उन्होंने चैत्यस्तूप के अर्थ पर प्रकाश डालने वाले स्थानाङ्गसूत्र के बाकी के पाठ को छोड़ दिया—यहां पर उद्धृत नहीं किया।

अब हम स्थानाङ्गसूत्र के इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले मूल पाठ के उपयोगी अंश को उद्धृत करके उसमें प्रयुक्त हुए चैत्य-स्तूप के वास्तविक अर्थ पर विचार करने का यत्न करते हैं—

(“णंदीसर वरस्स णं दीवस्स चक्कवाल विक्खंभस्स बहुमज्झ देसभागे चत्तारि अंजणगपव्वता पण्णता × × × × तेसिणं अंजगण पव्वयाणं उवरिं बहुसमरमणिज्ज भूमिभागा पं० तेसिणं बहुसमरमणिज्ज भूमिभागाणं बहुमज्झ देसभागे चत्तारि सिद्धाययणा पण्णत्ता, तेसि सिद्धाययणाणं चउदिसिं चत्तारि दारा पं० तं० देवदारे असुर-दारे णागदारे सुवन्नदारे, तेसुणंदारेसु चउव्विहा देवापरि-वसंति तं देवा असुरा नागा सुवन्ना, तेसिणं दाराणं पुरतो चत्तारि मुहमण्डवा पं० तेसिणं मुहमण्डवाणं पुरओ चत्तारी पेच्छाघर मण्डवा पं० × × × तेसिणं पेच्छाघरमण्डवाणं

पुरओ चत्तारि मणि पेढियातो पण्णत्ताओ, तासिणं मणिपेढि-
याणं उवरि चत्तारि २ चेतित थूभा पण्णत्ता, तासिणं चेतित
थूभाणं पत्तेयं २ चउद्दिसि चात्तारि मणिपेढियातो पं०
तासिणं मणिपेढियाणं उवरि चत्तारि जिणपडिमाओ सब्ब-
रयणामईतो संपलियंकणिसन्नाओ थूभाभिमुहाओ चिट्ठंति,
तं०—रिसभा बद्धमाणा चंदाणणा वारिसेणा, तेसिणं चेतित
थूभाणं पुरतो चत्तारि मणिपेढिताओ पं० तासिणं मणिपे-
ढिताणं उवरि चत्तारि चेतितरुक्खा पं० तेसिणं चेतित
रुक्खाणं पुर ओ चत्तारि मणिपेढियाओ पं० तासिणं मणि-
पेढियाणं उवरि चत्तारि महिदज्झयापण्णता” इत्यादि ।
(पृ० २२९—२३०)

इसका संक्षेप से भावार्थ यह है कि—

“नन्दीश्वर द्वीप के मध्य में चार अंजनक पर्वत हैं, उन पर्वतों पर अत्यंत रमणीय समतल भूमिभाग है, उस भूमिभाग के मध्य में चार सिद्धायतन हैं (१)। उन सिद्धायतनों के चारों तर्फ चार द्वार हैं जो कि देवद्वार, असुरद्वार, नागद्वार और सुवर्णद्वार के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन द्वारों के सामने चार मुख—मुख्य—मंडप है, उनके आगे, सामने

(१) जहां पर शाश्वती अर्हत्प्रतिमायें विद्यमान हों उसे सिद्धायतन कहा है—(सिद्धानि—शाश्वतानि सिद्धानां वा-शाश्वतीनामर्हत्प्रतिमानां आयतनानि—स्थानानि सिद्धायतनानि, उक्तं च—अंजनग पव्वयाणं सिंहुरत्तालेसुं हवंतिपत्तेयं । अरहंताययणाइं, सीहणिसायाइं तुंगाइं” (इति अभयदेवसूरिपादाः)

छा०—अजनकपर्वतानां, शिखरतलेषु भवन्ति प्रत्येकम् ।

अर्हदायतनानि सिंहनिषद्यानि तुङ्गानि ॥

चार प्रेक्षागृहमंडप हैं और उन प्रेक्षागृहमंडपों के सामने चार मणि-
पीठिकायें हैं। उन मणिपीठिकाओं के ऊपर चार २ चैत्यस्तूप हैं, उन
चैत्यस्तूपों में प्रत्येक के चारों ओर चार मणिपीठिकायें हैं और उन
मणिपीठिकाओं के ऊपर स्तूपाभिमुख पद्मासनारूढ़ अतिरमणीय
चार शाश्वत जिनप्रतिमायें विराजमान हैं, उनके क्रमशः ऋषभ,
वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण ये नाम हैं। उन चारों चैत्यस्तूपों
के सामने चार मणिपीठिकायें हैं, उन मणिपीठिकाओं के ऊपर चार
चैत्यवृक्ष हैं, उन चारों चैत्यवृक्षों के सम्मुख चार मणिपीठिकायें हैं,
और उन मणिपीठिकाओं पर चार महेन्द्रध्वजायें द्धिमान हैं ”।

स्थानांगसूत्र इस उल्लेख का प्रकृतोपयोगी सारांश मात्र
इतना ही है कि—

- (क) नंदीश्वरद्वीप में कई एक सिद्धायतन-शाश्वतेजिनभवन हैं
जिनमें तीर्थंकर देवों की शाश्वतीप्रतिमायें हैं।
- (ख) उन सिद्धायतनों में मणिपीठिकाओं पर स्थित जो चैत्यस्तूप
हैं वे किसी मनुष्य विशेष के स्मारकचितास्थान पर चिनाये गये
स्मृति चिन्ह रूप नहीं किन्तु चैत्य के-मंदिर के आकार में निर्मित
स्तम्भ विशेष हैं। जिनका प्रयोजन सिद्धायतनों-शाश्वत जिन
भवनों की शोभा में वैशिष्ट्यसम्पादन करना है। इस लिये चैत्य
का यहां परचिता का सम्बन्धि अर्थ न करके (चित्या-विशिष्ट-
चयनेन-रचनाविशेषण निर्वर्तितं चैत्यं) इस व्युत्पत्ति द्वारा,
जिस में विशिष्ट प्रकार का चयन (रचना विशेष) हो ऐसा
मन्दिर विशेष करना ही अधिक युक्तियुक्त और प्रमाणसंगत
है। पूज्य अभयदेवसूरि ने इसका निम्नलिखित अर्थ किया
है—“चैत्यस्य-सिद्धायतनस्य प्रत्यासन्नाः स्तूपाः प्रतीताश्चै-

त्यस्तूपाः”। और विचार से देखें तो उसका—चैत्य या चैत्य-स्तूप का यहां पर आगमसम्मत अर्थ भी यही है और होना चाहिये। इसके सिवा उसका दूसरा—चितास्थान पर चिनाया गया स्मारक—अर्थ यहां पर संभव ही नहीं हो सकता। यह अर्थ तो कदाचित् वहीं पर संगत होगा या हो सकता है जहां कि मनुष्य की मृत्यु हुई या होती हो, परन्तु यहां अर्थात् नन्दीश्वरद्वीप में तो जैन-सिद्धान्त के अनुसार (१) मनुष्य की मृत्यु का सम्भव ही नहीं तो फिर वहां चितास्थान आयगा कहां से ? इस लिये स्थानांग सूत्र में प्रयुक्त हुए इस “चैत्यस्तूप” का भी चितास्थान से कोई सम्बन्ध नहीं है।

इसी प्रकार समवायांगसूत्रगत देवलोकस्थित सुधर्मा सभा के माणवक चैत्य स्तम्भ के विषय में भी समझ लेना चाहिये। अर्थात् वहां का चैत्यस्तम्भ भी किसी मरे हुए धर्मवीर या कर्मवीर की चिता का चिन्ह रूप नहीं, किन्तु जिनेन्द्र देवों की सक्थियों को सुरक्षित रखने और उनकी उपासना के लिये उपासनालय के रूप में मंदिर के आकार में निर्मित हुआ एक दिव्य स्तूप है। अतः देवलोकगत सुधर्मा सभा में विद्यमान इस चैत्यस्तम्भ को किसी मानव व्यक्ति-विशेष का स्मारक (उसकी चिता पर का स्मृति-चिन्ह रूप) बतलाना न केवल सिद्धान्त की अवहेलना करना है, किन्तु चैत्य शब्द को एक अन्यतम और अप्रधान अर्थ को सर्व प्रकार से प्रधानपद देकर उसकी सर्वतोभावी उपास्यता पर भी एक प्रबल कुठाराघात करना है।

(१) जैनसिद्धान्त के मुताबिक अढ़ाईद्वीप के बाहर किसी मनुष्य का मरण नहीं होता और नन्दीश्वरद्वीप यह अढ़ाईद्वीप से बाहर का आठवां द्वीप है।

ये चैत्य, कबरे नहीं, देवमंदिर हैं ।

४ समवायांग—

समावायांगसूत्र में बारह अंगों के विषयों की एक सूची दी हुई है उसमें बतलाया गया है कि—“ज्ञाताधर्मकथा (१) में वर्णित ज्ञातों के नगरों, उद्यानों, चैत्यों और बनखंडों का तथा उपासक दशा में उपासकों के नगर, उद्यान, चैत्य और बनखंडों का वर्णन किया है” इत्यादि ।

इसका तात्पर्य यह है कि ज्ञातासूत्र में ज्ञातों और उपासक दशा में उपासकों के नगर, उद्यान, चैत्य और बनखंड आदि का इनमें उल्लेख किया है । यहां पर टीकाकार अभयदेवसूरि ने “चेइयाइं चैत्यानि” अर्थात् चैत्य शब्द का अर्थ व्यन्तरायतन-व्यन्तर जाति के देव-विशेष का आयतन मन्दिर किया है (चैत्यं-व्यन्तरायतनम्) जो कि हमारे ह्याल में प्रकरणसगत और आगमानुमोदित ही है । तब समवायांगसूत्रगत उक्त पाठ का प्रकरणानुसारी सरल और स्पष्ट अर्थ यह होता है कि—ज्ञातों के नगर, ज्ञातों के उद्यान (बगीचे), ज्ञातों के चैत्य—देवमंदिर और ज्ञातों के बनखंड । इसी प्रसार उपासकों के नगर, उपासकों के उद्यान, उपासकों के देवमंदिर और उपासकों के बनखंड । इसी भांति अन्तर्दृष्टा में अन्तर्कृतों के नगर, उद्यान, चैत्य और बनखंड बतलाये हैं ।

इन उल्लेखों में विवादास्पद शब्द चैत्य है, जिस का देवमन्दिर अर्थ हम ऊपर अनेक पुष्ट प्रमाणों द्वारा सिद्ध कर चुके हैं, परन्तु हमारे विद्वान् बन्धु को तो यहां पर भी उसका

(१) “णायधम्म कहासुणं णायणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वण-खंडा” (प० ११६) उवासगदसासुणं उवासगाणं णगराइं उज्जाणाइं चेइयाइं वणखंडा” (प० ११९ स०) इत्यादि ।

चितास्थान पर चिना हुआ स्मारक, चबूतरा या कबर वगैरह अर्थ ही सर्व प्रकार से अभीष्ट है ।

पाठक प्रस्तुत पुस्तकगत निम्नलिखित पाठ को देखें । यथा—

“गाय धम्म कहासुणं गायानं × × × चेइयाइं [पृ० ११६] उवासगदसासुणं उवासगाणं × × × चेइयाइं (११९) अंतगड़ाणं × × चेइयाइं (१२१) अणुत्तरोववा-इयाणं × × चेइयाइं (१२२) तथा—सुहविवागाणं × चेइ-याइं दुह विवागाणं चेइयाइं” (पृ० १२५)—

इन पांच स्थानों में चैत्य शब्द का उपयोग किया गया है । समवायांग-सूत्र में एक ऐसा प्रकरण है कि जिसमें बाहर अंगों में दिये गये विषयों की सूची दी हुई है । वहां पर ही ये पूर्वोक्त पांचों उल्लेख भी दिये हैं । उनमें बतलाया है कि ज्ञाताधर्मकथासूत्र में ज्ञातों के चैत्य, उपासकदशासूत्र में उपासकों के चैत्य, अंतकृद्दशासूत्र में अन्तकृतों के चैत्य, अनुत्तरौपपातिकदशा सूत्र में अनुत्तरौपपातकों के चैत्य और विपाकसूत्र में दुःखविपाक वालों के एवं सुखविपाक वालों के चैत्य बतलाये हैं ।

इन उल्लेखों से भी चैत्य शब्द का वही प्रधान अर्थ—चिता पर चिना हुआ स्मारक अर्थ ही घट सकता है । × × × × ×

टीकाकार ने इस उल्लेख के चैत्य शब्द को व्यन्तरायतनवाची कहा है, जो हमारी व्याख्या के अनुकूल होता है परन्तु यह अर्थ इस प्रकरण में संगत नहीं होता । पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं ज्ञातों के व्यन्तरायतन, उपासकों के व्यन्तरायतन × × × × × इत्यादि वाक्यों का क्या अर्थ हो सकता है ? कुछ भी नहीं । ऐसा अर्थ करने से यहां पर असंगति-सी प्रतीत होता है । अतः यहां पर टीकाकार के किये अर्थ की उपेक्षा करके हमें वही प्रसिद्ध अर्थ घटाना चाहिये !” (पृ १४३-४४-४५)

समीक्ष —

आपके इस कथन के मुताबिक—“ज्ञातानां चैत्यानि, उपास-

कानां चैत्यानि तथा अन्तकृतानां चैत्यानि" इत्यादि वाक्यों का अर्थ होता है—“ज्ञातों के कबरस्तान, उपासकों के कबरस्तान और अन्त-कृतों के कबरस्तान ।” परन्तु इन कबरस्थानों में ऐसा कौन सा महत्व रहा हुआ था कि जिसके लिये सूत्रकार को इनके उल्लेख करने की आवश्यकता प्रतीत हुई ? यह हम नहीं समझ सके । ज्ञातों या उपासकों आदि के नगरों, उद्यानों और बनखंडों के उल्लेख करने का अर्थ तो समझ में आता है, इनसे उनका वैभव प्रकट होता है, परन्तु कबर-स्थानों से उनकी कौन सी लोकोत्तर विभूति प्रकट होती है ? जिससे इनका उल्लेख भी आवश्यक समझा गया । अतः हमारे विचारानुसार न तो इनका यह अर्थ है, न इस अर्थ का यहां कोई प्रयोजन और नां ही इस अभिप्राय से आगमों में उसकी प्रयुक्ति हुई है । इनका वास्तविक अर्थ तो देवमंदिर या देवस्थान ही है और होना चाहिये । इस प्रकरणसंगत अर्थ में उनका जो समन्वय हो सकता है वह कबर-स्तानों में संभवित नहीं । जैनागमों में उस समय के सम्पत्तिशाली गृहस्थों के लौकिक वैभव के अतिरिक्त उनकी धार्मिक प्रवृत्ति को प्रदर्शित करने के लिये उनके नगरों, उद्यानों और बनखंडों के साथ उनके चैत्यों—देवमंदिरों, देवस्थानों अर्थात् उपासनालयों का भी उल्लेख किया गया है (इसके लिये देखो औपपातिकमूत्रगत पूर्णभद्र चैत्य का वर्णन) इन चैत्यों, देवस्थानों का उस समय की जनता पर कितना प्रभाव था, और इनके लिये उसके—जनता के हृदय में कितना बहुमान, कितनी श्रद्धा और भक्ति विद्यमान थी, यह आगमों में प्रदर्शित किये गये उनके वर्णनों से भली भांति व्यक्त है । इस लिये समवायांगसूत्र के ये चैत्य ज्ञातों या उपासकों के कबरस्तान नहीं, किन्तु

उनके पर्युपास्य देवमंदिर, देवस्थान हैं। अगर दूसरे शब्दों में कहें तो ये—चैत्य-उपासनीय पूज्य देवस्थानों, देवालयों के प्रतीक हैं, चितास्थानों या कबरस्तानों के नहीं। हम नहीं समझ सकते कि हमारे विचारशील विद्वान् बन्धु को ऐसा कौन सा व्यामोह हुआ है जिस के कारण वे उस समय की जनता के इन पूज्य देवमंदिरों को श्मशान-स्थान के चबूतरों या कबरों के रूप में देख रहे हैं।

इसके सिवा टीकाकार पूज्य अभयदेवसूरि जी म० ने भी यहां पर इन देवमंदिरवाची चैत्यों को ही व्यन्तरायतन के नाम से सम्बोधित किया है, जो कि किसी प्रकार से भी अनुचित नहीं है।

इस पर भी आपने उनके प्रमाण और प्रकरणसंगत अर्थको प्रकरण-विरुद्ध अतएव उपेक्षा के योग्य बतलाने में बिल्कुल संकोच नहीं किया। यह आप की तटस्थ मनोवृत्ति का सब से बढ़िया नमूना है। यहां पर इतना और भी समझ लेना चाहिये कि उपासकों, जैनगृहस्थों के चैत्यों से शास्त्रकारों का अभिप्राय जिनालयों से है न कि सामान्य देवालय मात्र से। कारण कि उनके उपास्य वे ही संभव हो सकते हैं।

५ भगवतीयसूत्र—

अगर हम किसी प्रकार की भूल या पक्षपात नहीं करते तो हमारी यह निश्चित और पुष्ट धारणा है कि हमारे श्रद्धेय मित्र पंडित बेचरदास जी ने चैत्य शब्द का एकमात्र चितास्थान पर चिनाया गया स्तूप, चबूतरा या कबर वगैरह अर्थ करने की प्रतिज्ञा से बद्ध होकर ही प्रस्तुत पुस्तक के चैत्यवाद प्रकरण का उल्लेख किया है। इस भीष्म प्रतिज्ञा से विवश होकर आपने आगमों में भिन्न २ स्थानों और भिन्न २ अर्थों में प्रयुक्त हुए चैत्य को एक ही अर्थ—चितास्थान के स्मारक अर्थ की ओर येनकेन उपायेन घसीटने का असाध्य प्रयत्न

किया है। आगमों में चैत्य शब्द की नियुक्ति के ऐसे स्थान भी हैं कि जहां पर जैन-सिद्धान्त के अनुसार चितास्थान का होना संभव ही नहीं, परन्तु आपने तो वहां पर भी उसका चितास्थान पर का स्मारक अर्थ समझने का ही आग्रह किया है। उदाहरणार्थ आप लिखते हैं कि—

“भगवतीसूत्र के “चेइयाइं वंदइ” “अरिहंत चेइयाणि वा” “देवयं चेइयं” तथा “चेइयमहे” इन चारों उल्लेखों में भी चैत्यशब्द के उसी भाव का समन्वय करना समुचित मालूम देता है जो उसका मुख्य और प्राचीन भाव है।” (पृ० १४७)

समीक्षा—आपके मुख्य और प्राचीन भाव का अर्थ है चिता-स्थान पर का स्तूप चबूतरा या कबर वगैरह, परन्तु इस अर्थ का भगवतीसूत्र में उल्लेख किये गये “तहिं चेइयाइं वंदइ” और “अरि-हंत चेइयाणि” के साथ समन्वय करना आप जैसे धुरंधर विद्वान् का ही काम है। “चेइयाइं वंदइ—चैत्यानि वन्दते” यह उल्लेख भगवती-सूत्र (९-२०) में विद्याचारण और जंघाचारण मुनियों की लब्धि-वर्णन के प्रसंग में आया है। वेमुनि नन्दीश्वरद्वीप में जाते हैं और वहां पर विद्यमान चैत्यों को वन्दना करते हैं। तात्पर्य कि नन्दीश्वरद्वीप में जो शाश्वती जिनप्रतिमायें या शाश्वते जिनभवनों में विद्यमान तीर्थंकर देवों की प्रतिमायें हैं, उनके लिये चैत्य शब्द का प्रयोग उक्त सूत्र में किया गया है। (“तहिं चेइयाइं वंदइ—तत्र चैत्यानि वन्दते”) इस स्थान के चैत्य न तो किसी मृतक के स्मारक हैं और ना ही उनका यहां संभव हो सकता है एवं आगमकार को भी उनका यह अर्थ अभिप्रेत नहीं, ऐसी दशा में उनका चितास्थान पर के स्मारक अर्थ करने वा मानने का आग्रह कहां तक समुचित है इसका विचार पाठक स्वयं करें ?

इसी प्रकार “अरिहंत चेइयाणि” के उल्लेख में भी चैत्य का चितास्थान पर का चबूतरा आदि अर्थ सर्वथा अप्रामाणिक अथ च प्रामादिक है। “अरिहंतों—तीर्थंकर देवों की चिता पर चिने हुए निर्माण किए गये स्मारक चिन्ह—अरिहंत चैत्य कहलाते हैं” ऐसी मान्यता के लिये आगमानुसारी जैन परम्परा में कोई स्थान नहीं है। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण हम आगे चलकर करेंगे। भगवती-सूत्र (१) में जहां पर यह उल्लेख आया है वहां के प्रकरण को देखते हुए तो चिता पर के स्मारक अर्थ की सम्भावना भी नहीं की जा सकती। (इसका भी अधिक विवेचन आगे किया जायगा)।

इतना पक्षपात क्यों ?

कहते हैं कि विद्वानों में पक्षपात नहीं होता, यह सत्य है, परन्तु यह भी सत्य है कि यदि उनको किसी बात का पक्ष पड़ जाय तो वे उसके समर्थन में एड़ी से चोटी तक का जोर लगाने में कभी पीछे नहीं रहते। उनके पक्षपातपूर्ण हृदय में उचितानुचित के विचार को कहीं अवकाश ही नहीं रहता। जिस प्रकार भूख और प्यास से व्याकुल हुआ २ पुरुष भक्ष्याभक्ष्य पेयापेय का कम विचार करता है, उसी प्रकार पक्षपात की पट्टी से जिसके विवेक चक्षु ढक गये हों वह उचितानुचित या अर्थानर्थ की ओर ध्यान ही नहीं करता। यदि करता है तो बहुत कम। उसके ध्यान-चिन्तन का विषय तो एकमात्र उसका वही मनोनीत पक्ष है जिसकी पुष्टि के लिये वह निरन्तर दौड़ धूप कर रहा है।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति का चित्र

१ अरिहंते वा अरिहंत चेइयाणि वा अणिगारे वा भावि अप्पाणोणी-
साए उड्ढं उप्पयइ” (३-२)

बड़े ही मार्मिक शब्दों में खींचा है (१) हमें बड़े खेद से कहना पड़ता है कि हमारे विद्वान् मित्र भी इससे खाली नहीं रहे, उनकी मनोवृत्ति में भी हमें पक्षपात की झलक स्पष्ट दिखाई दे रही है। आपने चैत्य शब्द के चिता सम्बन्धि अर्थ को पुष्ट और प्रामाणिक करने के लिये पूज्य अभयदेवसूरि जी और श्री मलयगिरि प्रभृति आचार्यों के किये हुए चैत्य शब्द के अर्थ को तोड़ मरोड़ कर न्यूनाधिक रूप में अपने पक्ष के समर्थन के लिये कुछ ऐसे ढंग से पेश किया है जिससे पढ़ने वाले यह समझें कि टीकाकार महानुभाव भी चैत्य शब्दार्थ में आपके ही अनुगामी हैं और आपके इस प्रमाणविधुर-कल्पित अर्थ के समर्थक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में भगवतीसूत्र में उल्लेख किये गये—“गुणसिलिए चेइये” “छत्तपलासए चेइये” तथा “पुण्फवईए चेइये” (“गुणशीलिकं चैत्यं”, “छत्रपलासं चैत्यं”, “पुष्पपति चैत्यम्” (आदि पाठों को उद्धृत करके आप लिखते हैं—

“भगवतीसूत्र में सब जगह दिये हुए पूर्वोक्त चैत्य शब्द का अर्थ टीकाकार ने भी व्यन्तरायतन ही समझने का आग्रह किया है। वे लिखते हैं कि “चित्तेर्भावः कर्म वा चैत्यं तच्चेह व्यन्तरायतनं नतु भगवतामर्हतामायतनम्” । प्रसिद्ध कोषकार श्रीहेमचन्द्रसूरि जी लिखते हैं कि “चित्तिश्चित्या चितास्तल्याः” (मर्त्य का० ३९)

(१) आग्रहीवत निनीषति युक्ति यत्र तत्र मतिरस्य निविष्टा ।

पक्षपातरहितस्य तु युक्तियंत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥

अर्थात्—आग्रही-हठी पुरुष प्रमाण और युक्ति को खींच खांचकर वहां ले जाता है, जहां पहले से उसकी बुद्धि ठहरी हुई होती है; परन्तु जो मनुष्य पक्षपात से उपर उठा हुआ होता है उसकी नीति ऐसी नहीं होती। वह तो अपनी बुद्धि को वहां ठहराता है जहां प्रमाण और युक्ति पहुंचती है तात्पर्य कि उसकी बुद्धि प्रायः युक्ति-अनुगामिनी होती है।

चिति चित्या और चिता ये तीनों ही शब्द समानार्थक हैं और इन तीनों का अर्थ “चे” होता है । ऊपर बतलाये हुए टीका के उल्लेख में टीकाकार ने इस चिति शब्द का ही उपयोग किया है और ऐसा करके यहां तो चैत्य शब्द की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, प्रवृत्ति और अर्थ सब कुछ प्राचीन और प्रधान एवं यौगिक अर्थ को ही दृढ़ किया है । और चैत्य शब्द को लोकप्रवाह से मुक्त कर दिया है । (पृ० १४८-१४९) ।

समीक्षा—भगवती तथा दूसरे आगमों में उल्लिखित “गुण-सिलिए चेइये” आदि पाठों में प्रयुक्त हुए चैत्य का वही अर्थ है जो कि औपपातिक सूत्र में वर्णित पूर्णभद्र चैत्य का । अथवा यूँ समझें कि पूर्णभद्र चैत्य का जो स्वरूप औपपातिक सूत्र में दर्शाया है वही स्वरूप इन गुणशिलकादि चैत्यों का है । इन सब के स्वरूप में नाम के सिवाय और कोई अन्तर नहीं है । आगमों में जहां २ इन गुणशिलकादि चैत्यों का उल्लेख किया है वहां सब जगह पर औपपातिकसूत्र-वर्णित पूर्णभद्र चैत्य की तरह ही इनका वर्णन करने व समझने का आदेश किया है । तथा औपपातिक सूत्र में उसका—चैत्य का जो स्वरूप बतलाया गया है उससे उसका चितास्थान पर चिनाया गया स्तूप, चबूतरा या कबर वगैरह अर्थ कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता । उस वर्णन से तो वह चैत्य—देवमंदिर या देवस्थान ही सिद्ध होता है । तात्पर्य कि उपरोक्त पाठों में व्यवहृत चैत्य शब्द का अर्थ किसी देव-विशेष का मंदिर या स्थान ही प्रमाणित होता है, न कि किसी मृतक व्यक्ति की चिता पर का स्मारक चिह्न । और टीकाकार महानुभाव ने इसको जो व्यन्तरायतन कहा है अर्थात् इसका व्यन्तरायतन अर्थ किया है वह भी उसके—चैत्य के इसी देवमंदिर या पूज्य देवस्थान अर्थ का

समर्थक है। तात्पर्य कि टीकाकार ने जिसे व्यन्तरायतन नाम से सम्बोधित किया है वह किसी मरे हुए की कबर या चबूतरा नहीं, किन्तु (औपपातिकसूत्र वर्णित) पूर्व पुरुषों द्वारा प्रतिष्ठित और पूजित अत्यन्त प्राचीन, किसी यक्षादि देव-विशेष का अमुक नाम से प्रसिद्ध मन्दिर है। तब व्यन्तरायतन का अर्थ होता है व्यन्तर-देव-विशेष यक्षादि का आयतन-मन्दिर। टीकाकार को भी उसका यही अर्थ अभिप्रेत है, चितास्थान नहीं। इसकी पुष्टि टीकाकार द्वारा की गई चैत्य शब्द की व्याख्या पर से अच्छी तरह हो जाती है। यथा—
 “चितेल्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम्, तच्चेह संज्ञा शब्द-
 त्वाद्देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धं ततस्तदाश्रयभूतं यद्देवताया गृहं तदप्यु-
 पचारात् चैत्यम् तच्चेह व्यन्तरायनं नतु भगवता मर्हतामायतनम्”
 (औपपातिकसूत्रे अभयदेवसूरिः) इसका भावार्थ हमारे विद्वान् मित्र के शब्दों में इस प्रकार है—

“लेप्यादि पदार्थ ना चयन मे चिति कहे छे। चितितुं चितिपणुं अथवा चितितुं कर्म ते चैत्य, ए संज्ञा शब्द छे माटे तेना अर्थ देवनुं बिम्ब करवो। प्रतिमानुं आश्रयरूप होवाथी ते घर पण चैत्य, अहि चैत्यनो अर्थ व्यन्तरनुं घर करवो पण अर्हतोनुं आयतन न करवो” (१)

इसका तात्पर्य यह है कि लेप्य आदि पदार्थ का जो चयन है उसको चिति कहते हैं, इस चिति का जो चितिपन है अथवा चिति का जो कर्म है उसको चैत्य कहते हैं। यह संज्ञा शब्द है अतः इसका अर्थ देव का बिम्ब (प्रतिमा) करना, प्रतिमा के आश्रयरूप होने से उसका घर (मंदिर) भी चैत्य कहलाता है। परन्तु यहां पर चैत्य का अर्थ व्यन्तरायतन-व्यन्तर का घर करना, अर्हंतों का आयतन नहीं करना।

हमारे ख्याल में टीकाकार के इस उल्लेख से यहां के चैत्य का

(१) भगवतीसूत्र प्रथम भाग (बेचरदास सम्पादित) फुट नोट पृ० २

अर्थ व्यन्तरायतन क्यों समझना, और व्यन्तरायतन से उन्हें—
टीकाकार महोदय को क्या अभिप्रेत है (देव-व्यन्तर जाति के यक्षादि
देवमंदिर या चितास्थान) इत्यादि बातों को समझने में कुछ भी
कठिनाई नहीं रहती। टीकाकार ने चैत्य शब्द की जो व्युत्पत्ति
की है उस पर से यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि चैत्य के निष्पादक
चिति शब्द का अर्थ वे चिता नहीं मानते। कभी, चिति का चिता अर्थ
समझ कर कोई महानुभाव चैत्य का चितास्थानीय अर्थ समझने की
भूल न कर बैठे, एतदर्थ टीकाकार महोदय ने चिति का विवर्ण भी
साथ में कर दिया (चितेल्लेप्यादिचयनस्य) टीकाकार के इस विवर्ण
से यहां के चैत्य का चिता सम्बन्धि या चिता स्थानीय कोई भी चिता
सम्पर्क वाला अर्थ संभवित नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त टीकाकार
ने चयनार्थक चितिनिष्पन्न चैत्य को केवल यौगिक रूप न मान कर
पंकज शब्द की भांति योगरूढ़, यौगिक अथच रूढ़ माना है, तात्पर्य
कि—“चितेल्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वेति चैत्यम्” इस व्युत्पत्ति-
लभ्य यौगिक चयनसम्बन्धि अर्थ को, देवबिम्ब—देवप्रतिमा और
उपचार से तदाश्रयभूत प्रतिमा के आश्रयरूप घर—मंदिर में रूढ़ मान
लिया है, इस प्रकार टीकाकार की सम्मति में चयनार्थसूचक चिति
निष्पन्न चैत्य शब्द, देवप्रतिमा और देवमंदिर अर्थ का बोधक सिद्ध
हुआ अर्थात् उसके मत में चैत्य शब्द का प्रधान अर्थ देवप्रतिमा या
देवमंदिर है, चितास्थानीय चबूतरा नहीं। देव शब्द का सामान्यरूप
से देवयोनि में उत्पन्न होने वाले देवों के अतिरिक्त तीर्थंकर में भी
तीर्थंकर देव इस नाम से व्यवहार होता है। इस नाम संबन्धि समानता
को लेकर देवबिम्ब—देवप्रतिमा या देवमंदिर, देवस्थान से यहां पर

जिनप्रतिमा जिनमंदिर का ग्रहण भी हो सकता है, मगर उसका ग्रहण यहां इष्ट नहीं । पूर्णभद्र या गुणशिलक आदि यक्षों के चैत्य-मंदिर भले ही देवमन्दिर कहलायें, परन्तु वे तीर्थकर देव के मन्दिर कहे व माने नहीं जा सकते । उस समय यक्षों की पूजा का जनता में अधिक प्रचार था और इनके बड़े २ विशाल मंदिर थे । इन मंदिरों में प्रतिष्ठित यक्षादि देवों की लोग बड़े ही भक्तिभाव से सेवा पूजा किया करते थे । इन उक्त यक्षायतनों-यक्षालयों को जिनायतनों-जिनालयों से पृथक् रूप में प्रदर्शित करने के लिये ही टीकाकार महानुभावों को—“तच्चेह व्यन्तरायतनं न तु भगवतामर्हतामायतनम्” यह लिखने की आवश्यकता उपस्थित हुई, अर्थात् ये देवायतन जिनायतन नहीं, किन्तु व्यन्तरायतन-यक्षायतन हैं । इससे टीकाकार ने इन्हें गुणशिलकादि चैत्यों को जो व्यन्तरायतन समझने का आग्रह किया है, उसका भाव अच्छी तरह से स्फुट हो जाता है, तथा चिति का चयन-विवरण करके यह भी स्पष्ट कर दिया कि उसे—टीकाकार महानुभाव को यहां चिति का चिता अर्थ अभिमत नहीं है । अतः हमारे मित्र का यह कथन है कि (“ऊपर बतलाये गये टीका के उल्लेख में टीकाकार ने इस चिति शब्द का ही उपयोग किया है और ऐसा करके यहां तो चैत्य शब्द की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, प्रवृत्ति और अर्थ सब कुछ प्राचीन और प्रधान एवं यौगिक अर्थ को ही दृढ़ किया है”) यथार्थ नहीं माना जा सकता । अगर टीकाकार ने केवल “चित्तेर्भावः कर्म वा चैत्यम्” लिखा होता तब तो आपके कथन में प्रामाणिकता का कुछ विश्वास किया जा सकता था, परन्तु वहां तो “चित्तेः—लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वा चैत्यम्” इस प्रकार का स्पष्ट पाठ है । इसमें चिति का जो “लेप्यादिचयन” विवरण दिया है उस पर से तो चिति का टीकाकार

सम्मत अर्थ चयन ही निर्धारित होता है। यदि टीकाकार म० को यहां चिति से चिता अर्थ अभिमत होता तो उसे चिति का चयन विवरण देने की कभी आवश्यकता न होती। परन्तु आपने टीकाकार के इस स्पष्ट उल्लेख पर भी अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये पर्दा डालने की अनुचित कोशिश की है। आपके माने हुए चैत्य के प्रधान एवं प्राचीन और यौगिक अर्थ से टीकाकार कभी सहमत नहीं है। वास्तव में टीकाकार ने यहां चिति का चयन विवरण देकर चैत्य का शिष्टसम्मत जो अर्थ किया है वही उसका प्रधान और प्राचीन अर्थ है। इस लिये आपने टीकाकार को उसके अभिमत अर्थ ही चोरी करके चैत्य का चिता-स्थानीय अर्थ का समर्थक बताने में जो हस्तलाघवता दिखलाई है वह आप जैसे विद्वान् के लिए स्ताघनीय नहीं। इस प्रकार का पक्षपात एक विद्वान् व्यक्ति के लिये हमारे विचार से तो शोभास्पद होने के स्थान में निन्दास्पद ही होता है। क्या हम पूछ सकते हैं कि आप-जैसे विचारशील विद्वान् में चैत्य का चितास्थानीय अर्थ करने में इतना अप्रामाणिक पक्षपात क्यों? मालूम नहीं, चैत्य का मंदिर या मूर्ति अर्थ प्रमाणित हो जाने से आप पर कौन सा पहाड़ गिर पड़ता जिस के भय से आप उचितानुचित सब कुछ करने को तुले हुए हैं।

७—उपासक दशांग—

“अरिहंतचेइयाणि” की अर्थ-विचारणा

जैसा कि हम ऊपर लिखाये हैं, हमारे विद्वान् मित्र को आगमों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का कहीं पर भी चिता सम्बन्धि स्मारक अर्थ के सिवा और कोई भी अर्थ अभीष्ट नहीं है। अतः येन केन उपायेन आपने सर्वत्र इसी अर्थ को पुष्ट करने का यत्न किया है। उदाहरणार्थ —उपासकदशा नाम के सातवें अंग में प्रयुक्त हुए “अरिहंतचेइयाणि”

का अर्थ भी आपके मत में “अरिहन्तों की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह” ही है। हमें इस अर्थ के स्वीकार करने में किसी प्रकार का भी संकोच नहीं, अगर यह अर्थ प्रकरण-संगत और यथार्थ सिद्ध हो सके। परन्तु हमें तो यह अर्थ बिल्कुल ही अप्रामाणिक प्रतीत होता है।

उपासकदशा में जहां पर इसका उल्लेख किया है वहां पर तो इसका (अरिहंतचेइयाणि) का तीर्थकर प्रतिमा अर्थ ही अधिक युक्तियुक्त और प्रकरण-संगत दिखाई देता है। इसके विपरीत उसका चितास्थानीय (अरिहंतों की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह) अर्थ न तो यहां प्रकरण-संगत है और ना ही उसको यहां पर कोई अवकाश है। पाठक महोदय मूलपाठ और उसके प्रकरण का ध्यान-पूर्वक अवलोकन करें—

“णो खलु मे भंते, कप्पइ अज्जप्पभिइं अण्ण उत्थिए वा अण्ण उत्थिय देवयाणि वा अन्न उत्थिय परिग्गहियाणि अरिहंतचेइयाणि वा वंदित्ताए वा णमंसित्ताए वा ॥ इत्यादि।

अर्थात्—आनन्दश्रावक कहता है कि हे भगवन् ! आज से मुझे अन्य मत के—जैनमत से भिन्न मत के साधुओं को, अन्य मत के देवों—हरि-हरादि को तथा अन्य मत वालों ने जिन्हें ग्रहण कर लिया हो, अपने देव के नाम से अपना लिया हो, ऐसे अरिहन्त के चैत्यों को वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता, इत्यादि।

आनन्दश्रावक के अभिग्रह सम्बन्धि इस पाठ में व्रतधारी सम्यग्-दृष्टि श्रावक के लिये गुरुबुद्धि और देवबुद्धि से जो २ अवन्दनीय है उसका उल्लेख किया गया है। इसमें अन्य मत के धर्माचार्य, अन्य मत के उपास्य देवता और अन्य मत वालों ने जिन को अपने उपास्य देव के नाम से स्वीकार कर लिया हो, ऐसे अरिहंत के चैत्य इन तीन

का निर्देश किया है अर्थात् इन तीनों को वन्दना नमस्कार आदि करने का निषेध है । यहां पर अन्य मत के देवताओं से अन्य मत के उपास्य हरिहरादि देवों की प्रतिमायें अभिप्रेत हैं, वैदिक परम्परा में देवता शब्द का व्यवहार प्रायः पाषाणमयी प्रतिमा में ही किया गया देखा जाता है (१) तब—“अत्र उत्थिय देव्याणि—अन्ययूथिक दैवतानि” । “अन्य मत के देवता” इसका अर्थ हुआ, जैन मत से भिन्न वैदिक मत के उपास्य हरिहरादि देवों की प्रतिमायें जिन्हें कि वे ब्रह्मा, विष्णु,

(१) इसके लिये देखो मनुस्मृति के निम्नलिखित कतिपय श्लोकांश—

(क) नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम् ।

देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ॥ २।१७६ ॥

कुल्लूकभट्ट—प्रत्यहं स्नात्वा देवर्षिपितृभ्यः उदकदानं, प्रतिमादिषु हरिहरादिदेव-पूजनम् सायंप्रातश्च समिद्धोमं कुर्यात् ।

(ख) देवतानां गुरो राज्ञः स्नातकाश्चार्ययोस्तथा ।

नाक्रमेत् कामतच्छायां बभ्रुवोदीक्षितस्य च ॥ ४।१३० ॥

कुल्लू०—देवतानां पाषाणादिमयीनां, गुरोः पित्रादेः ।

(ग) पूर्वाह्णे एव कुर्वीत देवतानां च पूजनम् ॥ ४।१५२ ॥

दैवतान्यभिगच्छेत्तु धार्मिकांश्च द्विजोत्तमान् ॥ ४।१५३ ॥

कुल्लू०—पाषाणादिमयानि, धर्मप्रधानांश्च ब्राह्मणान् ।

(घ) देवब्राह्मणसान्निध्ये साक्ष्यं पृच्छेदृतं द्विजान् ॥ ८।८७ ॥

कुल्लू०—प्रतिमादिदेवता, ब्राह्मणसन्निधाने ।

ऊपर के इन उद्धरणों में पाषाणमयी देवप्रतिमा में ही देव या देवता शब्द का व्यवहार किया गया है । तात्पर्य कि इन उद्धरणों में देव या देवता शब्द से सर्वत्र पाषाणिरूप देवप्रतिमा का ही ग्रहण किया है ।

(क) के उद्धरण में तो “देवता देवताभ्यर्चनं” का प्रतिमादिषु “हरिहरादि-देवपूजनं” अर्थात् हरिहरादि देवों का पाषाणादि की प्रतिमा में पूजन करना—अर्थ करके इस विषय को अच्छी तरह से और भी स्फुट कर दिया है ।

शंकर और स्कन्द आदि देवों के नाम से प्रतिष्ठित करके पूजते हैं। इस विचार के अनुसार जैन-सम्प्रदाय से भिन्न वैदिक आदि सम्प्रदायों के परित्राजक आदि साधुओं और जैनमत से भिन्न अन्य मत के देवों की प्रतिमाओं को वन्दना नमस्कार करना मुझे नहीं कल्पता” यह आनन्द श्रावक के अभिग्रहण उक्त पाठ के—“अन्न उत्थिएवा, अन्न उत्थिय देवयाणि वा—अन्नयूथिकान् वा अन्ययूथिकदैवतानि वा” वाक्य का अर्थ निष्पन्न होता है। इसके अलावा अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा जैनमत के साधुओं और जैनमत की देवप्रतिमाओं को वन्दना नमस्कार करना मुझे कल्पता है यह भी अनायास ही सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य कि जिसे अन्य मत के साधु और अन्य मत की देव-प्रतिमायें अवन्दनीय हैं उसके लिये स्वमत के साधुओं और स्वमत की देव-प्रतिमाओं को वन्दना का विधान न करने पर भी वह अर्थात् निष्पन्न हो जाता है। यदि कुछ और स्पष्ट शब्दों में कहें तो आनन्दश्रावक के इस अभिग्रह का तात्पर्य यह है कि मैं आज से स्वमत के साधुओं और स्वमत के देवों (देव-प्रतिमाओं) के सिद्धा और किसी को वन्दना नमस्कार (गुरु और देववृद्धि से) नहीं करूंगा।

अब इसके आगे के पाठ पर भी पाठक ध्यान दें ? आगे के पाठ में “अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि—अन्ययूथिकपरिग्गह्णीतानि” यह “अरिहंतचेइयाणि—अर्हंतचैत्यानि” का विशेषण है। इन विशेष्य विशेषण रूप दोनों का अर्थ होता है—

अरिहंत के वे चैत्य जिन्हें अन्य मत वालों ने ग्रहण कर लिया हो। अर्थात् अरिहंत देव के उन चैत्यों को वन्दना नमस्कार करना मुझे नहीं कल्पता जिनको कि अन्य सम्प्रदाय वालों ने अपने देव के नाम से ग्रहण कर लिया हो। तात्पर्य कि तीर्थंकर देव के वे चैत्य

(प्रतिमायें) जिन्हें कि अन्य मतानुयायी अपने उपास्य देव के नाम से अपनी पूजाविधि के अनुसार पूज रहे हों, उनको भी वन्दना नमस्कार करना मुझे नहीं कल्पता । इससे अन्य यूथिक परिगृहीत चैत्य ही अवन्दनीय ठहरता है न कि अपरिगृहीत भी । वह तो वन्दनीय है ही । कल्पना करो कि अरिहंत के—तीर्थकर देव के दो चैत्य (प्रतिमायें) हैं, इनके स्वरूप और आकृति में किसी प्रकार की विभिन्नता नहीं, दोनों एक जैसे हैं, उनमें एक तो चौबीस तीर्थकरों में से किसी एक के नाम से प्रतिष्ठित और जैन विधि के अनुसार पूजित हो रहा है और दूसरे पर किसी अन्य मतावलम्बी ने अधिकार जमा लिया और वह उसे भैरव या वीरभद्र अथवा और किसी देव के नाम से सम्बोधित करके उसकी अपनी परम्परागत विधि के अनुसार सेवा पूजा कर रहा है । यद्यपि इस विभिन्न प्रकार की पूजा विधि और विभिन्न नाम निर्देश से इन दोनों की वास्तविक मुद्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता, परन्तु सम्यक्त्वगामिनी जैनदृष्टि के अनुसार व्रतधारी श्रावक के लिये तो पहला वन्दनीय और दूसरा अवन्दनीय है । पहले को वन्दनादि करने से सम्यक्त्व में निर्मलता आती है जब कि दूसरे को वन्दना नमस्कार, मिथ्यात्व का पोषण करता है । इसी आन्तरिक विभिन्न फलश्रुति को लेकर शास्त्रकार ने अरिहंत चैत्य के साथ अन्य यूथिक परिगृहीत यह विशेषण लगाया है । इस विशेषण से जहां चैत्य का मूर्ति अर्थ स्पष्ट हो जाता है वहां उसका विशुद्ध वन्दनीय स्वरूप भी निर्दिष्ट हो जाता है ! जैनपरम्परा में यह मान्यता प्रचलित है कि तीर्थकर देवों की कोई मूर्ति किसी दूसरे सम्प्रदाय के हाथ लग जाय अथवा दूसरे सम्प्रदाय वाले उस मूर्ति को अपने देव के नाम से और अपनी पूजाविधि के अनुसार पूजा करें तो उस मूर्ति को उस अवस्था में कोई भी मूर्तिपूजक जैन उसे वन्दना नमस्कार नहीं करता । बस

यही मान्यता आनन्दश्रावक के इस अभिग्रह में स्फुट हो रही है। वह कहता है कि “हे भगवन् ! आज से (सम्यक्त्व ग्रहण करने के बाद) मुझे नहीं कल्पता है अन्य तीर्थियों को, अन्य तीर्थियों के देवताओं को, हरिहरादि की प्रतिमाओं को और अन्य तीर्थक परिगृहीत अरिहंत-चैत्यों जिनप्रतिमाओं को वन्दना नमस्कार करना” इत्यादि। आनन्द-श्रावक के इस अभिग्रह सम्बन्धि पाठ से निम्नलिखित बातें फलित होती हैं—

(क) उस समय अनेक मतमतान्तर प्रचलित थे और उनमें परस्पर काफी स्पर्धा थी। तथा साम्प्रदायिक संघर्ष भी जोरों पर था। जो व्यक्ति जिस सम्प्रदाय में दीक्षित होता था वह उसके नियमों को बड़ी दृढ़ता से पालन करता था।

(ख) उस समय वैदिक सम्प्रदाय के शिव, विष्णु, रुद्र, स्कन्द और कुबेर आदि देवों के मन्दिरों के अतिरिक्त जैन-सम्प्रदाय के पूज्य अरिहंतों—तीर्थंकर देवों के चैत्य भी विद्यमान थे। और उनमें कतिपय चैत्य ऐसे भी थे कि जिन पर दूसरे सम्प्रदाय वालों का ही पूरा अधिकार था, वे उन्हें अपने उपास्य देव के नाम से अपनी पूजाविधि के अनुसार पूजते थे।

इस प्रकार उक्त पाठ के अर्थ का पर्यालोचन करने से जान पड़ता है कि सूत्रकार को यहां पर चैत्य का मन्दिर और मूर्ति अर्थ ही अभीष्ट है। अतः “अरिहंतचेइयाणि—अहंच्चैत्यानि” का आगमसम्मत अर्थ तीर्थंकर प्रतिमाएँ हैं, चिता पर का स्तूप, चबूतरा वगैरह नहीं। अन्य यूथिक परिगृहीत अरिहंत के चैत्य अवन्दनीय हैं इस अर्थ का समन्वय चैत्य के प्रतिमा अर्थ पर ही निर्भर करता है। तीर्थंकर देव की प्रतिमा के अतिरिक्त अन्य किसी स्तूप, चबूतरा या कबर वगैरह में अन्य

यूथिक परिगृहीतता सम्भव ही नहीं हो सकती। तीर्थंकर देव की चिता पर बनाये गये चबूतरा आदि स्मारक को अन्य सम्प्रदाय के लोग अपना कर उसे अपने किसी देवविशेष का नाम देकर उसकी अपनी विधि से पूजा करें यह सब कुछ तभी सम्भव हो सकता है जब कि वहां कोई साकार-पूज्य वस्तु दृष्टिगोचर हो। तीर्थंकर प्रतिमा में तो यह सम्भव हो सकता है। किसी निर्जन प्रदेश में स्थित तीर्थंकर प्रतिमा को उसकी भव्य आकृति को देखकर अन्य सम्प्रदाय का कोई भावुक गृहस्थ उसे उठा कर अपने स्थान में ले जा कर अपने किसी देव-विशेष की प्रतिमा समझ कर उसका अपनी परम्परागत विधि के अनुसार पूजन करने लग जावे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। परन्तु किसी स्तूप या चबूतरे को वह अपने देव के नाम से किस प्रकार ग्रहण करेगा, जब कि वहां कोई देवता का चिह्न विद्यमान ही नहीं। अलबत्ता अगर उस स्तूप या चबूतरे वगैरह में किसी तीर्थंकर की मूर्ति प्रतिष्ठित हो तब तो वहां पर भी सम्भव हो सकता है। फिर तो “अन्य यूथिक परिगृहीत अरिहंत चैत्य” इसका यह अर्थ करना होगा कि अन्यमतावलम्बियों ने जिसे अपने देव के नाम से अपना लिया हो ऐसी तीर्थंकर देव के चिता-भूमिपर निर्माण किये गये स्तूप या चबूतरों में प्रतिष्ठित जिनप्रतिमा भी वन्दनीय नहीं। क्या हमारे मित्र को यह अर्थ मान्य होगा? जहाँ तक हम समझते हैं “अरिहंत-चेइयाणि” का वास्तविक अर्थ तो पूज्य अभयदेवसूरि के शब्दों में तीर्थंकर प्रतिमायें ही हैं (“अर्हच्चैत्यानि-प्रतिमालक्षणानि”) और इसका यह अर्थ प्रकरणसंगत होने के अलावा प्रामाणिक भी है। आगमों में बहुधा इसी अर्थ में उसका व्यवहार हुआ देखा जाता है। इस लिये उपासकदशांगसूत्रगत “अरिहंतचेइयाणि” का पूज्य अभयदेव-सूरिकृत प्रकरणानुसारी आगमसम्मत प्रामाणिक अर्थ का अनादर

करके उसका--“अरिहंतों की चिता पर चिनाया गया स्मारक” अर्थ करना और उसी को एक मात्र सत्य एवं प्रामाणिक समझना, हमारे ख्याल में हमारे विद्वान मित्र की या तो सरासर भूल है या दुराग्रह है । आगमों में जहां २ जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा के अर्थ में केवल चैत्य या अरिहंतचैत्य (चेइयाणि, अरिहंतचेइयाणि) का उल्लेख किया है वहां सभी जगह पर हमारे विद्वान् बन्धु ने उसका ‘चितास्थानीय स्मारक’ अर्थ ही मानने का विशेष आग्रह किया है । और आप को ग्यारह अंगों--आचारांगप्रभृति ग्यारह आगमग्रन्थों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का कहीं पर भी चितास्थान के ऊपर चिने गये चबूतरे आदि के सिवा और कोई भी अर्थ दिखाई नहीं देता । एवं आपकी सर्वतोभावी दिव्य दृष्टि में चैत्य का चितास्थानीय स्मारक चिह्न के अतिरिक्त न तो कोई दूसरा प्रधान अर्थ है और न प्राचीन, अर्थात् चैत्य का सर्वप्रधान और सर्वप्राचीन एवं सर्वप्रकार से आगम-सम्मत यदि कोई अर्थ है तो वह चितास्थानीय स्मारक ही है । आपने आचारांगप्रभृति ग्यारह अंगों में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द का कहीं पर तो मरे हुआ के चबूतरे या कबरें वगैरह अर्थ किया है, और कहीं पर धर्मवीरों की चिताओं पर का स्मारक और कहीं पर जिन या तीर्थंकर की चिता पर का निशान अर्थ किया है, अन्त में आप लिखते हैं कि--(“मुझे यह मालूम नहीं होता कि पूर्वोक्त प्रकार से ग्यारह अंगों में उपयुक्त किया हुआ चैत्य शब्द अपने प्राचीन एवं प्रधान अर्थ को प्रकाशित करने में ज़रा भी पीछे हटता हो, उसका वह अर्थ कहीं भी असंगत होता हो” पृ० १५२) परन्तु आपका यह प्रधान और प्राचीन अर्थ कितना सबल है उसकी परीक्षा तो हम ऊपर कर आये हैं, उसकी प्रधानता और प्राचीनता के दोनों आधार-स्तम्भ

(इंग्लिश विश्वकोष और नागरी-प्रचारिणी का उल्लेख) कितने दृढ़ हैं यह भी देख आये हैं ।

इसके अलावा आचारांग प्रभृति ग्यारह अंगों में उसे कितना आदरणीय स्थान प्राप्त हुआ है उसका दिग्दर्शन भी करा दिया गया है (और उसमें जो कुछ कमी है वह आगे पूरी कर दी जायेगी) । आपने आगमों में प्रयुक्त हुए चैत्यों को चिता की भस्म से अपवित्र बनाने का भरसक प्रयत्न किया, उनके देवमंदिर और देवप्रतिमा अथवा जिनालय या जिनप्रतिमा आदि विशुद्ध स्वरूप को चिताभस्म से अपवित्र करने की बेहद कोशिश की, उन्हें चितास्थान पर लाने के लिये अनेक प्रकार के मायाजाल रचे, परन्तु सब व्यर्थ । आगमों के चैत्यों ने आपकी इस अनुचित अभ्यर्थना को बुरी तरह ठुकराया, और आपकी ओर से प्रस्तुत किये गये चितास्थान के दूषित वातावरण से अपने आप को बिल्कुल अछूत रखा । जहां तक हम जानते हैं ग्यारह अंग तो क्या, उनके अलावा उपांग प्रभृति और भी जितने आगम कहे व माने जाते हैं उनमें प्रयुक्त हुए चैत्यों में से एक भी ऐसा नहीं निकलेगा कि जिसने कभी भूल कर भी आपके इस अस्पृश्य चिता स्थान पर कदम रखा हो । अतः हम यह बलपूर्वक कहने के लिये तैयार हैं कि चैत्य शब्द का चिता-सम्बन्धि स्थान-विशेष, अथवा चिता पर का चबूतरा वगैरह अर्थ उसका प्रधान एवं प्राचीनतम अर्थ नहीं है और इस अर्थ में उसकी प्रयुक्ति वैदिक या बौद्ध-साहित्य में तो भले कहीं पर हुई हो, परन्तु जैन-वाङ्मय में तो उसका इस अर्थ में व्यवहार कहीं पर नहीं हुआ । अतः हमारे ख्याल से तो चैत्य का शास्त्र-सम्मत प्रधान और प्राचीन अर्थ यज्ञ-स्थान, यज्ञवेदिका, देवमंदिर और देव-प्रतिमा आदि ही है । इसके अलावा उसका चितास्थानीय स्मारक अर्थ भी होता और हो सकता है, परन्तु वह सर्वप्राचीन या मुख्य नहीं

और नां ही इस अर्थ में उसका आगमों में कहीं व्यवहार उपलब्ध होता है। इस लिये हमारे विद्वान् मित्र के—(“मुझे मालूम नहीं होता, इत्यादि”) लेख में हमारे विचारानुसार तो कुछ भी सार नहीं है। (१)

वराहमिहिर की साक्षी

इसके अतिरिक्त हमारे विद्वान् बन्धु ने वैदिक परम्परा के प्राचीन कतिपय भारतीय विद्वानों के उल्लेखों में भी, अपने इस चिन्ता सम्बन्धि अर्थ को समर्थन करने का प्रयत्न किया है, परन्तु उसमें भी आप विफल ही रहे हैं, सफल नहीं हो पाये। उदाहरणार्थ आप लिखते हैं कि—

“भारत के प्राचीन वास्तुशास्त्री श्री वराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता के वास्तुविद्या नामक, २५ वें अध्याय में लिखा है कि “चैत्ये भयं ग्रहकृतम्” ग्रहा भूतानि (पृ० ६८७) अर्थात् यदि कोई-गृहस्थ चैत्य के पास अपना घर बनावे तो उसे भौतिक भय होना संभव है। इससे यह बात विशेष दृढ़ होती है कि चैत्य की जगह में भूतों का वास होना संभवित है और इस पर से उसका सामीप्यजन्य सूत्रों में जगह २ जो व्यन्तरायतन नाम बतलाया है उसकी युक्तता में विवाद मालूम नहीं देता; एवं चैत्य शब्द के प्राचीन तथा

(१) इसके अलावा ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, अंतकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक और विपाक श्रुत इन अंगसूत्रों में भी जहां २ पर “पुष्पभट्टे चेइये, गुणसिलिए चेइये” इत्यादि पाठ आये हैं उनमें प्रयुक्त हुआ चैत्य शब्द व्यन्तरायतन का वाचक है और टीकाकार महानुभावों ने भी यही अर्थ किया है। परन्तु व्यन्तरायतन का जो स्वरूप हम सप्रमाण ऊपर दर्शित कर आये हैं वही समुचित है और टीकाकारों को भी यही अर्थ अभिप्रेत है। इसके विपरीत उसका ‘चिता-स्थान पर का चबूतरा या कबर’ अर्थ करना व मानना नितान्त असंगत एवं आगम-विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त प्रश्नव्याकरण में उल्लेख किये गये ‘चैत्य’ और ‘देवकुल’ शब्द के सम्बन्ध में हमारे मित्र ने जो कुछ लिखा है उसकी आलोचना आगे की जायगी।

प्रधान अर्थ को चिता पर चिने हुए स्मारक स्तूप रूप अर्थ को भी कुछ बाधा नहीं पहुंचती ") पृ० १५२ ।

समीक्षा—

इस उल्लेख के विषय में हम अपनी तर्फ से कुछ कहें इससे पहले बृहत्संहिता के उस स्थल को यहां पर उद्धृत कर देना हमारे ख्याल में बहुत जरूरी है । ताकि वस्तुस्थिति के समझने में पाठकों को किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न करना पड़े । इस समय हमारे सामने वराहमिहिरकृत बृहत्संहिता और उसका हिन्दीभाषान्तर उपस्थित है उसके अध्याय ५३ श्लो० ८९-९० में इस प्रकार उल्लेख किया है—

१—सचिवालयेऽर्थनाशो, धूर्तगृहे सुतवधः समीपस्थे ।

उद्वेगो देवकुले, चतुष्पथे भवति चाकीर्तिः ॥८९॥

२—चैत्ये भयं ग्रहकृतं वल्मीके श्वभ्रसंकुले विपदः ।

गर्तायां तु पिपासा, कूर्माकारे धनविनाशः ॥९०॥

भा०—घर के निकट राजा के मंत्री का घर हो तो धन का नाश होता है, दूसरों को ठगने वाले का घर पास हो तो पुत्र का मरण, देवता का मन्दिर समीप हो तो चित्त को खेद रहे, चतुष्पथ (चौराहा) समीप हो तो अकीर्ति हो ॥८९॥

चैत्य अर्थात् प्रधान वृक्ष (अश्वत्थादि) घर के समीप हो तो घर के स्वामी को ग्रहों का डर है, सर्प की बाम्बी और गढ़ेदार भूमि घर के पास हो तो विपत्ति होवे, घर के समीप गढ़ा हो तो प्यास का रोग और कछुए के समान आकार वाली भूमि घर के समीप हो तो धन का नाश हो ॥ ९० ॥

बृहत्संहिता के इन श्लोकों को देखते हुए मालूम होता है कि यहां पर चितास्थान पर के चबूतरे या कबरें वगैरह अर्थ में चैत्य शब्द का

व्यवहार नहीं, किन्तु प्रधान वृक्ष अश्वत्थादि के अर्थ में उसकी प्रयुक्ति हुई है। अमरकोष को छोड़ कर बाकी के प्रायः सभी कोषों में उसका यह अर्थ—प्रधान वृक्ष अर्थ स्वीकार किया है (१)। त्रिकांड शेष कोष में ग्रामादि प्रसिद्ध देवता के निवास वाले महावृक्ष अश्वत्थादिक प्रधान वृक्ष के, चैत्य के अलावा देवतरु, करिभ और कुंजर ये तीन नाम और बतलाये हैं, (२) तब चैत्य के इस अर्थ में अश्वत्थादि प्रधान वृक्ष अर्थ में—चिता के सम्बन्ध को तो कोई अवकाश है नहीं, किन्तु उसके प्रधान और प्राचीनतम चयन विशेष अर्थ को ही मुख्य स्थान प्राप्त है। तात्पर्य कि “अश्वत्थ आदि प्रधान वृक्ष के पास घर बनाने से घर के स्वामी को ग्रहों का—भूतादि का भय होता है” इससे चैत्य का चिता-स्थान पर चिनाया गया चबूतरा या कबर वगैरह अर्थ प्रमाणित नहीं होता

(१) इसके लिए देखो निम्नलिखित कोषों के कतिपय पाठांश—

- (क) “चैत्यमायतने बुद्धबिम्बे चोद्देशपादपे” (मेदनी)
- (ख) “चैत्यमायतने बुद्धबिम्बे चोद्देशपादपे” (रुद्र)
- (ग) “बुद्धबिम्बे पुमांसचैव चैत्य उद्देशपादपे” (विश्वलोचने)
- (घ) “चैत्यमायतने बुद्धवन्द्ये चोद्देशपादपे” (विश्वकोष)
- (च) “शब्दस्तोममहानिधि—चित्याया इदमण्—ग्रामादि प्रसिद्ध महावृक्षे ।”
- (छ) वाचस्पत्यभिधान—चित्याया इदमण् . . . (१) ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे ।
- (ज) पद्मचन्द्र—चित्याया इदं अण्—ग्रामादि में प्रसिद्ध महावृक्ष ।
- (झ) “शब्दचिन्तामणि—चित्याया इदमण्—ग्रामविगेरेनी पासेनं महावृक्ष ।
इत्यादि ।

(२) चैत्यो देवतश्च देवावासे करिभकुंजरो ।

टी०—चैत्यः, देवतरुः, करिभः, कुंजर इति चत्वारि ग्रामादि प्रसिद्धस्य देवावासवृक्षस्य ।

किन्तु अश्वत्थ आदि प्रधान वृक्ष में व्यन्तर देव के कादाचित्क निवास की तो कल्पना होती है जो कि चैत्य के प्रधान वृक्ष अर्थ के विधायक कोष आदि के प्रमाणों से सिद्ध है। तथा अश्वत्थादि प्रधान वृक्ष में व्यन्तर देव के निवास को जैनशास्त्र भी स्वीकार करते हैं (१)। अतः भौतिक भय की सम्भावना, चैत्य का प्रधान वृक्ष अर्थ मान लेने पर सम्यग् उपपन्न हो जाती है। इसी अर्थ को सन्मुख रख कर यहां पर चैत्य शब्द की प्रयुक्ति की गई है, इस लिये वराहमिहिर की साक्षी से भी आपके माने हुए—प्रधान और प्राचीन अर्थ—चितास्थान पर बनाये गये चबूतरे वगैरह का समर्थन नहीं होता। वराहमिहिर ने तो यहां पर कोषादि में उल्लिखित हुए देवता के निवास वाले ग्रामादि प्रसिद्ध महावृक्ष अर्थ में ही चैत्य शब्द का व्यवहार किया है, जो कि चितासंसर्ग से बहुत दूर है।

प्रसिद्ध कोशों की साक्षी

इसके अनन्तर हमारे विद्वान् मित्र ने कतिपय प्रसिद्ध कोशों के प्रमाणों से अपने माने हुए प्राचीन अर्थ को समर्थित करने से पहले लिखा है कि—

["अब मैं चैत्य के प्राचीन अर्थ को ही दृढ़ बनाने के लिये कितनेक प्रसिद्ध २ कोशों के प्रमाण देता हूँ"] इत्यादि पृ० १५३

प्रिय पाठकगण ! ऊपर के उल्लेख से हमारे साक्षर बन्धु की

(२) ऐतेसि णं अट्ठण्हं वाणमंतर देवाणं अट्ठचेतियरुक्खा पं ० तं जहा—

"कडंबो अ पिसायाणं, वडो जक्खाण चेतितं ।

तुलसि भूयाणं भवे, रक्खसाणं च कंडओ ॥१॥

असोओ किन्नराणं च किं पुरुसाणय चंपओ ।

नागरुक्खोभुजंगाणं गंध व्वाणय तेंदुओ ॥ २ ॥ स्थानां० ८ सं० प० ४४२

मनोवृत्ति का खूब ही पता चल जाता है। आप अपने माने हुए चिन्ता सम्बन्धि अर्थ को दृढ़ बनाने के लिए हर प्रकार से कटिबद्ध हो रहे हैं। आप को चैत्य का एकमात्र चिन्तास्थानीय चबूतरा या कबर वगैरह अर्थ सिद्ध करना ही अभीष्ट है, एतदर्थ आप इसी अर्थ को पुष्ट करने वाले प्रमाणों को ढूँढ़ रहे हैं। चैत्य का यह अर्थ तो हमें भी स्वीकार है, और कोषों में उसका यह अर्थ उपलब्ध भी होता है, परन्तु उसका सर्वप्रधान और सर्वप्राचीन यही अर्थ है ऐसी मान्यता में हमें औचित्य प्रतीत नहीं होता। हमारे विचार से तो चैत्य शब्द के अन्यान्य अर्थों में से उसका यह भी एक अर्थ है और हो सकता है, तात्पर्य कि हमारा विचार तो इस अर्थ की प्रधानता और प्राचीनता पर है, न कि उसके इस अर्थ पर भी। इस अर्थ में भी कहीं पर चैत्य शब्द का व्यवहार होगा, हम इससे इन्कार नहीं करते, मगर इस अर्थ की प्रधानता और प्राचीनता में तो हमें एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, और कम से कम जैनागमों में तो उसका इस अर्थ में व्यवहार ही नहीं हुआ। अच्छा, अब प्रस्तुत पुस्तक में उद्धृत किये गये कोषों के प्रमाणों की ओर भी पाठक ध्यान दें, आप लिखते हैं—

(१) “वाचस्पत्यभिधान नामक विशालकाय कोश में इस शब्द के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से लिखा है—‘चैत्य न०—चित्याया इदं+अण्, “सेतुबल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिता” (याज्ञवल्क्य स्मृति पृ० १५३.)

(२) शब्दकल्पद्रुम नामक प्रसिद्ध कोष में चैत्य शब्द के विषय में निम्न उल्लेख उपलब्ध होता है “चैत्य न० पु० चित्यस्य इदं” “यत्र यूपान्निमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः” (महाभारत पृ० १५४)

समीक्षा—

बृहद्वाचस्पत्यभिधान और शब्दकल्पद्रुम के नाम से जो उल्लेख ऊपर उद्धृत किये हैं, उनमें चैत्य के चिन्तास्थानीय अर्थ की तो कहीं

गन्ध तक भी नहीं आती । ये दोनों उल्लेख चैत्य के जिस अर्थ को बोधित कर रहे हैं उसमें चितास्थान को कोई अवकाश नहीं है ।

१ वाचस्पत्यभिधान में चैत्य शब्द के व्यवहार का निदर्शक याज्ञवल्क्यस्मृति का—“सेतुवल्मीकनिम्नास्थिचैत्याद्यैरुपलक्षिताम्” यह श्लोकांश उद्धृत किया है । परन्तु इसमें चैत्य का चितास्थानीय अर्थ न तो प्रकरणसंगत है और न उसका यह अर्थ स्मृतिकार को अभीष्ट ही है । याज्ञवल्क्यस्मृति के सीमाविवाद प्रकरण में इसका उल्लेख किया है, इसमें प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का मिताक्षराकार ने पाषाणादि बन्ध अर्थ किया है—(चैत्यं पाषाणादिबन्धः) अर्थात् सीमा के विवाद में चैत्य—पाषाणादि बन्ध से सीमा का निश्चय करे (१) इससे यहां पर प्रयुक्त हुए चैत्यशब्द का भावार्थ पाषाणादि का विशिष्ट चयन ही प्रतीत होता है और उसमें चितासम्पर्क की कल्पना को कोई स्थान नहीं । अतः वाचस्पत्यभिधान के उक्त उल्लेख से हमारे मित्रवर्य का माना हुआ चैत्य का प्राचीनतम अर्थ प्रमाणित होता है कि नहीं, इसका निर्णय पाठक स्वयं करें । इसके अलावा वाचस्पत्यभिधान में चैत्य की—“चैत्ये भवः अणु, चैत्यस्थे देवभेदे चैत्यमखभेदे शब्दे दृश्यम्” इस प्रकार की व्युत्पत्ति करके जो उसका चैत्य-मंदिर में स्थित देव प्रतिमा अर्थ किया है उसका भी पाठक अवश्य ख्याल रखें ।

(१ सम्पूर्ण श्लोक और उसकी मिताक्षरा व्याख्या का पाठ यह है—
नयेयुरेत सीमानं, स्थलांगारतुषट्मैः ।

सेतु वल्मीक निम्नास्थि चैत्याद्यै रुपलक्षिताम् ॥९॥१५२ ।

मिताक्षरा—स्थलमुन्नतो भूप्रदेश. अंगारोऽग्नश्छिष्टम् ,

तुषाधान्यत्वचः, दुमान्यप्रोधादयः, सेतुर्जलप्रवाहबन्धः;

चैत्यं पाषाणादिबन्धः, आदिशब्देन वेणबालकादीनां ग्रहणम् ।

यह इतना स्फुट है कि इसमें किसी प्रकार के भ्रम को अवकाश ही नहीं रहता ।

(२) अब शब्दकल्पद्रुम की ओर आइये ! इसमें महाभारत के नाम से जो आधा श्लोक उद्धृत किया है उसमें स्तूप और चैत्य तो चिता स्थान से दूर का भी कोई वास्ता नहीं रखते । मालूम होता है कि महाभारत के इस श्लोकार्द्ध में उल्लेख किये स्तूप और चैत्य के प्रकरण-संगत वास्तविक अर्थ को जानने के लिये हमारे मित्र ने महाभारत के इस स्थल को देखने का कष्ट नहीं उठाया, अन्यथा वे अपने प्राचीन अर्थ के समर्थन में उक्त कोष के इस उल्लेख को प्रस्तुत करने का कभी साहस न करते ।

महाभारत सभापर्व के तीसरे अध्याय में वर्णन आता है कि “भगवान् श्रीकृष्ण ने ‘मय राक्षस’ को युधिष्ठिर के लिए एक विशिष्ट प्रकार का सभा-भवन तैयार करने का कहा, और मयदानव ने उसे स्वीकार कर लिया । तदनन्तर मय ने कहा कि मेरा रंग का वर्तन मैनाक पर्वत पर पड़ा है, मैं वहां से जाकर ले आऊं । (१) ऐसे युधिष्ठिर

(१) इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थ प्रागुदीचीं दिशं गतः ।

अथोत्तरेण कैकाशान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥९॥

हिरण्यशृङ्गः सुमहान् महामणिमयो गिरिः ।

रम्यं बिन्दुसरो नाम, यत्र राजा भगीरथः ॥१०॥

द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः ।

आहूताः क्रतवो मुख्याः, शतं भरतसत्तम ! ॥

यथेष्टं सर्वतभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥११॥

शोभार्थं विहितास्तत्र नतु दृष्टान्ततः कृताः ।

यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥१२॥

यत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं, सहस्राक्षः शचीपतिः ॥

से कह कर वह पूर्वोत्तर दिशाको गया, वहां कैलाश के उत्तर में मैनाक पर्वत पर पहुंचा और वहां बिन्दुसर नाम का एक अतिरमणीय स्थान है जहां पर भागीरथी गंगा के दर्शनार्थ महाराज भगीरथ ने बहुत वर्षों तक निवास किया, और हे भरतसत्तम ! प्रजापति ने भी इसी स्थान में मैनाक पर्वत पर सौ प्रधान यज्ञ किये हैं और वहां पर शास्त्र-विधि के अनुसार नहीं, किन्तु केवल शोभा के लिये ही मणिमय यूप-स्तूप और स्वर्णमय चैत्य निर्माण किये गये । तथा इन्द्र ने भी यहीं पर यज्ञ करके प्रसिद्धि प्राप्त की है” इत्यादि । इस प्रकरण को देखते हुए हमारे ख्याल में तो आपके सिवा कोई भी बुद्धिमान् पुरुष ऐसी पवित्र यज्ञभूमि में केवल शोभा के निमित्त बनाये गये मणिमय स्तूपों और हिरण्यमय चैत्यों को मरे हुआओं की चिताओं पर चिनाये गये चबूतरे या कबरें कहने व मानने को तैयार नहीं हो सकता । यहां के चैत्यों को चितास्थान पर के स्मारक कहना हमारे मित्र का यदि उन्मत्त प्रलाप नहीं तो दुर्गग्रह अवश्य है । हम नहीं समझते कि शब्दकल्पद्रुम के इस उदाहरण को प्रस्तुत करते समय आपकी विचार-शक्ति किस अनिवार्य कार्य में व्यस्त हो रही थी । हमारे मित्र हमें क्षमा करें, हम को तो इस समय आप के सम्बन्ध में कविसम्राट् कालिदास की—

“कामार्ता हि प्रकृतिकृपणारचेतनाचेतनेषु” यह उक्ति बहुत ही याद आती है । भला, आप यह तो बतलायें कि शब्दकल्पद्रुम को देखते समय आपने वहां पर उल्लेख किये गये (“चैत्ये देवायतनादि-स्थाने तिष्ठतीति, चैत्य-अण्”) इस मूर्तिवाद के समर्थक चैत्य शब्द के अर्थ को नहीं देखा ? यदि देखा है तो यह किसकी चिता पर का चबूतरा है ? और यह अर्थ मूर्तिवाद का पोषक है कि नहीं ? अथच यदि नहीं देखा तो अब हमारे अनुरोध से देखने की कृपा करें । सुबह

का भूला अगर शाम को घर आजाता है तो वह भूला नहीं कहा जाता । जहां तक हम समझ सके हैं उक्त दोनों कोषों के प्रमाण उद्धृत करने से तो आप को लेने के देने पड़ गये, ये दोनों ही प्रमाण आप के इस प्राचीन अर्थ के साधक होने के स्थान में बाधक ही सिद्ध होते हैं ।

इस लिये आपके इस निर्णय में भी कुछ दम दिखाई नहीं देता, जिस को कि आपने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है । यथा—

“इस प्रकार चैत्य का मैंने जो अर्थ साबित करके बतलाया है मैं अनुमान करता हूँ कि उसमें पाठकों को अब किसी तरह का संशय विपर्यय या भ्रम रहने का अवकाश नहीं रहता । जैनसूत्रों ने और अन्यान्य प्रामाणिक शब्दकोषों ने भी इसी अर्थ को प्रधान भाव से स्वीकृत किया है ।” (पृ० १५४) ।

प्रिय बन्धुवर ! आप का यह नितान्त भ्रम है कि आपने चैत्य शब्द का जो अर्थ कल्पित किया है, उसके विषय में पाठकों को अब किसी प्रकार के संशय विपर्यय या भ्रम रहने का अवकाश नहीं रहता । पाठक इतने बुद्ध नहीं कि आप की इस प्रमाणशून्य कल्पना से सहमत हो जायें । “जैनसूत्रों और प्रामाणिक शब्दकोषों ने भी इसी अर्थ को प्रधान भाव से स्वीकृत किया है” आपके इस कथन में जरा जितनी भी सच्चाई नहीं है । हम किसी प्रकार के आवेश में आकर नहीं, किन्तु सत्यता के बल पर निस्संकोच भाव से यह कहने को वलपूर्वक सन्नद्ध हैं कि किसी भी जैनागम और किसी भी प्रामाणिक शब्दकोष में चैत्य के इस अर्थ को चिन्तास्थान पर चिनाये गये स्मारक स्तूप, चबूतरे या कबरें वगैरह अर्थ को कहीं पर भी प्रधान स्थान नहीं दिया गया । बल्कि हम तो यहां तक भी देख चुके हैं कि जैनागमों में इस अर्थ को कोई स्थान ही प्राप्त नहीं हुआ । उनमें तो चैत्य के मन्दिर और मूर्ति

अर्थ को ही प्रधान पद प्राप्त है अर्थात् इसी अर्थ को वहां प्रधान भाव से स्वीकृत किया गया है । तथा प्रामाणिक शब्दकोषों में भी उक्त अर्थ की प्रधानता-विषयक कोई उल्लेख नहीं है ।

हम ऊपर अनेक प्रबल प्रमाणों द्वारा यह अच्छी तरह से सिद्ध कर आये हैं कि चैत्य का—“चितास्थान पर चिनाया गया स्मारक” यह अर्थ न तो मुख्य है और ना ही दूसरे अर्थों से अधिक प्राचीन । इसके अलावा वैदिक और जैन साहित्य का जहां तक हमने परिशीलन किया है उसमें कहीं पर भी “चितास्थान पर चिनाया गया स्मारक- (स्तूप-चबूतरा या कबर आदि) यह चैत्य शब्द का मुख्य और प्राचीन अर्थ है” इस प्रकार का उल्लेख आज तक हमारे देखने में नहीं आया । इस पर भी हमारे विद्वान् मित्र की दृष्टि में इस प्रकार का उल्लेख है तो वे अवश्य बतलाने की कृपा करें । हम उसे सहर्ष स्वीकार करने के अतिरिक्त आपके विशेष आभारी भी होंगे ।

इस वक्त तक तो आप ने जैनसूत्रों और प्रामाणिक शब्दकोषों के जितने उल्लेख उद्धृत किये हैं उनमें से तो ऐसा एक भी उल्लेख देखने में नहीं आया, जिस का यह अर्थ हो सके कि चैत्य का मुख्य और प्राचीन अर्थ “चिता पर का स्मारक चिन्ह” ही है । जैनागमों में जहां २ पर चैत्य शब्द का उल्लेख आया है वहां २ आपने उसका जबरदस्ती से चितास्थान पर का स्मारक अर्थ करने का प्रयत्न किया है । इसी प्रकार शब्दकोषों में उसके यज्ञस्थान, देवमंदिर, देवप्रतिमा और प्रधानवृक्ष आदि अर्थों के साथ उसका चिता पर का स्मारक अर्थ भी दिया है, परन्तु इतने पर से चैत्यशब्द का यही अर्थ सर्वप्रधान और प्राचीनतम है, बाकी के सब गौण तथा वातावरण से उत्पन्न हुए अर्वाचीन अर्थ हैं, यह कल्पना किस प्रकार की जा सकती है, यह

हमारी समझ में नहीं आया। एवं—“जैनसूत्रों और अन्यान्य प्रामाणिक शब्दकोषों ने भी इसी अर्थ को प्रधान भाव से स्वीकृत किया है” यह उल्लेख तो जहां आपकी चैत्य-शब्दार्थ-विषयक आग्रहपूर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है वहां आपके अपूर्व साहस की भी पूरी दाद देता है। आपने पाठकों को बुद्ध बनाने का अच्छा आयोजन किया है। चैत्य शब्द का “चितास्थानीय स्मारक” अर्थ साबित करने के लिये जैन-सूत्रों और प्रामाणिक शब्दकोषों से जो २ प्रमाण उपस्थित किये हैं उन पर से न तो चिता पर का स्मारक, यह चैत्य का मुख्य और प्राचीन अर्थ ही प्रमाणित होता है और ना ही इस अर्थ में उसका किसी जैनागम या प्राचीन वैदिक ग्रंथ में व्यवहार ही दृष्टिगोचर होता है। अतः हमारे ख्याल में तो आप का यह समझना कि आपकी ओर से प्रस्तुत की गई चैत्य शब्द की व्याख्या से विचारशील पाठक सहमत या संतुष्ट हो गये और अब उनको इस विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं रही अपने आपको धोखा देना है।

तीर्थंकरों की चितापरके चैत्यस्तूप

वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों भारतीय धर्मों के प्रामाणिक साहित्य में चैत्य शब्द का पुष्कल व्यवहार देखने में आता है। विचार करने पर उसका मुख्य और प्राचीन यौगिक अर्थ तो इष्टकाचयन से निष्पन्न होने वाला आकार विशेष ही प्रतीत होता है। इस विशिष्ट चयन को लेकर वह (चैत्य) यज्ञमंडप, हवनकुण्ड, स्तूप, मंदिर, मठ, मकान और चबूतरा आदि चयन निष्पन्न सभी अर्थों में व्यवहृत हो सकता है, परन्तु उसके विशिष्ट अर्थ की निश्चायक तो उसकी प्रवृत्ति ही है। प्रवृत्ति के आधार पर ही शब्द के अर्थ का निश्चय किया जाता है। शब्दार्थनिर्णय का यही निश्चित और सुगम उपाय है। अगर हम

चैत्य शब्द का चयनविशेष निष्पन्न प्राचीन अर्थ मंदिर (१) कल्पना करें तो जैसे वह किसी अन्य पवित्र स्थान में बनाया जाता है, उसी प्रकार उसका चितास्थान पर भी निर्माण हो सकता है। परन्तु चितास्थान पर का चैत्य श्मशान चैत्य कहलायेगा (२), जब कि दूसरा मात्र चैत्य के नाम से सम्बोधित होगा। अतः श्मशानगत चैत्य चितामंदिर और उससे अतिरिक्त स्थान पर का चैत्य केवल मंदिर के नाम से अभिहित किया जाता है। एवं जहां पर किसी मरे हुए संभावित व्यक्ति की अस्थियाँ रखकर उनके ऊपर जो चैत्य का निर्माण हुआ हो, उसे समाधि-मंदिर या गुरुमंदिर कहना चाहिये। आचारांगसूत्रगत “मङ्ग्यचेइयेसु-मृतक चैत्येषु” का उल्लेख इन्हीं श्मशान चैत्यों—चिता मंदिरों अर्थात् श्मशान भूमि अथवा चितास्थान पर बनाये गये चैत्यों-मंदिरों का परिचायक है, इसी प्रकार तीर्थंकर देव के निर्वाण स्थान पर जो चैत्य स्तूप-चैत्य के आकार का स्तूप-निर्माण किया जाता है उसे चिता मंदिर कहने व मानने की अपेक्षा तीर्थंकर देव का पूज्य स्मारक कहना व मानना कुछ अधिक उचित प्रतीत होता है। तब इस सारे कथन का तात्पर्य यह हुआ कि चैत्य शब्द की उत्पत्ति, व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति की ओर ध्यान देने से यदि उसके वास्तविक अर्थ की कल्पना की जाय तो वह चयननिष्पन्न--इष्टकादिनिर्मित--आकारविशेष ही सिद्ध

(१) “मंदिर के लिये सत्र से पुराना नाम चैत्य है” पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए० (देखो नागरी प्र० प० का देवकुल विषयक लेख)

(२) रावण के सम्बन्ध में “श्मशान चैत्य” शब्द का व्यवहार बाल्मीकीय रामायण में इस प्रकार किया है—सकल्पवृक्षप्रतिमो वसन्त इव मूर्तिमान्। श्मशानचैत्यप्रतिमो भूषितोऽपि भयंकरः ॥ (सुन्दर काण्ड सर्ग ३२) अर्थात् अलंकारों से विभूषित हुआ भी रावण श्मशानगत चैत्य-मंदिर की भांति भयंकर प्रतीत होता था।

होता है। इस अर्थ के अनुसार ही उसका यत्र तत्र व्यवहार हुआ है। जो चैत्य-इष्टकादिनिर्मित आकारविशेष-श्मशान में निर्मित होगा उसे श्मशानचैत्य कहेंगे। एवं मृतक के स्थान पर का चैत्य-अमुक प्रकार का इष्टकाचयन-मृतकचैत्य कहलायेगा और मृतक के अवशेषों पर का चैत्य-इष्टकाचयन, चितामंदिर, समाधिमंदिर कहा जायगा। तथा चिता से अतिरिक्त स्थान का चैत्य-इष्टकादि-सम्पादित विभिन्न प्रकार की विशिष्ट रचनायें स्वकीय प्रवृत्ति के अनुसार यज्ञस्थानीय स्थंडिल व हवनकुण्ड आदि तथा देवमंदिर, और देवस्थान के नाम से सम्बोधित होंगे। सारांश कि चैत्य का प्रधान अर्थ चयन-सम्बन्धि अर्थात् इष्टकादि से निष्पन्न हुआ आकारविशेष है, न कि चिता-सम्बन्धि-चितास्थानीय स्मारक मात्र। इस लिये तीर्थंकर देव की निर्वाण भूमि पर (जहां पर कि उनके शरीर का दाह किया गया है) देवनिर्मित चैत्यस्तूप का अर्थ चितास्थान पर का स्तूप नहीं, किन्तु चितास्थान पर निर्माण किया गया चैत्याकार—चैत्य के आकार—जैसा स्तूप है। और उसका आगम सम्मत भी यही अर्थ है।

हमने यह उपोद्घात इस लिये किया है कि हमारे विद्वान् मित्र ने चैत्य के अपनी तर्फ से कल्पित किये हुए चिता सम्बन्धि अर्थ को प्रधान और प्राचीन प्रमाणित करने के लिये आगे जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के नाम से जो उल्लेख किया है, उसके रहस्य को समझने में पाठकों को किसी प्रकार की कठिनाई न हो।

पूर्वोक्त उपसंहार के अनन्तर आप लिखते हैं कि—

(“अभी तक भी मेरे श्रद्धालु जैनी भाई इस सम्बन्ध में इस तरह का संशय कर सकते हैं कि जैन धर्म में इस प्रकार के स्तूप बनाने का रिवाज था या नहीं इस बात का क्या प्रमाण? ... लीजिये मैं ऐसे प्रमाण देने को भी तैयार हूँ और एतदर्थ एक से अधिक प्रमाण, सो भी आपके मान्य ग्रन्थों के उल्लेख आपके सामने रखता हूँ—

(“अभी तक भी मेरे श्रद्धालु जैनी भाई इस सम्बन्ध में इस तरह का संशय कर सकते हैं कि जैनधर्म में इस प्रकार के स्तूप बनाने का रिवाज था या नहीं, इस बात का क्या प्रमाण है? . . . लीजिये मैं ऐसे प्रमाण देने को भी तैयार हूँ और एतदर्थ एक से अधिक प्रमाण से भी आपके मान्य ग्रंथों के उल्लेख आपके सामने रखता हूँ—

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (अजीम० पृ० १४०-१४७) ।

“तएणं ते सक्के देविंदे देवराया++भवण-वाणमंतर-जोइस वेमाणिए देवे एवं वयासी+तओ चिइगाओरएह+तित्थगर चिइगाए, गणहर चिइगाए, अणगार चिइगाए अगणिकायंविउव्वह+खीरोदगेणं णिव्वावेह+तएणं सक्के भगवओदाहिणं सकहं गेण्हद” (इत्यादि) तएणं से सक्के+वेमाणिए देवे जहारियं एवंवियासी+भोदेवाणुप्पिया ? सव्वर यणामये महए महालए तओ चेइयथूमे करह, एगं भगवओ तित्थगरस्स चिइगाए, एगं गणहर चिइगाए, एगं अवसेसाणं अणगाराणं चिइगाए+तएणं ते+करेंति तए णं जेणेव साइं साइं भवणाइं+सगासगा माणवगा चेइयक्खं भाते-णेव+उवागच्छिता वइरामएसु गोल समुग्गएसु जिणसक-हाओ पक्खिवंति”

इस उल्लेख में श्री जिन भगवानों के निर्वाण-प्रसंग का वर्णन किया है। उसमें बतलाया है कि “देवेन्द्र देवराज शुक्र ने देवताओं से कहा कि तीन चित्तिकाएं बनाओ, एक तीर्थंकर की, दूसरी गणधरों की और तीसरी सब साधुओं की। उसमें अग्नि प्रकट करो और बाद में जल से ढंडी करो। फिर उन शक्रादि देवों ने यथोचित रीति से उस पवित्र भस्म में से श्री जिन भगवानों की अस्थियां चुन लीं (इत्यादि),

इसके बाद शक्रेन्द्र ने आर्यरीत्यनुसार देवताओं से कहा कि हे देवो ! तुम बड़े से बड़े रत्नमय तीन स्तूप रचो, एक तीर्थंकर की चिता पर दूसरा गणधरों की चिता पर और तीसरा साधुओं की चिता पर । देवों ने शक्र की आज्ञानुसार वहां पर तीन स्तूप बनाये और फिर वे देव अपने २ स्थान पर चले गये । अपने स्थानों पर जाकर उन अस्थियों को गोल डब्बे में रख कर उन्होंने वे गोल डब्बे अपने २ चैत्य-स्तम्भ में रखे ।” टीकाकार भी इसी अभिप्राय का समर्थन करते हैं—

“ततश्चितिका निर्वाणादनु भगवतस्तीर्थंकरस्य++ सक्थि शक्रो गृह्णाति+विद्याधराश्चित्ताभस्म शेषं च गृह्णन्ति+भस्मनि गृहीते अखातायामेय गर्तायां जातायां मा भूत् तत्र पामरजनकृताशातनाप्रसंगः सातत्येन तीर्थ-प्रवृत्तिश्च स्यात् इति स्तूपविधिमाह+त्रीन् चैत्यस्तूपान्+ कुरुत चितात्रयं क्षितिषु इत्यर्थः ॥ (अज्जीम०पृ० १४०-१४७)

जो भाव उपर्युक्त मूल पाठ में बतलाया है उसी भाव का अक्षरानुवाद टीकाकार ने किया है । इतना विशेष दर्शाया है कि भगवान् के दाहस्थान की आशातना न हो और निरन्तर तीर्थप्रवृत्ति हो, इसी कारण चितास्थान पर चैत्यस्तूप बनाये जाते हैं । इस प्रकार टीकाकार ने चैत्यशब्द के प्रधान अर्थ की पूज्यता भी बतलाई है । इतना उल्लेख करने के बाद फिर आप लिखते हैं—

“अब तो पाठकों का मन ठंडा हो गया । चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ के विषय में एवं जैनी पद्धति के सम्बन्ध में भी पूर्वोक्त अनेक प्रमाणों द्वारा उसकी असंलीयत को पाठक भली भांति समझ गये होंगे” (प० १५८) ।

समीक्षा—

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति के नाम से तीर्थंकर, गणधर और साधुओं की चिताओं पर चैत्यस्तूपों के निर्माण-विषयक ऊपर जो उल्लेख किया है वह अक्षरशः सत्य है। जैनपरम्परा में इस प्रकार के चैत्यस्तूपों के निर्माण की प्रथा बहुत प्राचीन काल से प्रचलित थी, इससे न तो हमें ही इनकार है और न किसी अन्य विचारशील विद्वान् को हो सकता है, परन्तु इस पर से हमारे मित्र के माने हुए चैत्य के प्रधान और प्राचीन अर्थ की पुष्टि तो किसी प्रकार से भी नहीं हो सकती। यहां पर तो तीर्थंकर और गणधरादि की चिताओं पर तीन चैत्य-स्तूपों के निर्माण करने का उल्लेख है। इस उल्लेख में चैत्य शब्द का जो अर्थ निर्दिष्ट होता है वह तो इष्टकादि के विशिष्ट चयन से निष्पन्न होने वाला आकार-विशेष ही है, जिस का कि निर्माण चिता और उससे भिन्न स्थान पर भी सम्भव है। यदि चैत्य का “चितास्थान पर का स्मारक” इतना ही अर्थ सूत्रकार को अभीष्ट होता तब तो यहां पर चिता और चैत्य इन दोनों के ही उल्लेख की आवश्यकता नहीं थी, केवल स्तूप शब्द से ही निर्वाह हो सकता था। इतना लिख देना पर्याप्त था कि यहां पर चैत्य के नाम से विख्यात तीन स्तूप बनाओ, मगर यहां पर तो चितास्थान पर चैत्यस्तूप बनाने का आदेश दिया गया है। इसका तो सीधा और स्पष्ट अर्थ चितास्थान पर चैत्याकार स्तूप है, अर्थात् शक्रेन्द्र देवों को आज्ञा देते हैं कि तुम यहां तीन ऐसे स्तूप बनाओ जो कि चैत्याकार-चैत्य-मंदिर के आकार के हों, अर्थात् जिनकी आकृति चैत्य-मंदिर के समान हो। इस पर से अर्थात् चैत्य को स्तूप का विशेषण बनने से उसका मूल अर्थ चयन-निष्पन्न आकार-विशेष ही अधिक संगत और आगमसम्मत प्रतीत होता है। जो चैत्य या चैत्यस्तूप चितास्थान पर निर्मित होगा, वह चिता-

स्थानीय चैत्य या चैत्यस्तूप कहलायगा और उससे अतिरिक्त स्थान का केवल चैत्य या चैत्यस्तूप । तात्पर्य कि संभावित व्यक्तियों की चिताओं पर जो चैत्य निर्माण किये जाते हैं वे चिता-मन्दिर या समाधि मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध हैं और जो अन्य यज्ञादि पवित्र स्थानों पर देव-प्रतिष्ठार्थ चिनाये जाते हैं, वे देवमन्दिर के नाम से विख्यात हैं । चैत्य शब्द का सामान्य अर्थ मन्दिर है जो कि उसकी यौगिक व्युत्पत्ति के सर्वथा अनुरूप है । (१) अतः चैत्य के इष्टकादि निर्मित आकार विशेष इस मुख्य अर्थ को सन्मुख रखते हुए उसका सामान्यतया मन्दिर (फिर वह देवमन्दिर हो या समाधिमन्दिर) अर्थ में ही प्राचीन, वैदिक जैन और बौद्ध साहित्य में व्यवहार हुआ देखा जाता है । इसके विपरीत "चितास्थान पर चिनाये गये स्मारक" यह चैत्य का अर्थ, न तो उसका मुख्य अर्थ ही है और न किसी प्राचीन विद्वान् ने ऐसा अर्थ माना ही है । हमारे मित्र तो यह कहते हैं कि उन्हें आगमों में एक स्थान भी ऐसा न मिला कि जहां पर चैत्य शब्द का यह प्राचीन और प्रधान अर्थ (चिता स्थान पर का स्मारक) असंगत एवं अप्राकरणिक हो तथा इस उक्त प्रधान अर्थ को अभिव्यक्त करने में वहां कुछ भी अस्पष्टता हो (२), परन्तु हमने जहां तक इस विषय की छान-बोन की है हम भी बलपूर्वक यह कहनेको तैयार हैं कि हमें जैनागमोंमें ऐसा एक भी स्थान उपलब्ध नहीं हुआ कि जहां पर चैत्य-का "चितास्थानीय स्मारक"

(१) चित्ते: चित्त्यस्य वा—इष्टकादिचयनस्य, लेप्यादिचयनस्य इदं भावः कर्म वेति चैत्यं यह चैत्य शब्द की यौगिक व्युत्पत्ति है ।

(२) मुझे यह मालूम नहीं होता कि पूर्वोक्त प्रकार से ग्यारह अंगों में उल्लेखित किया हुआ चैत्य शब्द अपने प्राचीन एवं प्रधान अर्थ को प्रकाशित करने में जरा भी पीछे हटता हो या उसका वह अर्थ कहीं भी असंगत होता हो । (पृ० १५२)

अर्थ किया हो। दूसरे शब्दों में कहें तो उनमें इस अर्थ को अवकाश ही नहीं दिया गया। इस लिये जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति के नाम से जो उल्लेख ऊपर किया गया है उससे भी चैत्य का चितास्थान पर चबूतरे या कबरें आदि अर्थ प्रमाणित नहीं हो सकता, अर्थात् इस अर्थ की प्रधानता और प्राचीनता का साधक वहां पर स्पष्ट या अस्पष्ट कोई भी उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता।

भला आप यह तो बतलायें कि शक्र प्रभृति देवों ने जो गोल डब्बे अपने २ चैत्य-स्तम्भ में ले जाकर रखे, वे चैत्यस्तम्भ किस की चिता पर बने हुए हैं? क्या इसका उल्लेख किसी आगम में है?

इसके अलावा आपके इस उल्लेख से पाठकों का मन ठंडा हुआ है या कि नहीं और आपके द्वारा प्रस्तुत किये गये चैत्यशब्द के प्रधान अथवा प्राचीन अर्थ से उन्हें सन्तोष प्राप्त हुआ है कि नहीं, इसका उत्तर तो पाठक ही दे सकते हैं, परन्तु पाठकों में यदि हमारा भी नाम निर्देश हो सकता है तो हमें यह कहने में जरा जितना भी संकोच नहीं कि आपने ऊपर जितने प्रमाण उपस्थित किये हैं उनमें से एक भी प्रमाण ऐसा नहीं जो कि आपके कल्पना किये गये चैत्यार्थ की प्रधानता और प्राचीनता सिद्ध करता हो। आप जैसे साक्षर और विचारशील विद्वान को विचार प्रदेश में इतना बिछड़ा हुआ देख कर हमें तो लज्जा आती है। समय की बलिहारी है, उसके प्रभाव से सुपथगामी व्यक्ति को भी विपथगामी बनाते देर नहीं लगती।

मूर्तिपूजा की जड़

इसके आगे हमारे विद्वान बन्धु लिखते हैं कि—

(१) “अब मैं आप को यह बात भी स्पष्टतया कह देना चाहता हूँ कि इस चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ में ही मूर्तिपूजा की जड़

समाई हुई है। मूर्ति का मूल इतिहास चैत्य से ही प्रारम्भ होता है और मूर्ति का प्रथम आकार भी चैत्य ही है" इत्यादि।
 (२) "हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजन के लिये नहीं, बल्कि उन मरने वाले महापुरुषों की यादगार के तौर पर निर्माण किये थे, परंतु बाद में उनकी पूजा प्रारम्भ होगई थी जो आज तक चली आ रही है" इत्यादि (पृ० १५९)।

समीक्षा—

(१) चैत्य शब्द के प्रधान अर्थ का विचार हम ऊपर कर आये हैं। उसका प्रधान अर्थ देवमंदिर और मूर्ति है। जैनागमों में प्रधान भाव से इन्हीं दो अर्थों में चैत्य शब्द का व्यवहार किया है। इसी हेतु से आगमों में चितास्थानीय चैत्य का मृतक चैत्य के नाम से उल्लेख किया है (मडयचेइयेसु—मृतकचैत्येषु—आचारांगसूत्र) यदि चैत्य का चितास्थान पर निर्माण किया हुआ चिन्ह विशेष अर्थ ही उसका मुख्य और प्राचीन अर्थ आगमकार को अभिमत होता तो चैत्य के साथ मृतक शब्द के उल्लेख की कीर्झ आवश्यकता नहीं थी। केवल चबूतरा या कबर वगैरह मृतक का ही हो सकता है, जीवित का नहीं, फिर उसके लिये मृतक विशेषण देना निरर्थक है, जब कि वह इतर का—किसी दूसरे का व्यावर्तक नहीं। अतः चैत्य का उसकी उत्पत्ति व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति के अनुसार प्रधान और प्राचीनतम अर्थ तो चयन-निष्पन्न विशिष्ट प्रकार का आकार ही सिद्ध होता है, जो कि जैनागमों में, प्रधान भाव से मंदिर और मूर्ति के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इसके अतिरिक्त वैदिकपरम्परा के प्राचीन साहित्य में भी उसका चयन निष्पन्न यज्ञस्थानीय स्थंडिल, मंदिर, मूर्ति, प्रासाद और प्रधान वृक्ष इन्हीं अर्थों में प्रधानतया व्यवहार देखने में आता है। चैत्य का चिता-

स्थान पर का चबूतरा आदि अर्थ भी हो सकता है इससे हम इनकार नहीं करते, परन्तु यह उसका प्रधान और प्राचीन अर्थ नहीं, यह बात हम अनेक प्रबल प्रमाणों द्वारा ऊपर साबित कर आये हैं। इस लिये चैत्य के इस प्रधान अर्थ में मूर्तिपूजा की मौलिकता को स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नजर नहीं आती, क्योंकि मंदिर और मूर्ति, ये दोनों चैत्य के ही प्रतीक हैं। चैत्य शब्द से इन दोनों का ग्रहण जहां आगमसम्मत है वहां वैदिक-परम्परा का प्रामाणिक साहित्य भी इसका पूरा समर्थक है। इस दृष्टि से यदि यह मान भी लिया जाय कि “मूर्ति का मूल इतिहास चैत्य से ही प्रारम्भ होता है” तो हमारे ख्याल में कोई हानि नहीं। इसी तरह मंदिर और मूर्ति अर्थ में प्रधान भाव से व्यवहृत होने वाले चैत्य को-लेप्यादि चयन निष्पन्न आकार विशेष को यदि मूर्ति का प्रारंभिक स्वरूप भी कह दिया जाय तो भी कोई क्षति नहीं। उपासनार्थ कल्पना की गई उपास्य देव की प्रतीक का चैत्य के नाम से व्यवहार तो आगमसिद्ध है, और समयानुसार उसके आकार में परिवर्तन भी अस्वाभाविक नहीं, परन्तु इस पर से उसकी मूल स्थिति में कोई बाधा नहीं पहुंचती। दूसरे शब्दों में कहें तो चैत्य शब्द के देवमंदिर और देवमूर्ति ये दोनों अर्थ बाकी के अर्थों से मुख्य और अधिक प्राचीन हैं। जैनागमों में तो प्रायः इन्हीं दो के लिये उसका उपयोग किया गया देख पड़ता है, अतः चैत्य शब्द के इस प्रधान अर्थ में चयन-निष्पन्न आकार-विशेष अर्थ में मूर्ति और मंदिर को जितनी प्रधानता प्राप्त है उतनी और किसी को नहीं।

(२) इसके अलावा आप जिस प्रमाण के आधार पर यह लिखने का साहस कर रहे हैं कि “हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजने के लिये नहीं, बल्कि उन मरने वाले महापुरुषों की यादगार के तौर पर निर्माण

किये थे” वह कोई वेदवाक्य या आगमवाक्य नहीं है । अगर किसी प्राचीन ऋषि या पूर्वधर का ऐसा कथन होता तो हमें उसके स्वीकार करने में जरा जितना भी ननु-नच न होता, परन्तु जहां तक हम देख सके हैं, प्रस्तुत पुस्तक में नागरीप्रचारिणी पत्रिका में से उद्धृत किये गये अजमेर-निवासी पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी के एक लेखांश के सिवा और कोई भी प्रमाण इस विषय में उपस्थित नहीं किया गया । गुलेरी जी का यह कथन कि “जैनों के स्तूप और चैत्य पहले स्मारक चिन्ह थे, फिर पूज्य हो गये” आप के लिये भले ही आप्त वचन हो और आप उसकी यथार्थता के अन्धविश्वासी बनकर पूजनीय चैत्यों—जिन-मंदिरों को केवल यादगार मात्र या नुमाईशी दर्शगाह मात्र कहने का साहस करें, परन्तु हमारी दृष्टि में तो इस कथन का कुछ भी मूल्य नहीं; यह न तो स्वयं प्रामाणिक है और ना ही उसकी प्रामाणिकता का किसी विशिष्ट प्रमाणान्तर से समर्थन हो सकता है । हमारी तो यह प्रामाणिक और सुनिश्चित धारणा है कि जैनागमों में उल्लेख किये गये चैत्य आरम्भ से लेकर अन्त तक पूज्य थे और पूज्य रहेंगे । उनका निर्माण केवल यादगार के तौर पर न तो कभी हुआ और न कभी होगा । उनका निर्माण तो आत्मशुद्धि या आत्मविकास के निमित्त परमात्मोपासना या प्रभुभक्ति के लिये किया गया है, अन्यथा उपासनात्व को जैनपरम्परा में कोई स्थान नहीं रहता । इस लिये जैन-परम्परा में आरंभकाल से ही चैत्यों—जिनालयों—देवालयों की स्थापना देवपूजा या देवोपासनार्थ ही की गई है, न कि मरे हुए महापुरुषों की यादगार मात्र कायम रखने के लिये । अतः “हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजने के लिये नहीं” इत्यादि पूर्वोक्त उल्लेख हमारे विचार से सर्वथा भ्रान्त और अप्रामाणिक है । हमें तो प्रामाणिक समस्त

वाङ्मय में ऐसा एक भी वाक्य उपलब्ध नहीं हुआ कि जिसके आधार पर हम प्राचीन या अर्वाचीन चैत्यों को केवल मरे हुए महा-पुरुषों की यादगार मात्र सिद्ध कर सकें, और विपरीत इसके जैनागमों में ऐसे अनेक उल्लेख देखने में आते हैं कि जो इन चैत्यों को स्पष्टरूप से वन्दनीय और पूजनीय प्रमाणित कर रहे ह। हम आगे चलकर एक स्वतंत्र प्रकरण में इस विषय की चर्चा करेंगे, उससे पाठक जान सकेंगे कि हमारे विद्वान् मित्र के इस पूर्वोक्त कथन में कितनी सत्यता है और उनका बतलाया हुआ प्रमाण कितना बलिष्ठ है।

शास्त्र पढ़ने का आदेश

इसके आगे पूजनीय चैत्यों को केवल यादगार मात्र साबित करने के निमित्त उपक्रम करते हुए हमारे विद्वान् मित्र लिखते हैं कि—

“जो मनुष्य पदार्थ के विकासक्रम के इतिहास को समझ सकता है वही पूर्वोक्त विषय को सहज में समझ सकेगा। परन्तु जिसके मन में वर्तमान धर्म, उसके वर्तमान नियम और उसमें पूर्वापर से घुसी हुई कितनी एक असंगत रूढ़ियां वर्तमान मूर्तिपूजा वगैरह आनादिकालीन भासित होता होगा, राजा भरत के समय का भासित होता होगा, उसे तो में शास्त्र पढ़ने का निवेदन करने के सिवा अन्य कुछ नहीं समझा सकता। आप इस बात को भली भांति जानते हैं कि बड़ का बीज कितना सूक्ष्म और हलका होता है, परन्तु समय पाकर अनेक प्रकार के अनुकूल संयोग मिलने से वही बीज ऐसा रूप धारण कर लेता है कि जिस की कल्पना करना भी हमें कठिन प्रतीत होता है। पहाड़ों से निकलने वाली नदियों छोटे से स्रोत के रूप में जन्म लेती हैं, परन्तु ज्यों २ अपने जन्मस्थान से अधिक दूरी पर आती जाती हैं त्यों २ अधिकाधिक बढ़ती हुई भयानक प्रवाह वाले रूप को

धारण कर लेती हैं, इसी तरह हर एक पद्धति जिसका प्रारम्भ बिल्कुल सादा और अमुक हेतु वर अवलंबित होता है, वह समय पाकर इतना बड़ा और विचित्र रूप धारण कर लेती है कि जिससे हमें उसकी प्रारम्भिक स्थिति को समझना कठिन मालूम होता है। जो चैत्य यादगिरी के लिये बनाये गये थे, समय पाकर वे पूजे जाने लगे, धीरे २ उन स्थानों में देवकुलिकायें होने लगीं, उनमें चरणपादुकायें स्थापित होने लगीं और बाद में भक्तजनों की होश से भक्ति-आवेश से उन्हीं स्थानों में बड़े २ देवालय एवं बड़ी २ प्रतिमायें भी विराजित होने लगीं ” इत्यादि (पृ० १५९-६०) ।

समीक्षा—

प्रस्तुत पुस्तक में से ऊपर जो पाठ उद्धृत किया गया है उसका तात्पर्य यदि हम अपने शब्दों में व्यक्त करें तो वह इस प्रकार किया जा सकता है—

(क) ये चैत्य पूजा के लिये नहीं, किन्तु मरे हुआ की यादगार के लिये बनाये गये थे और बाद में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई, जो कि आज तक चली आती है। इस बात को वही पुरुष समझ सकता है जिसे पदार्थ के विकासक्रम के इतिहास का ज्ञान हो।

(ख) जो पुरुष वर्तमान धर्म और वर्तमान मूर्तिपूजा वगैरह को अत्यन्त प्राचीन और भरत के समय का मान रहा हो, वह भाग्यवान् शास्त्र को पढ़े तब उसे अपनी अज्ञानता का भान होगा।

(ग) आजकल जो चैत्य-जिनमंदिर और उनमें प्रतिष्ठित विशालकाय मूर्तियाँ जिनप्रतिमायें तथा उनकी विस्तृत पूजा इत्यादि जो कुछ भी दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब पदार्थ के विकासक्रम को ही आभारी है। आरम्भ में तो न ये चैत्य थे, न मूर्तियाँ और न उनकी

किसी प्रकार की पूजा । प्रारम्भ में तो ये चैत्य केवल यादगार के तौर पर निर्माण किये गये थे फिर शनैः उनकी पूजा होने लगी, उनमें चरणपादुकायें एवं मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हुई और उनकी पूजा का आडंबर शुरू हो गया इत्यादि ।

अच्छा ! अब प्रस्तुत उल्लेख की ओर पाठक ध्यान दें ?

(क) हम विकासक्रम के सिद्धान्त से सर्वथा सहमत हैं, यह अनुभवसिद्ध सिद्धान्त है । प्रत्येक पदार्थ का सूक्ष्म से स्थूल रूप में आना इसी के आश्रित है । इसमें सन्देह नहीं कि आरम्भ में पदार्थ का आकार बहुत छोटा होता है और बाद में अनुकूल संयोगों के मिलने से शनैःशनैः वह बहुत बड़ा हो जाता है, एवं उसके वर्तमान स्थूल स्वरूप को देखते हुए उसके आरम्भिक सूक्ष्म स्वरूप की कल्पना भी कठिन हो जाती है, परन्तु इस पर से यह समझना कि ये दोनों स्वरूप एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं बड़ी भारी गलती करना है । ये एक ही पदार्थ की दो अवस्था मात्र हैं । पदार्थ में विकास और ह्रास दोनों नियमित हैं । विकासक्रम से, पदार्थ सूक्ष्म से स्थूल रूप में आता है और ह्रासक्रम के अनुसार वह स्थूल से सूक्ष्म रूप में परिवर्तित हो जाता है । इन दोनों अवस्थाओं में पदार्थ अपने स्वरूप में बराबर कायम रहता है, तात्पर्य कि सूक्ष्म से स्थूल रूप में आने पर भी वस्तु के मूल स्वरूप का विनाश नहीं होता । अथवा यूँ समझिये कि पदार्थ का आरम्भिक स्वरूप (सूक्ष्म स्वरूप) उसके वर्तमान स्वरूप (स्थूल स्वरूप) में तिरोहित हो जाता है, नष्ट नहीं होता । या यूँ कहिये कि पदार्थ छोटे से बड़ा हो जाने पर भी पदार्थान्तर नहीं हो जाता ।

कुछ उदाहरण लीजिये—

एक नवयुवक आज से बीस वर्ष पहले जब कि वह माता के गर्भ

से जन्मा था, कितने छोटे आकार का था और आज वह कितना बड़ा है एवं विकासक्रम से उसमें कितना अन्तर आ गया है इसका अनुभव उसे तो शायद न भी हो, परन्तु उसको जन्म देकर पालन पोषण करने वाले उसके माता पिता तो अवश्य जानते हैं कि वह आरम्भ में बीस वर्ष पहले जन्म-समय में क्या था और आज क्या है ? उसका बहुत छोटा और कोमल शरीर जिसे फूल की तरह माता-पिता अपने हाथों पर उठाये फिरते थे, वह आज इतना बड़ा और दृढ़ हो गया है कि माता पिता को स्वयं अपने हाथों पर उठा सकता है । उसका शरीर और शरीर के प्रत्येक अवयव—हाथ पांव और नाक कान आदि में विकास अपनी पूरी मर्यादा तक पहुंच गया है । परन्तु इस विकासक्रम में उसके हाथ हाथ ही रहे, उसकी आंखें आंखें ही बनी रहीं, नाक, नाक ही रहा, न तो हाथ पांव बने, और न आंखें नाक ही बन सकीं ।

किसी मानव शरीर के नितान्त छोटे-चित्र फोटोको यदि Enlarge बड़ा बना दिया जाय तो वह किसी दूसरे प्राणी का नहीं हो सकता, इससे सिद्ध हुआ कि किसी वस्तु के आकार में वृद्धि होने पर भी वस्त्वन्तर नहीं बन जाती, किन्तु वही रहती है; परन्तु पदार्थ के इस विकासक्रम का चैत्य शब्द और उसके अर्थ के साथ क्या सम्बन्ध है एवं चैत्यशब्दार्थ में वह कैसे लागू हो सकता है, यह हमारी समझ में नहीं आया । विकास सदा सजीव पदार्थ में होता है, निर्जीव-जड़ में तो वह सजीव—चेतन सापेक्ष है । वट, यह सजीव पदार्थ है इसमें विकास होता है । वट-पदार्थ के दो स्वरूप हैं एक अविकसित, दूसरा विकसित । उसका अविकसित स्वरूप बीज और विकसित स्वरूप वृक्ष है । इसी तरह आम्रआदि अन्य सजीव पदार्थों के विकसित और अविकसित स्वरूप के विषय में भी समझ लेना चाहिये । बीज यह

पदार्थ की अविकसित अवस्था है जो कि विकासक्रम के अनुसार वृक्ष के स्वरूप में व्यक्त होती है, यह उसका पूर्ण विकास को पहुंचा हुआ स्वरूप है, जो कि बीज में अव्यक्त रूप से विद्यमान था। इस विषय में इतना अवश्य ध्यान में रहना चाहिये कि महान् वृक्ष के आकार में विकास को प्राप्त होने वाले वट पदार्थ की अभिव्यक्ति वट बीज से ही होती है आस्र बीज से नहीं। एवं आस्रवृक्ष की अभिव्यक्ति का कारण आस्र बीज है, वट बीज नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि विकास यह कोई बाहर की वस्तु नहीं, किन्तु वस्तु के मूल स्वरूप की ही एक अभिव्यक्ति है। जो वट, बीजरूप—कारणरूप से अव्यक्त था, वही विकासक्रम के अनुसार अनेक प्रकार के अनुकूल संयोगों से वृक्षरूप—कार्यरूप से व्यक्त हुआ और होता है संक्षेप से कहें तो अव्यक्त से व्यक्त होना, अदृश्य से दृश्य में आना, या सूक्ष्मता से निकल कर स्थूलता में आना, यही पदार्थ का विकास है हमारे विचार से तो पदार्थ के विकासक्रम का यही रहस्यपूर्ण स्वरूप है, परन्तु जब हम पदार्थ के विकासक्रम के इस स्वरूप को सन्मुख रख कर उसके प्रकाश में अपने विद्वान् मित्र के इस उल्लेखका पर्यालोचन करते हैं कि (“हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजने के लिये नहीं, बल्कि उन मरमे वाले महापुरुषों की यादगार के तौर पर निर्माण किया था, परन्तु बाद में उनकी पूजा प्रारम्भ हो गई थी जो कि आज तक चली आ रही है। जो मनुष्य पदार्थ के विकासक्रम के इतिहास को समझ सकता है वही पूर्वोक्त विषय को समझ सकेगा”) तब हमें तो अनर्गल प्रलाप के सिवा इसमें और कुछ भी तथ्य दिखाई नहीं देता। चैत्यों के विषय में उनके स्वरूपगत विकास को तो कोई स्थान ही नहीं, वे स्वयं निर्जीव पदार्थ हैं उनमें स्वतः तो विकास की संभावना नहीं की जा सकती, उनका विकास तो मनुष्य के प्रयत्न की अपेक्षा रखता है।

अगर हम उनके निर्माणार्थ किये गये मानव प्रयत्न में विकामवाद के इस सिद्धान्त को लागू करें तो उनकी-चैत्यों की स्मारकता ही विकसित होगी न कि पूज्यता । कारण कि विकासक्रम के अनुसार वस्तु का मूल स्वरूप ही विकसित होता है, उसमें किसी अन्य वस्तु के स्वरूप को स्थान नहीं, यह बात हम ऊपर अच्छी तरह से दर्शा आये हैं । यदि हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को केवल यादगार के तौर पर रखने के लिये ही बनाया था, पूजा के लिए नहीं तो विकासक्रम के अनुसार भी वे स्मारक ही रहेंगे-पूज्य नहीं बन सकते । कारण कि जो भावना आरम्भमें विद्यमान होगी उसी को विकासक्रम से पुष्टि मिलेगी, आगन्तुक को नहीं । अतः हमारे विचार से विकासक्रम के सिद्धान्त का प्रस्तुत विषय से कोई भी सम्बन्ध नहीं है । हां, अगर इनका (चैत्यों का) निर्माण पूजा की भावना से किया गया हो तब तो विकासक्रम के अनुसार उत्तरोत्तर इनके पूजाविस्तार का सम्भव हो सकता है परन्तु वह हमारे मित्र को इष्ट नहीं ।

हमारे मित्र इस विषय को जरा गम्भीरता से सोचें कि यदि इन चैत्यों का निर्माण केवल मृतकों की स्मृतिमात्र को कायम रखने की भावना से ही किया गया होता तो बाद में जिस पूज्यता का आप उल्लेख कर रहे हैं वह आ कैसे सकती है? जब कि यादगार मात्र की भावना में पूजा को कोई स्थान ही प्राप्त न हो । इसके अलावा यह भी विचारणीय है कि जैनागमों में उल्लिखित चैत्य पहले तो स्मारक मात्र थे, पीछे से पूज्य हो गये, इसके लिये शास्त्रीय या ऐतिहासिक कौन-सा प्रमाण है? जिसके आधार पर हम इसे स्वीकार करने में बाध्य हो सकें । हमारे पूर्वजों ने इन चैत्यों को केवल यादगार के तौर पर निर्माण किया अथवा उपासनार्थ पूजा की भावना से प्रतिष्ठित किया, इसका यथार्थ निर्णय तो कोई विशिष्ट ज्ञान रखने वाला व्यक्ति ही कर

सकता है। हमारे पास तो इसके लिये केवल आनुमानिक ज्ञान या शास्त्रीय प्रमाण दो हैं। जहां तक शास्त्रीय प्रमाण का सम्बन्ध है, हमें आगमों में और खासकर अंगसूत्रों में ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं जिनसे इनकी स्मारकता नहीं किन्तु पूज्यता ही निश्चित होती है। (१) और विपरीत इसके प्रामाणिक जैन-वाङ्मय में अभी तक हमें एक भी ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ कि जिस में इस बात का इशारा मात्र भी किया गया हो कि ये चैत्य पहले तो केवल स्मारक ही थे और बाद में इनकी पूजा प्रारम्भ हुए। हम नहीं समझते कि जिन-चैत्यों को मूल जैनागमों में पूज्यता प्राप्त हो और जिनको प्राचीन जैनाचार्यों से लेकर अर्वाचीन जैन विद्वानों तक पूज्य मानते चले आये हों, एवं जिन की पूज्यता के विषय में जैनपरम्परा के साहित्य

(१) इसके लिये देखो व्याख्याप्रज्ञप्ति का निम्नलिखित पाठः—

४ (प्र०) विज्जाचारणस्स णं भन्ते ! तिरियं केवतियं गतिविसए पन्नत्ते ?
(उ) गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं माणुमुत्तरे पव्वए समोसरणं करेति, माणु० २ करेत्ता तहिं चेइयाइ वंदति, तहिं० २ वंदित्ता बितिएणं उप्पाएणं नंदीसरवरे दीवे समोसरणं करेति, नंदिस० २ करेत्ता तहिं चेइयाइ वंदति तहिं० २ वंदित्ता तओ पडिनियत्तति, तओ पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ, आगच्छित्ता इह चेइयाइ वंदति । विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवतिए गतिविसए पन्नत्ते

५. (प्र०) विज्जाचारणस्स णं भन्ते ! उड्डं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ?
(उ०) गोयमा ! से णं एगेणं नंदणवणे समोसरणं करेइ, नंद० २ करेत्ता तहिं चेइयाइ वंदति, तहिं० २ वंदित्ता बितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेइ, पंडग० २ करेत्ता तहिं चेइयाइ वंदइ, तहिं० २ वंदित्ता तओ पडिनियत्तति, तओ पडिनियत्तित्ता इहमागच्छइ, इहमागच्छित्ता इहं चेइयाइ वंदति । विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! उड्डं एवतिए गतिविसए पन्नत्ते । (श० २० उ० ९)

इस उल्लेख से चैत्यों का वन्दनीय व पूजनीय होना स्पष्टतया सिद्ध होता है। इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण आगे किया जायगा।

में किसी प्रकार का विसंवाद न हो, उनके विषय में बिना किसी प्रबल प्रमाण के यह कहने का दुस्साहस करना, कि ये चैत्य हमारे पूर्वजों द्वारा पूजा के लिये नहीं किन्तु यादगार के लिए ही बनाये गये थे—विद्वान् मित्र को कहां तक शोभा देता है ।

(ख) हमारे विद्वान् बन्धु को वर्तमान समय का जैनधर्म और वर्तमान मूर्तिपूजा ये दोनों बहुत खटक रहे हैं । इसमें भी वर्तमान मूर्तिपूजा को तो आधुनिक और अशास्त्रीय सिद्ध करने के लिये आप उधार खाये बैठे हैं । और जो लोग मूर्तिपूजा को अनादि या भरत के समय की मान रहे हैं उन्हें आप शास्त्र पढ़ने का आदेश देते हैं । इससे मूर्तिपूजा-विषयक आप की मान्यता को समझने में कुछ कठिनाई नहीं रहती ।

इसमें सन्देह नहीं कि आप एक समर्थ विद्वान् और उद्भट लेखक हैं एवं जेनागमों के आप गहरे अभ्यासी हैं । आप का सारा जीवन इसी व्यवसाय में व्यतीत हुआ है, परन्तु यह भी सत्य है कि प्रस्तुत निबन्ध के लिखते समय आप की मनोवृत्ति अत्यंत संकीर्ण और दुराग्रहपूर्ण थी । तथा इस सदोष मनोवृत्ति से प्रेरित होकर कहीं २ पर आपने भाषासमिति (१) और विचारशीलता आदि का भी बड़ी निर्दयता से गला घोंटा है—(इसका दिग्दर्शन आगे चलकर कराया जायगा) तिस पर भी हमें आपके विषय में बहुमान है, आप की विद्वत्ता और प्रतिभा के लिये हमारे हृदय में अधिक आदरणीय स्थान है । एवं हमको यह कहने में भी कोई संकोच नहीं कि वैदिकपरम्परा की भान्ति जैनपरम्परा में भी कुछ ऐसी असंगतता और अशास्त्रीय प्रथायें प्रविष्ट हो गई हैं कि जिनका दूर करना

(१) इसके लिए आपकी प्रस्तुत पुस्तक पृ० ५५-५७-१६१ आदि में दिये गये लेख पढ़ें ।

नितान्त आवश्यक है। इसके अलावा हम यह भी स्वीकार करते हैं कि जैन-परम्परागत वर्तमान मूर्तिपूजा में भावुकता की मात्रा अपनी मर्यादा से बहुत आगे बढ़ गई है। तात्पर्य कि हम रूढ़िवाद या साम्प्रदायिकता के पुजारी नहीं हैं, हम तो यथार्थवाद के उपासक हैं।

मूर्तिपूजा के सिद्धान्त पर आपके और हमारे दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। हम उसे अत्यन्त प्राचीन भरत के पूर्व का और शास्त्र-विहित मानते हैं, जब कि आपके मत में वह आधुनिक और अशास्त्रीय है। इस सम्बन्ध में हम आप को शास्त्रपर्यालोचन की तो सलाह नहीं दे सकते, किन्तु इतनी प्रार्थना अवश्य करते हैं कि आप अपने इस निबन्ध को एक बार तटस्थ मनोवृत्ति से फिर अवलोकन करने की कृपा करें। आप जैसे विचारशील विद्वान् की लेखनी में इतनी उच्छृंखलता निस्सन्देह अवांछनीय है, और जहां तक शास्त्रों के पठन-पाठन का प्रश्न है उसके आधार पर हम यह बलपूर्वक कहने को तैयार हैं कि जैनपरम्परा में आरम्भ से ही मूर्तिपूजा को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। अगर उपासनातत्त्व को जैनपरम्परा में कोई स्थान है और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी जैसे महापुरुष को ध्यानारूढ़ होते समय मनोवृत्ति की एकाग्रता के लिये निर्दिष्ट भाव से किसी पुद्गल विशेष पर दृष्टि को स्थिर करने की आवश्यकता है (१)

(१) व्याख्याप्रज्ञप्ति श०३७०२ में भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी तपश्चर्या का वर्णन करते हुए ध्यान के लिये किसी एक पुद्गल पर दृष्टि को स्थापन करने का निर्देश किया है। वहां 'एगपोगलनिविट्ठदिट्ठो'—एक पुद्गलनिविष्ट-दृष्टि; अर्थात् एक पुद्गल में दृष्टि को स्थिर किया है जिसने ऐसा उल्लेख किया है। इसी प्रकार दशाश्रुतस्कन्धसूत्र की सातवीं दशा में भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा का वर्णन करते हुए यहां पर भी 'एगपोगलठित्तीए दिट्ठीए'—एकपुद्गलस्थितया दृष्टया—ऐसा ही लिखा है।

एवं इष्टोपासना से मुमुक्षु जीव के अध्यात्म जागरण में प्रगति का होना अनुभवसिद्ध है तो मूर्ति उपासना (मूर्ति के द्वारा मूर्ति वाले की उपासना) को आधुनिक और अशास्त्रीय बतलाना हमारे ख्याल में आप जैसे विद्वान् की लेखनी को शोभा नहीं देता जब कि आप तर-तम भाव से मूर्तिवाद में आत्मविकास की निमित्तता को भी देख रहे हों। (१) इस विषय पर अधिक विवेचन हम अगले प्रकरण में करेंगे।

(ग) हम इस बात से सोलह आने सहमत हैं कि नदी के प्रवाह की तरह कोई भी आचार अथवा विधि, जिस का प्रारम्भ अमुक हेतु पर अवलंबित और बिल्कुल सादा होता है, समय पाकर वह इतना बड़ा और विचित्र रूप धारण कर लेती है, कि उसकी प्रारम्भिक स्थिति को समझना बहुत कठिन हो जाता है। परन्तु इस विषय में इतना स्मरण रहे कि इस दृष्टान्त से—“जो चैत्य यादगीरी के लिये बनाये गये थे, समय पाकर वे पूजे जाने लगे” इत्यादि उल्लेख का समर्थन नहीं हो सकता, जब तक कि इन्हें प्रारम्भ में ही पूजार्थ निर्माण किये गये न माना जाय। किसी पर्वत प्रदेश से निकलने वाली नदी का प्रारम्भिक स्रोत, जो कि बहुत छोटा होता है कुछ दूरी पर दूसरी नदियों के स्रोतों से मिल कर एक बड़े विस्तृत स्वरूप को धारण कर लेता है, परन्तु इतना होने पर भी उसका मूल स्वरूप नष्ट नहीं होता, उसमें वृद्धि अवश्य हो जाती है। व्यासकुंड से बहुत छोटे से आकार में प्रवाहित होने वाली विपाशा (व्यास) नदी इधर आकर बहदाकार

(१) देखो प्रस्तुत निबन्ध का निम्नांकित उल्लेख—

(मैं) “सत्संग, शास्त्राध्ययन, तप, शील आदि के ससान तरतमता से मूर्तिवाद में भी आत्मविकास की निमित्तता को देख रहा हूँ” (पृ० १७५)।

को धारण कर लेने पर भी अपने उसी नाम से प्रसिद्ध है और रहेगी, विकासक्रम के अनुसार मूल स्रोत में विकास हुआ जो कि आरम्भ से ही व्यास नदी के नाम से प्रसिद्ध है। एक और उदाहरण लीजिये—आज से बीस वर्ष पहले अमुक स्थान पर गुरुकुल के नाम से एक विद्यालय की स्थापना हुई, प्रारम्भ में वहाँ केवल एक अध्यापक और पाँच विद्यार्थी थे, विकासक्रम के अनुसार शनैः शनैः समय पाकर आज उसमें २५ अध्यापक और पाँच सौ विद्यार्थी हैं। इतना होने पर भी उसके मूल स्वरूप अर्थात् नाम निर्देश को कोई क्षति नहीं पहुँचती, वह उस समय भी गुरुकुल के नाम से पुकारा जाता था और आज भी उस की गुरुकुल ही संज्ञा है। फर्क सिर्फ इतना पड़ा कि पहले उसका आकार बहुत छोटा था, आज वह विस्तृत स्वरूप को धारण किये हुए है। अगर प्रारम्भ के समय उसके स्थान पर व्यापार के निमित्त किसी दुकान का मुहूर्त किया जाता और विकासक्रम के अनुसार वृद्धि होते-उसमें लाखों रुपये का माल होता और वह एक प्रख्यात दुकान के नाम से निर्दिष्ट होती तो उसका गुरुकुल या विद्यालय के नाम से कभी निर्देश नहीं होता। इससे सिद्ध यह होता है कि विकास, वस्तु के मूल स्वरूप में होता है और उसके अनुरूप होता है। अतः विकासक्रम के सिद्धांत से वस्तुस्थिति का निर्णय करते समय उसके—विकासक्रम के वास्तविक स्वरूप को अवश्य ध्यान में रखना चाहिये।

ऊपर प्रदर्शित किये गये दृष्टान्तों से यह भली भाँति प्रमाणित हो जाता है कि किसी भी धार्मिक परम्परा में उसके प्रवर्तक ने प्रारंभ में आचार-विचार सम्बन्धि किसी भी नियम या विधि को जिस उद्देश्य से स्थापित किया है, उस उद्देश्य की पूर्ति उसका विकास है। उस उद्देश्य के विरुद्ध जो प्रगति है वह विकास नहीं किन्तु विकार

है । श्रमण भगवान् महावीर ने विश्वकल्याण की भावना से प्रेरित हो कर अहिंसा का उपदेश दिया, मुमुक्षु के आचरणीय नियमों में उसको अग्रस्थान दिया । प्रारम्भ में अहिंसाके इस नियम को बहुत थोड़े जीवों ने अपनाया और समय पाकर इसमें बहुत प्रगति हुई और लाखों प्राणी इसके अनुयायी बन गये । इसका नाम है विकास इसके प्रतिकूल जो प्रगति होगी, वह विकास नहीं किन्तु विकृति या विकार कहलायेगी ।

अच्छा, अब चैत्यों के विषय को लीजिये । जहां तक हम समझ पाये हैं चैत्योपासना जैनधर्म के मौलिक सिद्धांतों में से एक है । इसके सम्यग् अणुष्ठान से साधक के आत्मा में एक विशेष प्रकार की जागृति उत्पन्न होती है, उस अध्यात्म जागरण से प्रबुद्ध साधक का आत्मा उत्तरोत्तर विकासमार्ग की ओर प्रस्थान करता हुआ एक न एक दिन अपने गन्तव्य स्थान को प्राप्त कर लेता है । दूसरे शब्दों में कहें तो चैत्योपासना साधक की आध्यात्मिक प्रगति के लिये प्रथम सोपान है और अपने विद्वान् मित्र के शब्दों में कहें तो—

“लोक के प्रवाहवाही विभाग को प्रारम्भमें आत्मा की मूल-स्थिति का भान कराने के लिये दर्पण के समान है ।” (पृ० १७५)

जैन-परम्परा में चैत्यों की स्थापना इसी उद्देश्य को सन्मुख रख कर की गई है और इनका आरम्भ भी जैनपरम्परा के आरम्भ के साथ ही हुआ है । ये—चैत्य, इष्टोपासना (इसी का दूसरा नाम प्रभू-पूजा या आदर्शोपासना है) के द्वार हैं, इनके द्वारा सम्पन्न होने वाली इष्टोपासना से ही उपासक में उपास्य के स्वरूप की अनुभूति का आविर्भाव होता है । इस दृष्टि को सन्मुख रख कर हमारे पूर्वजों ने इन चैत्यों की स्थापना की थी, न कि केवल मरे हुए महापुरुषों की यादगार मात्र कायम रखने की इच्छा से ।

उपासनार्थ निर्माण किये गये इन चैत्यों का नदी के आरम्भिक स्रोत की तरह प्रारम्भ में बहुत छोटा स्वरूप था, या होना चाहिये, और इनमें प्रतिष्ठित उपास्य देव की प्रतिमा या अन्य कोई परिचायक चिन्ह भी बहुत छोटे अकार और साधारण स्वरूप में था, एवं इनकी संख्या भी बहुत अल्प थी और इनकी भी किसी एकान्त और प्रशान्त वातावरण के स्थान में होगी, यथा इनके उपासक भी इने-गिने होंगे। परन्तु कुछ समय के बाद विकासक्रम के अनुसार इनमें प्रगति आरम्भ हुई। धीरे २ उपासकों की संख्या बढ़ने लगी, जहां प्रारम्भ में वे पचास साठ थे, वहां आज उनकी हजारों और लाखों की संख्या नजर आती है। उपासकों की इस संख्यावृद्धि का प्रभाव उपासनालयों पर पड़ना स्वाभाविक है, उनकी संख्या भी बढ़ने लगी, इसके साथ ही उनका स्थापना-क्षेत्र भी बढ़ा, वे केवल निर्जन एकान्त प्रदेश में ही प्रतिष्ठित नहीं रहे किन्तु ग्रामों और नगरों को भी उनकी प्रतिष्ठा का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस प्रतिष्ठा में जहां उनके आकारों में प्रगति हुई वहां उनके स्वरूप-सौन्दर्य में भी आशातीत वृद्धि हुई। तथा उनमें प्रतिष्ठित चैत्यों-मंदिरों-उपास्य देवों की प्रतिमाओं में भी प्रगति ने प्रवेश किया। उसके अनुसार उनके स्वरूप और आकार भी बदल गये, और इसके सिवा उनकी उपासना या पूजाविधि में जो विकास हुआ है वह तो आज प्रत्यक्ष ही है। इस प्रकार प्रारम्भ में आत्मशुद्धि को सन्मुख रख कर इष्टोपासना के लिये जो चैत्य निर्मित हुए थे, वे समय पाकर प्रगति को प्राप्त करते हुए जिस स्वरूप में अभिव्यक्त हुए थे, उनका वह विकसित स्वरूप आज से बहुत समय पहले कुछ तो प्रतिकूल परिस्थितियों के उपस्थित होने से काल के विकराल गाल में छिप गया और बाकी का आज विद्यमान है। तब

हमारे विचार से इस सारे सन्दर्भ का जो फलितार्थ निकलता है वह निम्नलिखित शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया जाना चाहिये—

हमारे पूर्वजों ने चैत्यों का निर्माण मरे हुए पुरुषों की यादगार कायम रखने के लिये नहीं, किन्तु आत्मशुद्धि के निमित्त पूजा और उपासना के लिये किया था, जो कि उत्तरोत्तर अनुकूल संयोगों को प्राप्त करता हुआ नदी के प्रवाह की भांति आज विस्तृत रूप को धारण कर रहा है। जो मनुष्य पदार्थ के विकासक्रम के इतिहास को समझ सकता है वही इस विषय को समझ सकेगा। और विपरीत इसके, जिस के मन में वर्तमान धर्म और मूर्तिपूजा आधुनिक एवं अशास्त्रीय भासित होते हैं, उस महानुभाव से हमारी सानुरोध प्रार्थना है कि वह एक बार तटस्थ मनोवृत्ति से जैनागमों का पर्यालोचन करें।

चैत्यार्थ की विशेष मीमांसा

हमारे विद्वान् बन्धु पंडित बेचरदास जी ने चैत्य शब्द के अर्थ का निर्णय करते हुए उसे—चैत्य शब्द को केवल यौगिक माना है और उसके यौगिक अर्थ में भी उन्हें चिता के सिवा और किसी अर्थ का भी भास नहीं हुआ। दूसरे शब्दों में कहें तो उनको चैत्य शब्द के मौलिक स्वरूप में चिता के अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं दिया। उन्होंने चैत्यशब्द के जितने भी अर्थ किये हैं उन सब में चिता को बराबर सम्बंधित किये रखा, उनके मत से तो वह चैत्य का अर्थ ही नहीं है कि जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में चिता से कोई सम्बन्ध न हो। परन्तु हम ऊपर इस विषय का अच्छी तरह से खुलासा—स्पष्टीकरण कर आये हैं कि चैत्य के प्राधान अर्थ में चिता सम्बन्ध को कोई स्थान नहीं है, उसका प्रधान एवं यौगिक अर्थ तो एकमात्र चयन-विशेष

हैं। इस प्रधान अर्थ के प्रकाश में अन्यान्य अर्थों का अवलोकन किया जाय तो वे अधिक संगत और उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

चैत्य शब्द योगरूढ़ है, यौगिक नहीं।

इसके अलावा चैत्य शब्द के प्रधान एवं गौण अर्थ का प्रकाशान्तर से निर्णय करने के लिये प्रथम उसकी यौगिकता या रूढ़ता का विचार कर लेना भी जरूरी मालूम देता है। हमारे मित्र, चैत्य शब्द को एकमात्र यौगिक मान रहे हैं और “चितेरिदं, चित्यस्येदम्” इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसका प्रधान अर्थ एकमात्र—चिता का सम्बन्धी—चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह बतला रहे हैं। परन्तु हमारे विचार में चैत्य शब्द मात्र यौगिक ही नहीं, किन्तु योगरूढ़-यौगिक अथच रूढ़ है। जहां तक हम देख पाये हैं साहित्य में जितने भी अनेकार्थ शब्द देखने में आते हैं वे न तो यौगिक ही हैं और न केवल रूढ़, किन्तु योगरूढ़ हैं, उनमें व्युत्पत्ति-भेद न होकर भी अर्थ-भेद स्पष्ट है। जैसे कि हम प्रथम कह आये हैं, शब्द की प्रवृत्ति और व्यवहार ही उसके अर्थ का नियामक होता है, केवल यौगिक व्युत्पत्ति से शब्द के विशेष अर्थ का (जिस में उसका व्यवहार आबाल गोपाल प्रसिद्ध हो) निश्चय नहीं किया जा सकता। शब्दशास्त्र के अनुसार शब्द की व्युत्पत्ति से जो अर्थ उपलब्ध होता है वह सामान्य-ग्राही अथच अनिश्चित होता है। अतः उसे विशेष ग्राही अथच सुनिश्चित-रूप देने के लिये प्रवृत्ति और व्यवहार के अनुसरण की आवश्यकता रहती है, उसके अनुसार शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य सामान्य अर्थ को विशेषरूपता प्राप्त होती है और वह व्यावहारिक बन जाता है। यह अनेकार्थक शब्दों की योगरूढ़ता का संक्षिप्त स्वरूप है। इसमें शब्द अपने यौगिक व्युत्पत्तिलभ्य सामान्य अर्थ का परित्याग भी नहीं

करता और विशेष अर्थ में नियंत्रित भी हो जाता है। तात्पर्य कि जो शब्द अपने व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थ के साथ किसी विशेष अर्थ का निश्चायक हो उसे योगरूढ़ कहते हैं। शास्त्रों में इसके लिए पंकज शब्द का उल्लेख किया गया है, पंकज शब्द में यौगिक और रूढ़ दोनों अर्थ समन्वित हैं। “पंके जातं पंकजम्”—इस यौगिक व्युत्पत्ति से उसका अर्थ पंक-कीच से उत्पन्न होने वाला पदार्थ होता है, परंतु पंक से तो शैवाल आदि और भी अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इस लिये उसे कमलरूप विशेष अर्थ में रूढ़ कर दिया गया। अतः यौगिक और रूढ़ अथवा सामान्य और विशेष इन दोनों अर्थों का पंकज शब्द में समन्वय होने से उसकी योगरूढ़ संज्ञा है। इसी प्रकार दूसरे अनेकार्थक शब्दों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

एक अन्य उदाहरण लीजिये ? गो शब्द अनेकार्थक है, कोष में उसके गाय, किरण, वाणी और पृथिवी आदि अनेक अर्थ उपलब्ध होते हैं (१) इन अर्थों में उसका व्यवहार भी यत्र तत्र पाया जाता है। इन अर्थों से अतिरिक्त अर्थ में उसका प्रयोग नहीं किया जाता, इससे सिद्ध हुआ कि वह इन्हीं में रूढ़ है—नियमित है, अथवा यूँ कहिये कि उसके व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थ को इन उक्त पदार्थों में नियंत्रण प्राप्त है। जिससे कि उसके यौगिक अर्थ का अन्यत्र व्यवहार न हो सके। गो शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थ गतिमान् पदार्थ है “गच्छतीति गौः” जो गमन करे उसे गौ कहते हैं। परन्तु गमन तो पुरुष, पशु और पक्षी आदि सभी गतिशील पदार्थों में दृष्ट है, वे सब के सब तो गो शब्द के वाच्यार्थ नहीं बन सकते अगर वनायें तो उनका अन्त नहीं

(१) “वृषभे, स्वर्गे, किरणे, वज्रे, जले, पशौ, चन्द्रे, वायी, सूर्ये, ऋषभ-नाभौषधी च” इत्यादि (शब्दस्तोममहानिधि ४१६)।

आ सकता। ऐसी परिस्थिति में इसकी व्यावहारिकता ही लुप्त हो जाती है अर्थात् यह अव्यवहार्य हो जाता है। जब तक शब्द अपने किसी विशेषार्थ का निश्चायक नहीं बनता, तब तक उसका लोक में व्यवहार ही दुर्घट है, अतः गो शब्द के यौगिक अर्थ में संगृहीत होने वाले पुरुषादि समस्त गतिशील पदार्थों की व्यावृत्ति के लिये उसे उक्त कतिपय नियत अर्थों में नियत कर दिया गया। इससे यह निश्चित हुआ कि जो शब्द अपने यौगिक अर्थ के साथ किसी विशेष अर्थ में रूढ़ हो जाय, वह योगरूढ़, यौगिक अथच रूढ़ कहलाता है, फिर अर्थ चाहे एक हो, दो हों अथवा बहुत हों, इसके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इस विषय में हमारे विचारशील पाठकों को इतना और भी जान लेना चाहिये कि योगरूढ़ शब्दों में यौगिक अथच रूढ़ अर्थ ही प्रधानता को कोई स्थान नहीं है और नां ही इन दोनों में किसी प्रकार का पौर्वापर्य है। ये दोनों ही समकक्ष और समबल हैं। इनमें एक को मुख्य और दूसरे को गौण न तो किसी दार्शनिक विद्वान् ने माना है और न इसके लिये कोई प्रमाण है। इसके अलावा एक बात और है जिसकी ओर हम अपने विचारशील पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं। ऊपर बतलाये गये गो शब्द के अर्थों में से कौन-सा प्राचीन और कौन-सा नवीन, एवं कौन-सा मुख्य और कौन-सा गौण तथा कौन-सा अर्थ स्वयंभु और किस को पीछे के बातावरण ने जन्म दिया, इसका निर्णय तो शब्दों के इतिहास की गहरी खोज करने वाले आधुनिक पंडित या उनके पृष्ठपोषक हमारे मित्र जैसे विवेचक ही कर सकते हैं कि जिन्हें हर एक वस्तु के हर एक स्वरूप में विकासवाद के सिद्धान्त को लागू किये बिना वस्तुतत्त्व के निर्णय में कोई विचारान्तर सूझता ही नहीं, अगर सूझता है तो उसके उपयोग में वे आत्मग्लानि का अनुभव करते हैं। परन्तु हमारे ख्याल में तो उनका यह शब्दार्थ-निर्णय

एक प्रकार की संदिग्ध आनुमानिक कल्पना के सिवा और कुछ भी प्रतीत नहीं होता, इस लिये इसकी मृत्युता पर हमें कोई विश्वास नहीं है । हम तो शब्दार्थ सम्बन्ध की अनादि निधनता के ही पक्षपाती हैं जो कि हमें महर्षि जैमिनी (१) और पतंजलि (२) जैसे श्रद्धेय ऋषियोंके विरसे में से प्राप्त हुई है ।

अच्छा! अब चैत्य शब्द को देखिये ? हमारे विचार में यह शब्द न तो केवल यौगिक है और न रूढ़, किन्तु पंज और गो शब्द की तरह योगरूढ़-यौगिक अथच रूढ़ है । इसकी निष्पत्ति चयनार्थक चित्ति या चित्य शब्द से हुई है । इसका व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थ विशिष्ट चयन होता है—“चित्यस्य चितेर्वा भावः कर्म वेति चैत्यम्, अथवा चित्यस्य, चित्तेरिदं चैत्यम्” जिसमें विशिष्ट प्रकार का चयन अर्थात् रचना विशेष हो उसे चैत्य कहते हैं, परन्तु इतने मात्र से वह किसी विशेष अर्थ में व्यवहृत नहीं किया जा सकता, कारण कि विशिष्ट चयन अथवा चयन का सम्बन्ध तो संसारवर्ती जड़ चेतन अनेकविधि पदार्थों में पाया जाता है । मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतन पदार्थों तथा मंदिर, प्रासाद, कूप, स्थंडिल और वस्त्र पात्र एवं पुस्तक आदि जड़ पदार्थों में चयन और चयन सम्बन्ध के सिवा और किसी को भी प्रधानता प्राप्त नहीं है । इस लिये चैत्य शब्द के इस यौगिक अर्थ का लोक में तब तक व्यवहार नहीं किया जा सकता जब तक

(१) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः । इत्यादि (जैमिनीय सूत्र १-५) शब्दस्य. अर्थेन तत्प्रतिपाद्यार्थेन सम्बन्धः शक्तिरूपः, औत्पत्तिकः स्वाभाविको नित्य इति यावत् । (शास्त्रदीपिका पृ० १५१)

(२) सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे (पातंजलमहाभाष्य) तथा—

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः (भर्तृहरिप्रणीत वाक्यपदीय का० २३) ।

कि वह किसी विशेष अर्थ के साथ सम्बद्ध न हो । तात्पर्य कि उसका सामान्यग्राही अर्थ अपनी व्यवहार्यता के लिये किसी विशेष पदार्थ के आश्रय की अपेक्षा रखता है । इसके बिना उसका व्यवहार ही असम्भव हो जाता है, अतः व्यवहार से वह अपने सामान्यग्राही यौगिक अर्थ के साथ कतिपय विशेष पदार्थों में रूढ़ हुआ, नियंत्रित हुआ । इस नियंत्रणा से उसे व्यावहारिकता प्राप्त हुई, वह सामान्य-ग्राही न रहकर सामान्य अथच विशेषग्राही बना, दूसरे शब्दों में कहें तो वह यौगिक न रहकर योगरूढ़ बना । लौकिक साहित्य अर्थात् संस्कृत और प्राकृत साहित्य में चैत्य शब्द का जिन २ अर्थों में व्यवहार हुआ है वे सभी उसके रूढ़ अर्थ हैं अथवा यूँ कहिये कि उन सभी अर्थों में वह रूढ़ है, नियंत्रित है । जैसा कि हम ऊपर बतला आये हैं कि जो शब्द अपने यौगिक अर्थ का परित्याग किये बिना किसी विशेष अर्थ में नियुक्त किया जाय, वह योगरूढ़ है । हमारा विवादास्पद चैत्य शब्द इन्हीं शब्दों में से एक है, इस लिये वह केवल यौगिक नहीं, किन्तु योग रूढ़ है ।

यौगिक शब्द अनेकार्थक नहीं होता ।

हमारे विद्वान् बन्धु ने चैत्य शब्द को सर्वथा, यौगिक माना है, परन्तु यदि कुछ गम्भीरता से इसका विचार किया जाय तो वह यौगिक नहीं ठहर सकता । शब्दार्थ-निर्णयकी व्यवस्था प्रायः लोक-व्यवहार पर ही निर्भर करती है । लोकव्यवहार को देखते हुए जितने भी यौगिक शब्द हैं वे सब एकर्थक ही उपलब्ध होते हैं । उनमें अनेकार्थकता कहीं पर नहीं पाई जाती, जिस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ उसके वाच्य अर्थ में सम्पूर्ण रूप से संघटित हो वह शब्द यौगिक कहलाता है । जिसका वाच्यार्थ सुनिश्चित और एक हो तथा उसमें—वाच्यार्थ

में यौगिक अर्थ का अभाव हो वह शब्द रूढ़ माना जाता है। इसी प्रकार जिस शब्द के वाच्यार्थ एक या एक से अधिक और नियमित हों, तथा उनमें यौगिक अर्थ भी लागू होता हो वह शब्द योगरूढ़ है। यौगिक के उदाहरण—पाचक, पाठक और गायक आदि शब्द हैं। इनके व्युत्पत्तिलभ्य यौगिक अर्थ क्रमशः पकाने वाला, पढ़ाने वाला और गायन करने वाला होते हैं ("पचतीति पाचकः, पठतीति पाठकः, गायतीति गायकः)। पाचक, पाठक और गायक ये तीनों शब्द सामान्य-ग्राही हैं, अर्थात् ये तीनों शब्द अपने वाच्यार्थ का सामान्य रूप से बोध कराते हैं विशेष रूप से नहीं। तात्पर्य कि इनका यौगिक अर्थ जहां पर संघटित होता हो, वही इनका वाच्यार्थ है। पाचक शब्द का अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ होता है पकाने अर्थात् भोजन बनाने वाला इस प्रकार पाठक और गायक का अर्थ पढ़ने तथा गाने वाला होता है, इन अर्थों में किसी व्यक्ति विशेष का समावेश नहीं होता, किन्तु सामान्यरूप से जो भी कोई व्यक्ति भोजन बनाने, पढ़ने या गायन करने वाला होगा, उन सबके विषय में पाचक, पाठक और गायन शब्द का व्यवहार होगा। इससे यह बात अनायास ही सिद्ध हो जाती है कि यौगिक शब्द अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अर्थ को बोधित करता है वह एक होता है और सामान्यग्राही अर्थात् उसका व्यवहार सर्वसाधारण होता है। रूढ़ शब्दों में वाच्यार्थ एक अथच नियत होता है अतः वहां व्युत्पत्ति से प्राप्त होने वाला यौगिक अर्थ लागू नहीं होता। उदाहरणार्थ घट शब्द को लीजिये ? उसका व्युत्पत्ति-अनुसार यौगिक अर्थ चेष्टा वाला पदार्थ होता है। (घटते-चेष्टते-इति घटः) परन्तु लोक में घट शब्द का व्यवहार एक जल भरने वाले पात्र विशेष में किया जाता है, जिस को इस देश में घड़े के नाम से पुकारते हैं। अतः घट शब्द का नियत अर्थ घड़ा नामक एक

पात्र विशेष ही ठहरता है, वह इसी अर्थ में रूढ़ किया गया है और इस अर्थ में उसका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ संघटित नहीं होता। इसके अलावा वह (घट शब्द) किसी दूसरे अर्थ का बोधक भी नहीं इसलिये घट यह रूढ़ि शब्द माना गया है। जो शब्द योगरूढ़ कहलाते हैं उनमें व्युत्पत्त्यनुसारी अर्थ प्रत्यय के अलावा नियत किये गये एक या एक से अधिक अर्थों की बोधकता पाई जाती है। पंकज गौ आदि शब्द इसके स्फुट उदाहरण हैं। हमारा चर्चास्पद चैत्य शब्द भी इन्हीं की पंक्ति में से है। इस लिये हमारे विद्वान् मित्र का चैत्य शब्द को केवल यौगिक मानना, और उसका चितास्थान पर का चबूतरा वगैरह अर्थ करना एवं उसी अर्थ को प्रधान और सर्वप्राचीन स्वीकार करना किसी प्रकार से भी न्यायसंगत नहीं है। अगर चैत्य शब्द यौगिक ही होता तो उसको अनेकार्थकता कभी प्राप्त न होती। जो शब्द अनेकार्थक है वह कभी यौगिक नहीं रह सकता। चैत्य के एक से अधिक अर्थ कोषों में स्पष्ट उपलब्ध होते हैं और उन अर्थों में यत्र-तत्र उसका व्यवहार भी देखा जाता है। भारतीय प्राचीन साहित्य में चैत्य शब्द का मंदिर, मूर्ति, यज्ञ-मंडप, प्रासाद और प्रधान वृक्ष आदि भिन्न भिन्न अर्थों में व्यवहृत होने का सप्रमाण उल्लेख हम पहले कर आये हैं, उस पर से ज्ञात होगा कि ये सभी अर्थ विशेष उसके रूढ़ अर्थ हैं अथवा यूँ कहिये कि इन विशेष अर्थों में वह रूढ़ है। अपने व्युत्पत्तिलभ्य-यौगिक अर्थ चयन के साथ मंदिर मूर्ति आदि विशेष अर्थों में रूढ़ होने से ही वह योगरूढ़ कहलाता है। अगर वह यौगिक ही होता तो विशेष रूप से किसी पदार्थ विशेष का बोध उससे कभी प्राप्त न हो सकता, कारण कि यौगिक शब्द अपने मूल अर्थ का—व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का सामान्य रूप से ही बोध करा सकता है विशेषरूप से नहीं।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये ! तीर्थंकर शब्द शुद्ध यौगिक शब्द है, इसका व्युत्पत्त्यनुसारी अर्थ तीर्थ प्रवर्तक होता है (तीर्थ करो-तीति-तीर्थंकरः) इस अर्थ में किसी व्यक्ति विशेष—पार्श्वनाथ या महावीर आदि का बोध नहीं होता, किन्तु तीर्थप्रवर्तक सामान्य व्यक्ति का बोध होता है, फिर वह व्यक्ति ऋषभदेव हो या पार्श्वनाथ, महावीर हो या अन्य कोई ; मगर यौगिक शब्द ने तो अपने वाच्य-अर्थ का सामान्य रूप से ही निर्देश करना है विशेष रूप से नहीं । सारांश कि तीर्थंकर या तीर्थकर शब्द का वाच्य अर्थ तीर्थ प्रवर्तक है पार्श्वनाथ या महावीर नहीं । सरल शब्दों में कहें तो तीर्थंकर शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ महावीर या पार्श्वनाथ नहीं है, उसका अर्थ तो तीर्थ की स्थापना करने वाला है फिर भले वह पार्श्वनाथ हो या महावीर । इसी प्रकार यौगिक दशा में चैत्य शब्द का मूल अर्थ—व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ, विशिष्ट चयन या चयन सम्बन्धी सामान्य वस्तु इतना ही होगा, इससे आगे जाने की उसकी योग्यता नहीं परंतु इतने मात्र से यह व्यवहार्य नहीं हो सकता । तात्पर्य कि जिन विशेष अर्थों में उसकी प्रवृत्ति या व्यवहार हुआ है उसकी उपपत्ति नहीं हो सकती, जब तक कि उन अर्थों में उसे रूढ़ न किया जाय । अतः चैत्य शब्द अपनी योग्यता के अनुसार व्युत्पत्तिलभ्य सामान्य ग्राही अर्थ चयन विशेष के साथ मन्दिर और मूर्ति आदि विशेष अर्थों में व्यवहृत होने से योगरूढ़ है, यौगिक नहीं ।

इस प्रकार चैत्य शब्द की योगरूढ़ता प्रमाणित हो जाने से हमारे मित्र का यह कथन भी कि—“प्रारम्भिक चैत्यशब्द अन्वर्थ था और आजकल का चैत्य शब्द रूढ़ है” (पृ० १६२) हमारे ख्याल में अपने अन्दर कुछ सार नहीं रखता । चैत्य शब्द आरम्भ में भी योगरूढ़ था,

वर्तमान में भी योगरूढ़ है और भविष्य में भी योगरूढ़ ही रहेगा । इसकी योगरूढ़ता शब्दार्थ सम्बन्ध की अनादिनिधनता पर अवलम्बित अतएव अकृत्रिम है ।

हम इस बात से इनकार नहीं करते कि साहित्य में कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो कि प्रारम्भ में अन्वर्थ-यौगिक होते हैं और बाद में रूढ़ हो जाते हैं, संन्यासी और मुनि आदि शब्द इसके उदाहरण हैं । संन्यासी शब्द प्रारम्भ में तो त्यागशील व्यक्ति के लिए प्रयुक्त किया जाने से अन्वर्थ-यौगिक था और आजकल वह घर-बार रखने वाले संन्यासी नामधारी में भी व्यवहृत किया जाता है । अतः इस शब्द के—संन्यासी शब्द के लिए तो यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक संन्यासी शब्द अन्वर्थ था और आजकल का संन्यासी शब्द रूढ़ है, परन्तु हमारा चर्चास्पद चैत्य शब्द ऐसा नहीं है । उसके तो जितने वाच्यार्थ हैं वे सब योगरूढ़ हैं यौगिक नहीं । मन्दिर या मूर्ति की तरह चितास्थानीय चबूतरा या कबर वगैरह भी उसके रूढ़ अर्थ हैं अर्थात् वह जिस प्रकार अपने सामान्यग्राही यौगिक अर्थ (अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ) चयन सम्बन्ध का परित्याग न करके मंदिर या मूर्ति में रूढ़ हो रहा है उसी प्रकार चयन अर्थ के साथ वह चितास्थानीय चबूतरे में भी रूढ़ है, अर्थात् ये दोनों (देवालय और चितास्थान का चबूतरा) ही उसके रूढ़ अर्थ हैं, इस लिये चैत्य शब्द न तो केवल यौगिक है और न केवल रूढ़ किन्तु योगरूढ़ है । इसी प्रकार चितास्थानीय चबूतरा या कबर वगैरह भी उसका योगरूढ़ अर्थ है यौगिक नहीं । इसके सिवा प्रारम्भ का चैत्य शब्द यौगिक था और आजकल का चैत्य शब्द रूढ़ है, इस विचार को भारतीय दार्शनिक विचार परम्परा में कोई स्थान नहीं है । यह तो शब्दों का इतिहास ढूँढ़ने वाले विकासवादी पाश्चात्य पंडितों के मस्तिष्क की उपज है, उन्होंने इसी

पद्धति से हर एक विषय की आलोचना की है। आज हमारे भारतीय विद्वान् भी सर्वे-सर्वा इसी पद्धति का अनुसरण कर रहे हैं। हम इस पद्धति को सर्वथा उपेक्षणीय नहीं समझते, परन्तु हर एक वस्तु के स्वरूप-निर्णय को इसी पर निर्भर करना भी हमें न्यायोचित प्रतीत नहीं होता। जो लोग शब्दार्थ-निर्णय के लिये शब्दों के इतिहास की खोज करते हैं अर्थात् उनके उत्पत्ति स्थान को शोधते हैं वे शब्दार्थ और उसके सम्बन्ध की अकृत्रिमता-अनादिनिधनता की ओर दुर्लक्ष करते हैं, उनको इस बात का ध्यान नहीं रहता कि शब्द में अर्थ प्रत्यय की जो योग्यता है वह आगन्तुक नहीं, किन्तु स्वभावसिद्ध है (१)। अगर घट शब्द में अपने घट पदार्थ का बोध कराने की स्वाभाविक योग्यता न होती तो लाख यत्न करने पर भी घट शब्द से घट पदार्थ का बोध नहीं हो सकता। इसके सिवा घट शब्द से घट पदार्थ का ही बोध होता है अश्व का नहीं, एवं अश्व शब्द से अश्व पदार्थ का ही बोध होता है घट का नहीं। इससे प्रतीत होता है कि शब्द और उसके अर्थ का जो सम्बन्ध है वह नियत है अनादि सिद्ध है, वह किसी के द्वारा उत्पन्न नहीं किया जाता।

शब्दार्थ की मौलिकता का विचार

चैत्यशब्दार्थ के लिये उसकी उत्पत्ति की ओर ध्यान दें तो चैत्य शब्द चिति या चित्य से निष्पन्न होता है। इसके अनुसार व्युत्पत्ति करने पर उसका चिति या चित्य का सम्बन्धि एतावन्मात्र अर्थ प्राप्त होता है। अब चिति और चित्य की अर्थावगति के लिये इनके मूल स्थान को भी ढूँढ़ना होगा, अन्यथा चैत्य का वास्तविक अर्थ निश्चित होना ही

(१) इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा। अनादिरर्थः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ॥ (कौंडभट्ट-विरचित वैयाकरण भूषण-शक्तिनिर्णय प्र०का० ३६)।

दुर्घट है। इनकी-चिति और चित्य की उत्पत्ति (चिञ् चयने) चय-
 नार्थक चि धातु से हुई है उसके अनुसार इनका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ
 एक मात्र चयन होता है (चयनं चितिः, चीयते-इति चित्यम्) तब
 इन दोनों अथवा दो में एक से उत्पन्न हुए चैत्य का चयन का सम्बन्धी
 अर्थात् जो चिना गया या चिना जावे, यह अर्थ निष्पन्न हुआ। चैत्य
 का यह अर्थ गुणनिष्पन्न, अन्वर्थ-यौगिक अथच मूल अर्थ है और होना
 चाहिये। परन्तु जिस प्रकार चैत्य शब्दार्थ निर्णय के लिये उसके मूल-
 स्थान चिति और चित्य को ढूँढ़ निकाला, एवं चिति और चित्य की
 अर्थावगति के लिये चि धातु का पता लगाया उसी प्रकार चि धातु के
 अर्थावबोध के लिये उसके मूल स्थान की गवेषणा करना भी आवश्यक
 हो जाता है। परन्तु इस गवेषणा में हम सर्वथा असफल रहते हैं।
 इतिहास या और किसी साधन के द्वारा भी “चि” के मूल का पता
 नहीं चलता, अगर उसका कोई मूल है भी तो वह सर्वथा अज्ञात है।
 इस लिये चि धातु को अकृत्रिम या अनादिनिधान और उसके चयन
 अर्थ को अनादि व्यवहार सिद्ध माने बिना कोई गति नहीं। और वास्तव
 में विचार किया जाय तो “चि” धातु स्वयं मूल रूप है, उसका कोई
 और मूल न तो है और न उसके ढूँढ़ने की कोई आवश्यकता है (१)।
 वह चैत्यादि शब्दों की मूल प्रकृति है—मूलकारण है, और चैत्यादि शब्द
 इसकी विकृतियें हैं—कार्य हैं। इसमें इतना विशेष है कि “चि” धातु तो
 चैत्य की मूल प्रकृति है, चिति और चित्य उसकी अवान्तर प्रकृति
 हैं। प्रकारान्तर से कहें तो चिति और चित्य ये दोनों “चि” धातु की
 तो विकृति हैं और चैत्य की प्रकृति। तात्पर्य कि चिति और चित्य प्रकृति

(१) अगर मूल के भी मूल की कल्पना की जाय तो अनवस्था दोष प्राप्त
 हो जाता है, इसलिये “मूल-मूलाभावादमूलं मूलं” (सां० द० १ सू० ६७) इस सिद्धांत
 के अनुसार मूल वस्तु को अमूल-मूलरहित नित्य मानना ही समुचित है।

विकृति उभयरूप हैं जब कि चैत्य केवल विकृतिरूप ही है। जो किसी का कार्य न होकर सब का कारण हो वह मूल प्रकृति, जो एक का कार्य होकर दूसरे का कारण हो वह प्रकृति विकृति और जो किसी का कारण न होकर केवल कार्यरूप ही हो वह विकृति है। प्रकृति से--“चि” धातु से उत्पन्न हुए चिति या चित्य शब्द से चैत्य शब्द का उत्पन्न होना तो पाया जाता है, परन्तु चैत्य से किसी शब्दान्तर की उत्पत्ति देखने में नहीं आती, इस लिये वह विकृति अर्थात् कार्यरूप ही है।

यह तो हुआ चैत्य शब्द की मूल उत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास या प्रकार, अब उसकी व्युत्पत्ति के इतिहास या प्रकार की ओर भी पाठक ध्यान दें ! शब्द का व्युत्पादन ही उसकी व्युत्पत्ति है अर्थात् जिस में शब्द और उसके अर्थ की उत्पत्ति का प्रकार वर्णित हो उसे व्युत्पत्ति कहते हैं। शब्दशास्त्र के सिद्धान्तानुसार मूल शब्द एक अथच अव्युत्पन्न होता है उसका मूल स्वरूप तब तक व्युत्पादन के योग्य नहीं हो सकता, जब तक कि वह रूपान्तर अर्थात् किसी विशिष्ट स्वरूप को धारण न करे। शब्दशास्त्र में व्युत्पादन योग्य अर्थात् विशिष्ट व्यवहार योग्य शब्दों की उत्पादक मूल शब्दराशि के दो स्वरूप निर्धारित किये हैं, एक धातु रूप दूसरा प्रत्यय रूप। ये दोनों अकृत्रिम अथच अनादि-निधान हैं। इनका संयोग समस्त शब्द-सृष्टि का उत्पादक है। मूल धातु के अव्युत्पन्न स्वरूप को व्युत्पादन के योग्य बनाना एवं उसके अव्यवहार्य अर्थ में व्यावहारिकता का सम्पादन करना एकमात्र प्रत्यय के ही अधिकार में है। सामान्य रूप से निर्दिष्ट हुए मूलधात्वर्थ का समुचित रूप में उपयोग करने का काम प्रत्यय का है। ‘चि’ धातु की अव्यक्त अर्थ-विभूति को चिति, चित्य, चैतव्य, चैय, चैत्य और चयन आदि में व्यक्त करने का एकमात्र श्रेय प्रत्यय राशि को ही प्राप्त है (“प्रत्येति अर्थात् अर्थान् बोधयतीति प्रत्ययः”)।

अमुक मूल शब्द से अमुक प्रत्यय का संयोग होने पर जो शब्द और अर्थ निष्पन्न होता है उसका व्युत्पादन-प्रतिपादन करना ही व्युत्पत्ति का प्रयोजन है। उदाहरणार्थ 'चि' धातु से भाव अर्थ में 'वितन्' प्रत्यय आने से चिति और चिति से भाव तथा कर्मरूप अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय का सम्बन्ध करने से चैत्य शब्द निष्पन्न होता है। इन दोनों में 'चि' धातु से 'वितन्' और चिति से 'ष्यञ्' प्रत्यय के योग-संयोग से जो अर्थ निष्पन्न होता है उसका "चयनं चितिः, चित्तेर्भावः कर्म वेति चैत्यम्" इस प्रकार से व्युत्पादन या निरूपण किया जाना ही उसकी व्युत्पत्ति है। यह अर्थ प्रकृति और प्रत्यय के योग अर्थात् सम्बन्ध विशेष से निष्पन्न होता है इसलिये इसे यौगिक अर्थ का मूल अर्थ कहते हैं। यह चैत्य शब्द की मूल व्युत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास या प्रकार है। अब उसकी प्रवृत्ति की ओर आइये ! चिति और चैत्य का यौगिक अर्थ क्रमशः चयन और चयन का भाव या कर्म मात्र होता है, परन्तु इस पर से उसके किसी विशेष अर्थ की प्रतीति नहीं होती, अर्थात् चयन से कौन सा विशेष अर्थ अभिप्रेत है, और चयन के भाव या कर्म को किस अर्थ विशेष में नियुक्त किया जाना चाहिये इत्यादि बातों का व्युत्पत्तिलभ्य मूलार्थ में कोई संकेत नहीं है, इसमें तो चिति शब्द का वाच्य अर्थ सामान्य चयन और चैत्यशब्द का वाच्यार्थ चयन का भाव या कर्म मात्र ही सामान्यतया अवगत होता है। कारणकि अपने वाच्यार्थ की विशेषरूप से प्रतीति कराने की योग्यता यौगिक शब्द में नहीं होती, वह तो केवल प्रकृति प्रत्यय के संयोग से उपलभ्यमान सामान्यग्राही अर्थ का ही अवबोधक है। अतः चिति और चैत्य शब्द को (उसके सामान्यग्राही अवयवार्थ के साथ) अर्थ विशेष में नियुक्त करने के लिये उसकी प्रवृत्ति का पर्यालोचन करना चाहिए। जितने भी शब्द प्रकृति प्रत्यय के योग से निष्पन्न होते हैं उन सब के

वाच्यार्थ का निर्णय उनकी प्रवृत्ति पर ही निर्भर करता है। प्रवृत्ति नाम व्यवहार का है, लोक व्यवहार से शब्दार्थ का जो निर्धारण किया जाता है वह अधिक स्पष्ट और प्रामाणिक होता है। दूसरे शब्दों में कहें तो शब्द के व्युत्पत्तिलभ्य अव्यवहार्य अर्थ को व्यवहार योग्य बनाने के लिये विशेष अर्थ में नियुक्त करना शब्द की प्रवृत्ति अर्थात् व्यवहार के ही आधीन है। यहां इतना स्मरण रखना चाहिये कि जो शब्द अपने यौगिक अर्थ—व्युत्पत्तिलभ्य अर्थके साथ किसी विशेष अर्थ में नियुक्त होकर व्यावहारिकता प्राप्त करता है वह यौगिक नहीं, किन्तु योगरूढ़ है। इसलिये प्रवृत्ति-व्यवहार ही शब्द के विशेष अर्थ का नियामक है, इस अनादिसिद्ध व्यवहार से ही शब्द अपने वास्तविक अर्थ का सूचक होता है। चित्ति और चैत्य शब्द की भिन्न भिन्न विशेष अर्थों में प्रवृत्ति-व्यवहार को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि ये सभी अर्थ विशेष उसके रूढ़ अर्थ हैं या उन सभी विशेष अर्थों में वह रूढ़ है, परन्तु रूढ़ होने पर भी इनमें अवयवार्थ—यौगिकार्थ का परित्याग नहीं हुआ। चित्ति (१) के समूह, चिता, घर, संवेदन और वन्दना आदि, तथा चैत्य (२) के यज्ञ सम्बन्धि इष्टकानिर्मित-

(१) चित्ति—स्त्री चि—कितन्—चितायां, समूहे, वेदान्तोक्ते निर्विशेष-संवेदने, प्रासादादिषु इष्टकादिसंख्याज्ञानार्थे अंकशास्त्रोक्ते (घर) इति ख्याते पदार्थे, अग्निस्थानभेदे च। (शब्दस्तोममहानिधिः)।

(२) चैत्य न० चित्याया इदमण्। ग्रामादिप्रसिद्धे महावृक्षे, देवावासे वृक्षे, जनानां सभास्थितरौ, बुद्धभेदे, आयतने, चिताचिन्हे, जनसभायां, यज्ञस्थाने, जनानां विश्रामस्थाने, देवस्थाने च (शब्दस्तोममहानिधिः)।

नोट—चित्ति शब्द का वन्दना अर्थ में व्यवहार के लिये देखो—समितिवाले आवश्यक सूत्र पृ० ५११ में उद्धृत की गई निम्नलिखित निर्युक्ति गाथाः—

“वन्दणं चिइ किइ कम्मं पूयाकम्मं च विनय कम्मं च”। अर्थात् वंदन, चित्ति कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म यह सब वन्दनाके पर्याय हैं, अर्थात् समानार्थक हैं।

स्थंडिल-विशेष, मन्दिर, मूर्ति अश्वत्थादि प्रधान वृक्ष और चिता-स्थानीय चबूतरा वगैरह इत्यादि जितने भी विशेष अर्थ हैं उन सब में चिति या चैत्य का अवयवार्थ—व्युत्पत्तिभ्य यौगिक अर्थ—चयन विद्यमान है, इससे सिद्ध हुआ कि चिति और चैत्य ये दोनों शब्द प्रारम्भ से ही अन्वर्थ यौगिक नहीं किन्तु योगरूढ़ हैं, यह बात इनकी प्रवृत्ति अर्थात् अनादि सिद्ध व्यवहार से भली भांति निर्धारित हो जाती है। यह है चैत्य शब्द की प्रवृत्ति का इतिहास या प्रकार। चैत्य शब्द के इस ऐतिहासिक उपोद्घात से हमारा अभिप्राय अपने विचार-शील पाठकों को चैत्य शब्द के वास्तविक स्वरूप से परिचित कराना है जिससे कि उन्हें हमारे विद्वान मित्र के द्वारा प्रस्तुत किये गये चैत्य के प्रधान अर्थ की प्रधानता पर विचार करने की विशेष सुविधा रहे।

चैत्य के सात अर्थ और उनमें चिता सम्बन्ध की कल्पना

चैत्य शब्द के अर्थ-निर्धारणमें हम पहले अनेक प्रबल प्रमाणों द्वारा यह अच्छी तरह से सिद्ध कर आये हैं कि प्राचीन वैदिक ग्रन्थों और जैनागमों में चैत्य शब्द का जिन २ अर्थों में व्यवहार हुआ है वे सभी चिता के दूषित सम्पर्क से सर्वथा अलग हैं, और उन अर्थों के साथ साक्षात् या परम्परया चिता का कोई सम्बन्ध प्रमाणित नहीं होता। इसके अलावा हम यह भी स्वीकार करते हैं कि चैत्य के यज्ञस्थान, मन्दिर, मूर्ति, प्रासाद और अश्वत्थादि प्रधान वृक्ष आदि अर्थों में से चितास्थान पर चिता गया स्मारक भी उसका एक अर्थ है और हो सकता है, अगर इस अर्थ में उसका कहीं पर व्यवहार हुआ हो। परंतु जहां तक हमारी धारणा काम करती है, वैदिक साहित्य में तो शायद ऐसा कोई स्थल मिल भी जावे तो कुछ आश्चर्य नहीं मगर आगम साहित्य में तो ऐसा एक भी स्थान उपलब्ध नहीं होता कि जिस में चितासम्बन्ध की कल्पना को भी किसी प्रकार का अवकाश प्राप्त हो।

इसके अतिरिक्त चैत्य शब्द की योगरूढ़ता का ऊपर जो विवेचन किया गया है उस पर से यह अच्छी तरह से स्फुट हो जाता है कि संस्कृत और प्राकृत साहित्य में जिन २ अर्थों में चैत्य शब्द का व्यवहार हुआ है वे सबके सब उसके रूढ़ अर्थ हैं और इनमें वह अपने व्युत्पत्ति-लभ्य यौगिक अर्थ चयन-विशेष के साथ प्रवृत्त होता है इसलिये उसके जितने भी अर्थ हैं उनमें से कोई भी अर्थ मुख्य या गौण, प्राचीन अथवा नवीन नहीं । जिस प्रकार अपने प्रधान अर्थ चयन-विशेष को लेकर चैत्य शब्द मन्दिर में रूढ़ हुआ है उसी प्रकार विशिष्ट चयन के साथ वह चितास्थान के चबूतरे में भी रूढ़ है । इन दोनों ही अर्थों में उसकी समान प्रवृत्ति है, एक जगह उसका देवमन्दिर अर्थ है और दूसरी जगह पर वह चितास्थान या चिता मन्दिर का बोधक है । इसी भांति वह यज्ञस्थान और प्रधान वृक्ष आदि अर्थों में भी अपने मूलार्थ के साथ रूढ़ है । चैत्य का यह स्वरूप उसकी उत्पत्ति व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल और शास्त्रीय है, ऐसा होने पर भी हमारे मित्र को उससे पूरा पूरा विरोध है, आप उसको—चैत्य को एकमात्र चितामूलक मानने का ही विशेष आग्रह कर रहे हैं । आपके मत में चैत्य, यह चिता पर से निष्पन्न होने वाला यौगिक शब्द है, उसका मूलार्थ एकमात्र चितास्थान की राख या उस पर चिनाया गया चबूतरा वगैरह ही है, इसके विपरीत अर्थात् चितास्थान से अतिरिक्त स्थान के मन्दिर या प्रासाद आदि में चैत्य शब्द का व्यवहार उसके मूल अर्थ—यौगिक अर्थ चिता सम्बन्ध को लेकर नहीं, किन्तु रूढ़ अर्थ लौकिक संकेत को लेकर हुआ है । यह कोई उसका प्रधान अर्थ नहीं इत्यादि । परन्तु आपके इस विचार को जब हम किसी प्रामाणिक तुला पर रखकर तोलते हैं तो वह किसी तरह भी पूरा नहीं उतरता । हम पहले यह भली भांति दर्शा आये हैं कि चैत्य का मूल,

चयनार्थक 'चि' धातु-निष्पन्न चिति और चित्य में है, और ये दोनों भी यौगिक नहीं किन्तु योगरूढ़ हैं, इनका एकमात्र चिता अर्थ मानना भी हमारे मित्र का दुराग्रह है। तथा शब्दार्थ का नियामक भी वस्तुतः उसका व्यवहार ही होता है। अगर चितास्थान से अतिरिक्त के देवालयों में चैत्य शब्द का व्यवहार प्राचीन, वैदिक और जैन-साहित्य में उपलब्ध होता है तो उसके मानने में आपत्ति क्यों? जब कि शब्दार्थ का यथार्थ निर्णय उसकी प्रवृत्ति पर ही निर्भर करता हो। सच पूछो तो हमारे मित्र इससे अज्ञात नहीं हैं, उनको यह सब कुछ विदित है मगर क्या करें, जिस वातावरण में आपने इस निबन्ध की रचना की है उसका ऐसा ही प्रभाव था, अन्यथा आप जैसे विचारशील व्यक्ति में इतना दुराग्रह, इतनी खैचातानी कभी संभव नहीं हो सकती।

आपको आगमों का कोई भी चैत्य ऐसा नजर नहीं आया, जिस पर कि चिता भस्म की मुद्रा अंकित न हो, मोहर छाप न लगी हुई हो। आपके विचार में चैत्य का कोई भी आकार क्यों न हो, उसमें चिता का सम्बन्ध तो होना ही चाहिये। अश्वत्थ का वृक्ष, तब तक चैत्य नहीं कहला सकता जब तक कि उसे चितास्थान का सौभाग्य प्राप्त न हो। श्रौतस्मार्त किसी प्रकार के भी यज्ञ-याग सम्बन्धि स्थंडिल आदि के आकार विशेष को चैत्य कहलाने का अधिकार तब तक प्राप्त नहीं हो सकता, जब तक कि वह चितास्थान का अन्तेवासी न बने। इसी प्रकार वह भव्य जिनालय-जिनमंदिर भी चैत्य के नाम से व्यवहृत नहीं हो सकता, जब तक कि उसे चितास्थान पर प्रतिष्ठित न किया जाय। इस लिये चैत्य के प्रारम्भिक और उत्तर-वर्त्ति जितने भी आकार या अर्थ विशेष हैं सभी में चिता का दिव्य प्रकाश है। इसके बिना वे अपने स्वरूप का भान नहीं करा सकते। जिस प्रकार स्वर्ण के कटक-कुंडलादि भिन्न भिन्न आकारों में स्वर्ण द्रव्य

की व्याप्ति है उसी प्रकार आपके मत में चैत्य के जितने भी आकार हैं वे सब चिता सम्बन्ध से व्याप्त हैं । इस लिये चैत्य और चिता ये दोनों अविनाभावी हैं । आपने चैत्य के चितासम्बन्धि आकारों का स्वरूप बतलाते हुए उसको सात अर्थों में विभक्त किया है और अन्त में कहा है कि यहां तक तो चैत्य शब्द अन्वर्थ है बाद में जब चिता-दाह के सिवा स्थानान्तर में देवालय आदि चिने गये और उनमें मूर्तियां स्थापित की गईं तब वह रूढ़ हो गया । इससे सिद्ध हुआ कि आप चिता सम्बन्ध के सिवा चैत्य का कोई वास्तविक आकार किसी तरह से मानने को तैयार नहीं हैं ।

ऊपर हमने आपके विचारों को अपने शब्दों में व्यक्त किया है, अब पाठक आपके शब्दों में भी सुनें !

आप लिखते हैं--

“चैत्य शब्द का प्रारम्भिक अर्थ चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह था । जब उस जगह में उस स्मारक को कायम रखने के लिये या पहचान कराने के लिये पाषाण-खंड या शिलालेख रक्खा जाता था, तब चैत्य का अर्थ पाषाणखंड या शिलालेख भी हुआ । जब उस स्मारक चिन्ह के बदले या उसके ऊपर किसी वृक्ष को रोपित किया जाता, उस वक्त चैत्य का अर्थ वृक्ष-चैत्यवृक्ष हुआ । जब उस स्मारक चिन्ह के पास यज्ञादि पवित्र क्रियायें की जाती थीं, उस समय चैत्य का अर्थ यज्ञस्थान भी हुआ है (देखो समितिवाला-श्रीपपातिक सूत्र की टीका में चैत्य का वर्णन तथा अमरकोष वाला चैत्य शब्द) जब उस स्मारक चिन्ह को देवकुलिका के आकार में बनाया जाता था, उस वक्त चैत्य का अर्थ देवकुलिका (देहरी) हुआ । जिस समय उस जगह चिनी हुई देवकुलिका में पादुकायें पधराई जाने लगीं, उस समय चैत्य का अर्थ पादुका सहित देवली या मात्र पादुका हुआ । जब

उस जगह भव्यमंदिर चिना जाने लगा और उसमें मूर्तियां पधराई जाने लगीं, तब चैत्य का अर्थ देवालय या मूर्ति किया गया। अभी तक चैत्य शब्द अन्वर्थ रहा, परन्तु जब चिता दाह के सिवा स्थानान्तरों में देवालय चिने गये या उनमें मूर्तियां स्थापित की गईं, तब वह रूढ़ हुआ, डित्थ के समान संज्ञा शब्द बन गया और आरम्भ में मात्र सादृश्य से एवं आजकल केवल लौकिक संकेत से चैत्य का अर्थ मंदिर या मूर्ति हो गया है। इस प्रकार परिस्थिति के अनुसार चैत्य शब्द के अनेक अर्थ परिवर्तित हुए हैं, उन सब का मिलान करने पर उसके सात अर्थ होते हैं और वे इस प्रकार हैं—

- (१) चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह, चिता की राख।
- (२) चिता ऊपर का पाषाणखंड डला या शिलालेख।
- (३) चिता पर का पीपल या तुलसी आदि का पवित्र वृक्ष।
(देखो मेघदूत पूर्व मेघ श्लो० २३)
- (४) चिता पर चिने हुए स्मारक के पास का यज्ञस्थान व होम-कुंड।
- (५) चिता के ऊपर देहरी के आकार का चिनाव, स्तूप, साधारण देहरी।
- (६) चिता पर की पादुका वाली देहरी या चरण पादुका।
- (७) चिता पर का देवालय या विशालकाय मूर्ति।

ये चैत्य के सातों अर्थ उसकी व्युत्पत्ति को सुशोभित करते हैं और अन्त के दो आठवां और नौवां रूढ़िजन्य अर्थ चैत्य की व्युत्पत्ति से बड़ी दूर रहते हैं। अर्थात् वे लाक्षणिक और रूढ़ हैं एवं शब्दानुगामी न होने के कारण वे अर्थ निरर्थक जैसे हैं” इत्यादि। पृ० १६२ से १६४ तक।

प्रारम्भिक अर्थ

आपके बतलाये हुए चैत्य शब्द के प्रारम्भिक अर्थ का तात्पर्य जहां तक हमारी समझ में आया है वह यह है कि 'चिता की भस्म' आपके मत में यह चैत्य शब्द का सब से प्राचीन अर्थ है उसका सब से पहले इसी अर्थ में व्यवहार किया जाता था। हमें इसके स्वीकार करने में जरा मात्र भी संकोच नहीं होता, अगर वस्तुस्थिति इसके अनुरूप होती। प्रस्तुत पुस्तक में इस विषय को प्रमाणित करने वाला एक भी ठोस प्रमाण हमारे देखने में नहीं आया। हमारे विद्वान् मित्र की तर्फ से अगर इस विषय का ऐतिहासिक या शास्त्रीय एक आध प्रमाण भी उपस्थित किया गया होता तो हम उसे मुक्त कंठसे स्वीकार करते, मगर आपने तो सब कुछ जबानी जमा खर्च करके व्यर्थ ही दूसरों पर प्रभाव डालने का प्रयत्न किया है। अगर चैत्य का यही सर्वप्राचीन अर्थ है तो क्या कारण है कि उसका प्राचीन, वैदिक और जैन-साहित्य में व्यवहार नहीं देखा जाता। हमने वैदिक साहित्य में चैत्य शब्द के व्यवहार के जो उदाहरण ऊपर दर्शाये हैं वे वर्तमान जैनागमों से अपेक्षाकृत कहीं अधिक प्राचीन हैं, इस विषय में तो आपको भी कोई विवाद नहीं हो सकता। इसके अलावा इन उदाहरणों में चैत्य शब्द का जिस २ अर्थ में व्यवहार हुआ है वह इतना स्पष्ट और निश्चिन्त है कि उस पर किसी प्रकार के भी विवरण की आवश्यकता नहीं। तथा वर्तमान काल में उपलब्ध होने वाले वैदिक साहित्य में इन उदाहरणों से अधिक प्राचीन उदाहरण आज तक तो हमारे देखने में नहीं आया, और इन उदाहरणों में चिता भस्म के साक्षात् सम्बन्ध की बात तो अलग रही उसकी परोक्ष कल्पना को भी वहां पर कोई स्थान नहीं है। ऐसी दशा में बिना किसी विशिष्ट आधार के हम यह

कैसे मान लें कि चैत्य शब्द का प्रारम्भिक अर्थ—“चिता की राख या उस पर चिता हुआ स्मारक चिन्ह था” । हमने ऊपर प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में से चैत्य शब्दार्थ निर्णय के लिये जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, हमारे मित्र जब तक उनसे कोई अधिक प्राचीन प्रमाण हमारे सामने उपस्थित नहीं करते तब तक हम आपके इस कथन में अणुमात्र भी विश्वास करने को तैयार नहीं हैं । और तब तक हम तो अपने विज्ञ पाठकों से भी यही निवेदन करेंगे कि चैत्य के, चिता सम्पर्क से सर्वथा पृथक् रहने वाले यज्ञस्थान, मन्दिर और मूर्ति आदि प्रधान अर्थों को ही उसके प्रारम्भिक अर्थ समझें । जहां तक हमने इस विषय का पर्यालोचन किया है, हमें तो वैदिक अथवा जैन-परम्परा के किसी अधिक से अधिक प्राचीन ग्रन्थ में चिता की राख के अर्थ में चैत्य शब्द का व्यवहार उपलब्ध नहीं हुआ । बल्कि ऐसे तो अनेक स्थल देखने में आये हैं कि जिन पर से चैत्य का चितास्थान से सर्वथा पृथक् होना प्रमाणित है । जैनागमों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द को चिता के साथ सम्बद्ध करने का हमारे विद्वान् मित्र ने हृद से बढ़कर प्रयत्न किया है, परन्तु हमारे ख्याल से आप इस कार्य में बुरी तरह से असफल रहे हैं । आचारांगसूत्र (समिति पृ० ३६६-३६७) में उल्लेख किये गये “चेयाइ” का चिता पर चिने गये स्मारक या चिता की भस्म अर्थ करने का तो शायद आप भी साहस न कर सकेंगे ।

अतः चैत्य के उक्त प्रधान अर्थ याने प्रारम्भिक अर्थ के लिये किसी प्रकार का विशिष्ट समर्थन न होने से वह उपादेय नहीं हो सकता । हमारे ख्याल में तो चैत्य का प्रारम्भिक या मूल अर्थ चयन—इष्टाकाचयन है, इसी मूलार्थ के साथ उसका जिस २ विशेष अर्थ में व्यवहार हुआ वह चैत्य के नाम से प्रसिद्धि में आया । इस लिये ऊपर बतलाये गये चैत्य के प्रारम्भिक और अवान्तर अर्थों में चिता

के सम्बन्ध की जो कल्पना की गई है और उस कल्पना के आधार पर जो चैत्य के सात अर्थ बतलाये गये हैं, यह सब कुछ मनःकल्पित आगम-बाह्य और अशास्त्रीय हैं। हम फिर भी यह कहे देते हैं कि जैनागमों में चैत्य के नाम से निर्दिष्ट होने वाले पदार्थों में चिता के सम्बन्ध की कल्पना को कोई भी अवकाश नहीं है। उनके चैत्य तो देवमन्दिर या देवस्थान हैं, जिनकी रूविधि उपासना से साधक के अन्दर एक विशेष प्रकार का अध्यात्म स्फुरण उत्पन्न होता है और आपके शब्दों में कहें तो—“जो लोक के प्रवाहवाही विभाग को प्रारम्भमें आत्मा की मूलस्थिति का भान कराने के लिये दर्पण के समान है”। इस लिये चिता की राख, चिता पर का पाषाणखंड या शिलालेख, चिता के ऊपर का पीपल या तुलसी का झाड़, एवं चिता पर की देहरी या चरणपादुका और चिता के पास का हवनकुंड आदि” आगमों के चैत्य नहीं हैं ये तो हमारे मित्रके कल्पना किये हुये चिताके भिन्न भिन्न आकार हैं, जिन्हें आप चैत्यों का नाम देकर आगमगत चैत्यों की पंक्ति में बिठाने का जघन्य प्रयास कर रहे हैं। चितास्थान पर रखे हुए पाषाणके टुकड़े का किसी जैनागम में चैत्य के नाम से निर्देश किया हो ऐसा हमारे देखने में तो आज तक भी नहीं आया।

चैत्यवृक्ष और चिता

इस प्रकार शास्त्रों में अश्वत्थादि प्रधान वृक्षों—यज्ञीय वृक्षों के लिये चैत्य या चैत्य वृक्ष का प्रयोग तो हमारे देखने में आया है, परन्तु वह चितास्थानीय प्रधान वृक्षों के लिये ही नियत है ऐसा उल्लेख कहीं पर देखने में नहीं आया। कोषों और प्राचीन वैदिक ग्रन्थों तथा जैनगमों में जहां कहीं वृक्ष के अर्थ में चैत्य शब्द का प्रयोग किया है वहां सर्वत्र उसका अश्वत्थादि प्रधान वृक्ष, पूज्य वृक्ष या रथ्यावृक्ष मात्र ही अर्थ किया है, किसी भी टीकाकार विद्वान् ने वहां चिता का

स्मरण नहीं किया, और विचारपूर्वक देखा जाय तो वहां चिता सम्बन्ध को कोई स्थान ही नहीं है। कुछ उदाहरण लीजिये—

(१) कोश

(क) त्रिकांड शेष कोष में ग्रामादि में प्रसिद्ध देवता के निवास वाले वृक्ष के चैत्य, देवतरु, करिभ और कुंजर ये चार नाम दिये हैं। (१) इनमें देवतरु, करिभ और कुंजर ये तीन शब्द तो ऐसे हैं कि जिनमें चिता सम्बन्ध की कभी स्वप्न में भी संभावना नहीं की जा सकती, तब इनके साथ, प्रधान—ग्रामादि प्रसिद्ध वृक्ष के लिये प्रयुक्त होने वाले चैत्य में चिता सम्बन्ध की कल्पना करनी या तो नितान्त भ्रम है या अत्यन्त दुराग्रह। इसके सिवा अन्यत्र इसी कोष में पीपल अश्वत्थ को चैत्यद्रु—चैत्यवृक्ष के नाम से स्मरण किया है। (२) अश्वत्थ वृक्ष का चितास्थान पर होना भी संभव हो सकता है और प्रधान वृक्ष के अर्थ में उसका भी ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु चितास्थान पर आरोपित किया गया अश्वत्थ ही चैत्य वृक्ष कहला सकता है दूसरा—चिता से अतिरिक्त स्थान पर का नहीं इसके लिये कोई प्रमाण नहीं है।

(क) शब्दस्तोममहानिधि में भी चैत्यवृक्ष का, अश्वत्थादि प्रधान वृक्ष ही अर्थ किया है। (३)

(२) वैदिक ग्रन्थ

(क) मनुस्मृति में दो स्थानों पर उक्त शब्द का प्रयोग किया

(१) चैत्यो देवतरुर्देवावासे करिभकुंजरो ।

टी०—चैत्यः देवतरुः करिभः कुंजर इति चत्वारि ग्रामादिप्रसिद्धस्य देवावासवृक्षस्य ।

(२) पिप्पलो वादरंगः स्यात्, चैत्यद्रुः केशवालयः ।

(३) चैत्यवृक्ष पुं० अश्वत्थादिप्रसिद्धे वृक्षे

है एक जगह चैत्यवृक्ष, दूसरी जगह चैत्यद्रुम का उल्लेख है । (१)
 इन दोनों स्थानों पर कुल्लूक भट्ट ने इसका प्रख्यात वृक्ष ही अर्थ किया
 है (“प्रख्यातवृक्षमूलानि, तथा ग्रामादिसमीपे ख्यातवृक्षश्चैत्यद्रुमः”)
 न कि चितास्थानीय प्रसिद्धवृक्ष भी ।

(ख) बाल्मीकीय रामायण में जहां अश्वत्थादि प्रधान वृक्षों
 के लिये केवल चैत्य शब्द का प्रयोग किया है वहां टीकाकार ने उसका
 “रथ्यावृक्षाः” ऐसा ही अर्थ किया है । चिता पर का प्रधान वृक्ष अर्थ
 नहीं किया (२) । ग्राम-मध्यवर्ती मार्ग का नाम रथ्या (३) है, वहां
 पर के वृक्ष रथ्यावृक्ष कहलाते हैं । हम नहीं समझते कि कभी किसी
 ग्राम के मध्य में भी श्मशान भूमि होती होगी । हमारे मित्र ने अपने
 कथन की पुष्टि के लिये कवि कालिदास कृत मेघदूत के एक श्लोक
 का हवाला दिया है, परन्तु आपने उससे चैत्य या चैत्यवृक्ष का—
 चितास्थान पर का प्रधान वृक्ष अर्थ प्रमाणित करने का जो साहस किया
 है, उसको देखते हुए तो हमारे मुख से यह बलात् निकल जाता है कि
 आप भी उन पंडितों में से एक हैं जिनके लिये आचार्य हेमचन्द्र की—
 “तुरंगशृंगाण्युपपादयद्भ्यो नमः परेभ्यो नवपंडितेभ्यः ।” यह सूक्ति
 सर्वेसर्वा चरितार्थ होती है । मेघदूत पूर्व मेघके २३वें श्लोक में उल्लेख
 किये गये “ग्राम चैत्य” शब्द में तो चिता का गन्ध तक भी नहीं आता
 वहां पर भी उसके सुप्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ ने उसका वही

(१) चतुष्पथाश्चैत्यवृक्षाः समाजाः प्रेक्षणानि च ॥९॥ २६४ चैत्यद्रुम
 श्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च । १०।५०।

(२) “देवायतनचैत्येषु” टी०—चैत्या रथ्यावृक्षाः । २।३।१८।

(३) देखो अमरकोष की टीका—रथ्या प्रतोली विशिखा त्रीणि ग्रामाभ्य-
 न्तरमार्गस्य ।

समुचित रथ्यावृक्ष ही अर्थ किया है । (१) हम इस सम्बन्ध में कहने योग्य सब कुछ पहले कह आये हैं दुवारा पिष्टपेवण की आवश्यकता नहीं थी तो भी पाठकों की याद ताजा कराने के लिये फिर भी थोड़ा सा लिख दिया है । हमें यह कहने में रत्ती भर भी संकोच नहीं कि इस विषय में हमारे विद्वान् मित्र या तो भ्रान्त हैं या दुराग्राही, (परन्तु भ्रांत मानने की अपेक्षा दुराग्राही मानना ही समुचित है ।)

जैनागम

(क) समवायांगसूत्र में चैत्य वृक्ष शब्द का प्रयोग जिस अभि-प्राय से किया गया है अर्थात् उससे जो प्रधान वृक्ष अर्थ अभिप्रेत है उनका चितास्थान पर रोपित किया जाना किसी प्रकार भी प्रमाणित नहीं होता । उक्त सूत्र में २४तीर्थकरों के २४चैत्य वृक्ष होने का उल्लेख किया है—

“एएसि चउब्बीसाए तित्थगराणं चउवीसं
चेइय रुक्खाहोत्था”

जिस तीर्थकर को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ वह वृक्ष उस तीर्थकर का चैत्य वृक्ष कहलाया ।

यथा—आदिम तीर्थकर ऋषभदेवको (नगगोहवर पायवस्सअहे) न्यग्रोध-वटवृक्ष के नीचे केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ और अजितनाथ को सप्तपर्ण के नीचे ; इसी प्रकार तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ को धातकी

(१) मेघदूत का वह श्लोकार्द्ध और उसकी मल्लीनाथी व्याख्या का पाठ निम्नलिखित है—

पांडोच्छायापोषवनवृतयः केतकैः सूचिभिर्नैः ।

नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ॥ (पू० मे० २३)

टी०—चित्याया इमानि चैत्यानि—रथ्या वृक्षाः—“चैत्यमायतने बुद्धबन्धे चोद्देशपादपे” इति विश्वः । आकुलानि संकीर्णानि ग्रामेषु चैत्यानि येषु ते तथोक्ताः।

वृक्ष के नीचे और अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर को (साल-पायवस्स अहे) अर्थात् सालवृक्ष के नीचे केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ । अतः ये इनके चैत्य वृक्ष कहे गये ।

समवायांगसूत्र में उन चौबीस वृक्षों के नाम का निर्देश करके अन्त में लिखा है कि ये जिनेन्द्र देवों के चैत्यवृक्ष हैं । (१) इससे यह बात भली भांति प्रमाणित हो जाती है कि समवायांगसूत्र के इन प्रधान वृक्षों की चैत्य या चैत्यवृक्ष संज्ञा किसी चिता विशेष पर रोपित किये जाने के कारण नहीं है, किन्तु ये पीठबद्ध हैं और इनके नीचे तीर्थंकर देवों को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है, इस लिये चैत्य या चैत्यवृक्ष के नाम से प्रख्यात हैं । पूज्य अभयदेवसूरि जी ने भी निम्नलिखित शब्दों में इसी भाव का समर्थन किया है — यथा — “चेइयरुक्खा—बद्धपीठवृक्षाः, येषामधः केवलान्युत्पन्नानि—इति” अर्थात् जिन वृक्षों के नीचे पीठ बांधा हुआ है चौतरा वगैरह चिना हुआ है और जिनके नीचे तीर्थंकर देवों को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ है उन वृक्षों का नाम चैत्यवृक्ष है । अतः यहां के चैत्यवृक्षों का चिता-स्थान से कोई सम्बन्ध नहीं यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है । परन्तु हमारे मित्र को इनमें भी, चैत्य के अपने माने हुए प्रधान अर्थ—चिता सम्बन्धी अर्थ का ही निरन्तर आभास हो रहा है । आप लिखते

(१) तं जहा—णग्गोहा सत्तिवण्णे साले पियए पियंगु छत्ताहे ।

सिरिसे य णागरुक्खे, माली य पिल्लुरुक्खे य ॥ ३३ ॥

त्तिंदुगपालगजंबू, आसत्थे खलु तहेव दहिवण्णे ।

णंदीरुक्खे तिलए अंबयरुक्खे असोणेय ॥ ३४ ॥

चंपय वउले य तहा वेडस रुक्खे य धाइ रुक्खे य ।

सा ञ्जेय वड्ढमाणस्स चेइयरुक्खा जिणवराणम् ॥ ३५ ॥

(समवायांग पृ० १५१ समिति वाला)

हैं—(“यहां पर नियोजित किया हुआ चैत्यवृक्ष शब्द भी अपने स्मारक या निशान वाले अर्थ को ही सूचित करता है । टीकाकार महाशय ने भी यहां तो इसी अर्थ की पुष्टि की है ।—तीर्थंकरों को प्राप्त हुए केवल बोध के स्मारक रूप पीठबद्ध वृक्ष ही यहां पर चैत्यवृक्ष समझने चाहियें । इस प्रकार सूत्रकृतांग स्थानांग और समवायांगसूत्र के चैत्य शब्द से लगते हुए समस्त उल्लेख उसके उसी प्रधान और प्राचीन अर्थ का समर्थन करते हैं” इत्यादि) पृ० १४६ । परन्तु इतने मात्र से इनका चित्तास्थान पर रोपित किया जाना कैसे प्रमाणित हुआ, यह हमारी समझ में नहीं आया । उक्त कथन से तो इतना ही सिद्ध होता है कि ये वृक्ष पीठबद्ध हैं अर्थात् इनके नीचे चौतरा वगैरह चिना हुआ है और तीर्थंकर देवों के केवलज्ञान का स्मरण कराते हैं, इस लिये इन्हें चैत्यवृक्ष कहा है । अगर स्मारक का यही अर्थ है तब तो हम इन्हें स्मारक कहने या मानने में आपके साथ सोलह आने सहमत हैं । हर एक शब्द अपने वाच्यार्थ का स्मरण कराने से स्मारक कहा जा सकता है । इसी प्रकार अगर तीर्थंकरों को प्राप्त होने वाले केवलज्ञान के स्मारकरूप पीठबद्ध वृक्ष ही यहां पर चैत्य शब्द का वाच्यार्थ है तो इसमें हमें कोई विवाद नहीं । इस परसे तो इनका चित्ता सम्पर्क से अछूता रहना सिद्ध होता है, परन्तु आप तो इतना स्पष्ट उल्लेख कर देने के बाद भी अपनी वही पुरानी बड़ (गप्प) हांक रहे हैं कि समवायांग का यह चैत्य शब्द भी अपने उसी प्रधान और प्राचीन (चित्ता सम्बन्धी) अर्थ का समर्थन कर रहा है । पूज्य अभयदेवसूरि ने जो अर्थ किया है उसमें तो चित्ता सम्बन्ध का कहीं गन्ध भी नहीं आता, अतः हमारे ख्याल में चैत्य शब्द के तीसरे अर्थ के निर्देश में आपका—“चित्ता पर का पीपल या तुलसी

आदि का पवित्र वृक्ष” यह उल्लेख आगमबाह्य होने के अतिरिक्त किसी प्रकार से युक्तिसंगत भी नहीं कहा जा सकता ।

(ख) उत्तराध्ययन सूत्र में भी इस विषय का उल्लेख देखने में आता है । वहां पर चैत्यवृक्ष और चैत्य ये दोनों शब्द क्रमशः रमणीय उद्यान और पीठबद्ध प्रधान वृक्ष अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं । यथा—

“मिहिलाए॥ चेइए वच्छे, सीयच्छाए मनोरमे ।

पत्ता पुप्फफलोवेए, बहूणं बहुगुणे सया ॥

वाएण हीर माणम्मि, चेइयम्मि मनोरमे ।

दुहिया असरणा अत्ता, एए कंदन्ति, भो खगाः ॥

अ० ९+ ९-१०

उत्तराध्ययनसूत्र की इन दोनों गाथाओं में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द की व्याख्या में वादिवेताल श्रीशान्तिसूरि जी (१) ने पहले का उद्यान और दूसरे का पीठबद्ध (जिस के नीचे ईंटों का चौतरा बन्धा हुआ है) वृक्ष अर्थ किया है । (चयनं चितिः इह प्रस्तावात् पत्रपुष्पाद्युपचयः तत्र साधुरित्यन्ततः प्रज्ञादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थिकेऽणि चैत्यं उद्यानं तस्मिन्) ।

तथा (“चितिरिहेष्टकादिचयः तत्र साधुः—योग्यश्चित्यः प्राग्वत् स एव चैत्यस्तस्मिन्, किमुक्तं भवति ? अधोवद्धपीठके उपरि चोच्छ्र-

* मिथिलायां चैत्ये वृक्षे, शीतच्छाये मनोरमे ।

पत्रपुष्पफलोपेते, बहूनां बहुगुणे सदा ॥

वातेन ह्लियमाणे, चैत्ये चैव मनोरमे ।

दुःखिता अशरणा आर्ताः एते क्रन्दन्ति भो खगाः ।

(१) इनका स्वर्गवास वि० सं० ११११ में हुआ, अधिक के लिये देखो वीरप्रवचन पृ० १३५ लेखक मोहनलाल चौकसी ।

तपताके”) सर्वार्थसिद्धि टीका में कमलसंयम उपाध्याय ने भी यहां के चैत्य की इसी प्रकार से व्याख्या की है (१) इस पर से यही निश्चित होता है कि चैत्य के ये दोनों अर्थ चिता से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अथवा यूँ कहिये कि उद्यान पीठबद्ध वृक्ष में व्यवहृत होने वाला चैत्य शब्द चिता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता (२)। इस प्रकार वैदिक और जैन, दोनों सम्प्रदायों के प्रामाणिक साहित्य में चिता सबन्ध से पृथक् रहने वाले प्रधान वृक्षों में चैत्य शब्द का व्यवहार स्पष्ट देखने में आता है। किसी भी वैदिक अथवा जैन विद्वान् ने वृक्ष वाचक चैत्य शब्द का चितास्थान पर का वृक्ष अर्थ नहीं किया, इस लिये हमारे मित्र का “चिता पर का पीपल या तुलसी आदि का पवित्र वृक्ष” यह कथन किसी तरह भी उचित माना जा नहीं सकता।

चिता और यज्ञस्थान

हमारे मित्र चैत्य शब्द का चौथा अर्थ—चितास्थान पर चिने हुए स्मारक के पास का यज्ञस्थान व होम-कुंड करते हैं। आप लिखते हैं कि जब उस स्मारक चिन्ह के पास यज्ञादि पवित्र क्रियायें की जाती थीं, उस समय चैत्य का अर्थ यज्ञस्थान भी हुआ (देखो समिति वाला

(१) वहां पर “उद्याने देवगेहे च वृक्षे चैत्यमुदाहृतम्” (चैत्य शब्द उद्यान, देवगृह, देवमंदिर और वृक्ष अर्थ में व्यवहृत होता है) इस कोष के प्रमाण का उल्लेख करने के अनन्तर लिखा है—

“चितिरिहेष्टकादिचयः, तत्र साधुः योग्यश्चित्यः स्वार्थे अणिचैत्यस्तस्मिन्, कोर्थः अधोवद्धपीठके उपारिचोच्छ्रितपताके मनोरमे मनोभिरतिहेतौ वृक्षे इति शेषः।” (२) इसके सिवा बहुकल्प भाष्य में चैत्यवृक्ष के स्थान में चैत्यद्रुम शब्द का उल्लेख है जिसका अर्थ टीकाकार ने अशोकवृक्ष किया है। इस पर से भी उसका चिता सम्बन्ध से रहित होना ही सिद्ध होता है।—चेइद्रुम पेठ छद्ग, आसण छत्तं च चामराओय।

टी०—चैत्यद्रुमम्—अशोकवृक्षम् इत्यादि (पृ० ३६६)

औपपातिक सूत्र की टीका में चैत्य का वर्णन तथा अमरकोष वाला चैत्य शब्द) पृ० १६२-१६३ ।

समीक्षा—

हम प्रथम अनेक प्रमाणों द्वारा यह अच्छी तरह से स्पष्ट कर आये हैं कि यज्ञ अर्थ में चैत्य शब्द का व्यवहार किसी प्रकार के चित्ता-सम्बन्ध को लेकर नहीं, किन्तु यज्ञ में होने वाले विविध भांति के चयन विशेष को लेकर हुआ है । वैदिक परम्परा में अनुष्ठेय श्रौत-स्मार्त नाम के जितने भी यज्ञ निर्दिष्ट हैं उन सब में अग्निचयन को ही प्राधान्य प्राप्त है । अथवा युं कहिये कि प्रत्येक यज्ञ में अग्नि का चयन होता है, फिर वह श्रौत हो या स्मार्त । अग्निचयन का अर्थ, अग्निस्थापनार्थ विधिपूर्वक इष्टकादि से रचा गया स्थंडिल विशेष है । इसके लिये शतपथ ब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र के अलावा महाभारत का सभापर्वगत राजसूय और आश्वमेधिक पर्व भी द्रष्टव्य है (१) और ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थात् चैत्य शब्द की उत्पत्ति व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति का विचार करने पर भी चयन विशेष को लेकर

(१) क—सभापर्व के राजभूयप्रकरण में निम्नलिखित श्लोक है—
साम्ना षडग्नयो यस्मिन् चीयन्ते शंसितव्रतः । १३।२३॥

अर्थात् विद्वानों ने जिसमें सामवेद के मंत्रों द्वारा छे प्रकार की अग्नियों का चयन किया । यहां इस श्लोकाद्वय की व्याख्या में आचार्य नीलकंठ ने लिखा है—
अग्नयः—अग्निस्थापनार्थानि स्थंडिलानि, साम्ना-सामाग्निविहितर्वेदमंत्रैश्चीयन्ते रच्यन्ते ।

ख—ततो यज्ञो ब्रवधे तस्य राजन्, यत्र देवाः स्वयमन्नानि जहूः ।

यस्मिन् शक्रो ब्राह्मणः पूज्यमानः सदस्यो भूदुरिमान् देवराजः ॥

ततः सम्बर्तश्चैत्यगतो महात्मा, यथा वह्निः प्रज्वलितो द्वितीयः । हवीष्यु-
ज्वैराह्वयन् देवसंधान् जुहावानौ मंत्रवित् सुप्रतीतः । (महाभारत आश्वमेधिक-
पर्व अ० १८ श्लो० ३१-३२) ।

उसका—चैत्य का प्रधान और प्राचीनतम अर्थ यज्ञ या यज्ञस्थान ही निर्धारित होता है, इसके अतिरिक्त वैदिक और जैनपरम्परा में प्राचीन तथा अर्वाचीन जितने भी विद्वान् आचार्य हुए हैं उनमें से किसी ने भी यज्ञ अर्थ में चैत्य शब्द का व्यवहार करते हुए उसका—चैत्य का चिता समीपवर्तित्व बोधित नहीं किया। अथवा यूँ कहिये कि चिता पर चिनाये गये स्मारक चिन्ह के पास, सम्पादित किये जाने से यज्ञ को चैत्य कहते हैं ऐसा किसी भी वैदिक अथवा जैन विद्वान् ने कहीं पर लिखा हो ऐसा हमारे देखने में नहीं आया। हमने प्राचीन वैदिक साहित्य में से यज्ञ अर्थ में प्रयुक्त हुए चैत्यशब्द के अनेक उदाहरण उद्धृत करके दिखा दिये हैं कि जिन में चितास्थान या उसके सामीप्य की कल्पना तक को भी कोई स्थान नहीं है। अगर कोई विद्वान् (१) “कच्चिच्चैत्यशतैर्युष्टः” (वाल्मी० रा०) “चैत्यं यूपांकिता भूमिः” (२) (महाभारत) इत्यादि स्थानों में चयन प्रधान यज्ञ अर्थ में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का—“चितास्थान पर चिने हुए चबूतरे वगैरह के पास का होम-कुंड या यज्ञस्थान” अर्थ करे तो समझ लो कि विद्वत्ता की हृद और विवेक की इतिश्री हो गई। हमारे मित्र ने अपने अर्थ की पुष्टि में औपपातिकसूत्रगत चैत्य के वर्णन को और अमरकोष में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द को देखने का अनुरोध किया है, परन्तु हमें तो इन दोनों स्थानों पर चिता या चिता पर के स्मारक का कहीं दर्शन नहीं हुआ। औपपातिकसूत्र का मूल पाठ और उसकी टीका का हम पहले उल्लेख कर आये हैं और उसका आधुनिक गुजराती में जो अनुवाद

(१) चैत्यशतैः—“अश्वमेधान्तयागानामेकचयनप्रदेशैः” (टीकाकारः)

(२।१००।४३)

(२) चित्ये—“चयनवति क्रतौ विहिताश्चैत्यास्ते च ते यूपाश्च तैरंकिताः”

इति नीलकंठाचार्यः (१।१।२२९)

किया है उसको भी हमने ऊपर अक्षरशः उद्धृत कर दिया है। उसमें तो चिता या उसके सामीप्य का कहीं पर जिक्र आया नहीं, अलबत्ता इसके विपरीत सूत्रकार को चैत्य शब्द का जो अर्थ अभिप्रेत है, वह चिता के सम्पर्क से रहित देवमंदिर या देवमूर्ति ही है, इस बात का स्पष्टीकरण तो औपपातिक सूत्र के उक्त वर्णन से भली भांति हो जाता है। (१) जो कि हमारे मित्र को अभीष्ट नहीं। इसके सिवा अमरकोष

(१) ते चम्पानगरी बाहर उत्तर अने पूर्व दिशाना मध्य भागे इंशानकोणमां पूर्णभद्रनामसुं चैत्य हतुं, ते चैत्य निरकाल पूर्वं बनेलुं, पूर्वजो बड़े जणाएलुं, पुराणुं, शब्दित, आश्रयादाता, कीर्तिवालुं अने ज्ञात हतुं। वली छत्र, ध्वज, घंट, ध्वजा तथा नानी नानी पताकाओ बड़े शणगारेलुं अने रूवां वाला प्रमार्जन युक्त हतुं। तेमां वेदिकनी रचना, गार अने घोलनीमंडना गोशीर्ष रक्तचंदन ददंर आदिना थापां अने चन्दन कलशो विगरे हतां, तेनो प्रति द्वार भाग चन्दन घटो अने सुरचित तोरणों वालों हतो, तथा ते भोंयथी ऊंचे सुधी बांधेली पहोली गोलाकार लटकती मालाओनासमूहो पंचवर्णी सारां सुगन्धवालां पुष्पोनां पुंजो अने पूजननी सामग्रियो युक्त हतुं तथा कालो अगर सारुंकुन्दरुक्कने तगर ना धूपनथीमघ मघता-महेकता-गन्धना प्रसर थी अभिराम गन्धवाला पदार्थों ना योगे सुगंधि तथा गन्धना पिंड जेवुं हतुं। वली त्यां नटो नाचनारा, बजाणिया, मल्लो, मौष्टिको, मुठीवड़े ताड़नारा, विद्रूषको, कूदनारा, कथको, लसको रासलेनारा अथवा भांडो आइक्ख-आख्या-यिकाओ कहनारा, लंख-वहिबंचा, मंख-चित्रपट देखाड़ी मांगनारा, तूणवाद्यवाला तुंबडानीवीणावाला, भोगियो अने भट्टारको विगरे भराता, ते चैत्य ते देशना अने बीजा देशोना जनोंमा स्थातिपात्र हतुं, तेमज आहुति आपनारा घणालोकोनुं आहुति तथा प्राहुति नुं स्थान हतुं, तथा तेओनी अर्चा स्तुति नमस्कार पूजा सत्कार अने सन्मान ने योग्य हतुं कल्याण तथा मंगल ने करनारुं दिव्यप्रभाव वालुं इष्टदेवनी प्रतिमायुक्त अने विनीत भावे पूजातुं। दिव्यता, सत्यता अने सत्य उपयावालुं साचा प्रभाव वालुं, स्थपाएलां प्रतिहार्य वालुं, हजारो योगोना भागोना प्राप्ति वालुं ते चैत्य हतुं अने तेने पूर्णभद्र चैत्य ने घणा लोको आवीने उपासता (उव० क० आ० पृ० ९—१४)।

में चैत्य शब्द का उल्लेख अवश्य है परन्तु उससे चितास्थान या उस पर के चबूतरे वगैरह के पास का यज्ञस्थान अथवा होमकुंड इस अर्थ की तो प्रतीत होती नहीं। वहां पर—“चैत्यमायतनं तुल्ये” इतना उल्लेख है, इसका महेश्वर और दीक्षित दोनों टीकाओं ने यज्ञस्थान

यह उल्लेख आपने (भगवती खं० २ पृ० २ में किया है। इस पर से पूर्णभद्र चैत्य क्या वस्तु है इसका निर्णय अच्छी तरह से हो जाता है। पाठक स्वयं देख लें कि इस उल्लेख में ऐसे कौन से शब्द हैं जिनका अर्थ चिता पर के स्मारक चिन्ह के पास का होमकुंड या यज्ञस्थान अर्थ होता है। हमारे ख्याल में तो इस उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि श्रमणभगवान् महावीर के समय में चम्पानगरी में, देश-विख्यात और अत्यन्त प्राचीन पूर्णभद्र चैत्य के नाम से प्रसिद्ध एक देव-मंदिर था, जिसकी सेवा पूजा और उपासना के लिये दूर २ से लोग आया करते थे, उसमें प्रतिष्ठित देवप्रतिमा का वहां की जनता पर अत्यन्त प्रभाव था। तथा उस मंदिरके इर्दगिर्द इतना विशाल स्थान था और दर्शनाभिलाषी लोग इतनी अधिक संख्या में एकत्रित होते थे कि वहां अनेक प्रकार के विद्योपजीवी लोगों की उदरपूर्ति भी हो जाती थी। इस प्रकार के देवमंदिरों—जैनसिद्धान्तानुसार यक्षमंदिरों १ की प्रतिष्ठा और पूजा का उस समय में कितना प्राबल्य था, यह भी इस उल्लेख से साबित होता है। उक्त उल्लेख में पूर्णभद्र चैत्य का जो वर्णन किया है उसमें चिता सम्बन्ध की कहीं गन्धभी नहीं आती और किसी भी जैन विद्वान् ने (मूलकार या टीकाकार ने) चिता सम्बन्ध का कहीं इशारा तक भी किया हो, ऐसा देखने में नहीं आता। फिर हम नहीं समझते कि हमारे मित्र ने औपपातिक सूत्र के इस वर्णन से चितास्थान पर के स्मारक चिन्ह के पास का होमकुंड या यज्ञस्थान अर्थ कैसे निकाल लिया है। पूज्य अभयदेवसूरि जी ने यहां पर उल्लेख किये गये चैत्य शब्द का जो भगवती १।१ में अर्थ किया है उससे तो चितास्थान की कल्पना को कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उन्होंने “चितेल्लेप्यादि चयनस्य भावः कर्म वेति चैत्यम्”

१ भगवती श० १० उ० ५ में पूर्णभद्रका यक्षेन्द्र के नाम से उल्लेख किया है—“पुण्णभद्रस्स जक्खिंदस्स” (पृ० २०२)

मात्र ही अर्थ किया है, (१) अर्थात् चैत्य और आयतन ये दोनों यज्ञ-स्थान के वाचक हैं। किसी ने चिता पर चिने हुए स्मारक चिन्ह के पास का यज्ञस्थान या होमकुंड अर्थ किया हो, ऐसा देखने में नहीं आया। वस्तुतः यज्ञपरक चैत्य शब्द का उक्त अर्थ किसी प्रकार से सम्भव भी नहीं हो सकता। अतः आप की कल्पना नितान्त असंगत प्रतीत होती है।

चिता और देवकुल

इसी प्रकार चैत्य का पांचवां का और छठा अर्थ आपने चितास्थान पर बनाई गई देवकुलिका और उसमें स्थापित चरणपादुका किया है। इसके अलावा प्रश्नव्याकरणसूत्र में जिन २ निमित्तों से पृथिवीकाय के जीवों की हिंसा होती है उन सब के नाम निर्देश में चैत्य और देव-कुल का भी उल्लेख किया है (२), उस पर आपने लिखा है कि—
“और साथ ही देवकुल का उल्लेख होने से इस जगह का चैत्य शब्द चिता पर चिने हुए स्मारक को ही सूचित करता है।” (पृष्ठ १५१)

इस व्युत्पत्ति के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि चयनार्थक चिति से ही चैत्य शब्द की निष्पत्ति यहां पर अभिप्रेत है। तात्पर्य कि चिति का “लेप्पादि चयन” यह विवरण करके उन्होंने यहां पर चिता सम्बन्ध के लिये कोई अवकाश ही नहीं छोड़ा। इस लिये औपपातिक सूत्र की टीका के आधार पर जो कल्पना हमारे मित्रने की है उसे हम अगर मिथ्या या प्रमाणविधुर कह दें तो कोई बुराई नहीं है। हम अपने पाठकों से औपपातिक सूत्र की टीका को देखने का बलपूर्वक अनुरोध करते हैं।

(१) चैत्यं आयतनं द्वे यज्ञस्थानभेदस्य (महेश्वर) द्वे यज्ञस्थानस्य ।
(दीक्षित) ।

(२) “भवणघर सरण लेण आवण चेतिय देवकुल चित्तसभा पवा आयतण वसह भूमीघर मंडबाणय कए”—(समिति पृ० ९३)

“चैत्यानि प्रतिभाः, देवकुलं सशिखरदेवप्रसादाः” (इति अभयदेवपुराणाः)

समीक्षा—

दैवकुल शब्द देवालय-देवमन्दिर का वाचक है, हारावली-कोष में उसका यही अर्थ किया है। (१) एवं वैदिक साहित्य जैनागम और बौद्धग्रन्थों में देवकुल का देवालय देवमन्दिर अर्थ में ही व्यवहार किया गया है। किसी के चिंतास्थान पर देवकुलिका के आकार का स्मारक चिन्ह बनता या बनाया जाता होगा और उसका चैत्य अर्थात् समाधि मन्दिर के नाम से व्यवहार भी किया जाता हो इससे हमें इनकार नहीं, परन्तु देवकुल शब्द चिंतास्थान पर बने हुए आकार विशेष में ही चैत्य के नाम से व्यवहृत होता है, उससे अतिरिक्त स्थान पर के देवालय-देवमन्दिर में उसका व्यवहार नहीं होता, ऐसा उल्लेख या इस प्रकार के भाव का सूचक उल्लेख वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों के ही साहित्य में हमें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। जहां तक हम जानते हैं, कोई विशिष्ट ऐतिहासिक प्रमाण भी इस विषय का उपलब्ध नहीं हुआ।

१— वैदिक साहित्य में देवकुल-विषयक प्राचीन उल्लेख सुबन्धु की वासवदत्ता (२) और भासकृत प्रतिमा नाटक (३) में

(१) “स्यात्प्रासादो देवकुलं तत्तु चैत्यं विना मुखम्” श्लो० ९८।

टी०—देवप्रासादस्य, यज्ञस्थानभेदस्य।

(२) अदितिजठरमिवानेकदेवकुलाध्यवसितम्।

अर्थात्—पाटलीपुत्र अदिति के पेट की तरह अनेक देवकुलों से परिपूरित है। यहां देवकुलमें देवताओं के परिवार और देवमन्दिरका श्लेष है। ना० पु० १।१।
पृ० १०१।

(३) अथ कस्मिन् प्रदेशे विश्रमिष्ये। भवतु दृष्टम्। एतस्मिन् वृक्षान्तरा-
विष्कृते देवकुले मुहुतं विश्रमिष्ये। तदुभयं भविष्यति दैवतपूजा विश्रमश्च।”
(देवकुले) देवमन्दिर। व्याख्या। भरत कहता है—कहां ठहरें? अच्छा यह वृक्षों

है। वहां उसका व्यवहार प्रतिमागृह में किया है, परन्तु उसका वास्तविक और प्राचीन अर्थ तो देवालय-देवमन्दिर ही है अर्थात् जिसमें वैदिक परम्परा के उपास्य देवों ब्रह्मा, शिव विष्णु और स्कन्द आदि की प्रतिमायें हों ऐसे देवालय-देवमन्दिर को देवकुल के नामसे व्यवहृत किया जाता है। यह बात भरत के—“तदुभयं भविष्यति दैवतपजा विश्रमश्च” इत्यादि कथन से विस्पष्ट हो जाती है। सारांश कि देवकुल का अर्थ चाहे प्रतिमागृह हो अथवा देवालय, दोनों में ही चिता का कोई सम्बन्ध नहीं है। भास के प्रतिमा नाटक से देवकुल शब्द का जो अर्थ सूचित होता है उसको देखते हुए कोई भी निष्पक्ष विद्वान् उसे चितास्थान पर का स्मारक कहने या मानने का आग्रह नहीं कर सकता। इसके सिवा महाकवि भास की प्रशंसा में श्रीहर्षचरित के प्रारम्भ में बाणभट्ट ने एक श्लोक लिखा है जिस में देवकुल शब्द का प्रयोग किया है, उस पर से भी देवकुल का चिता-सम्पर्क से शून्य देवालय-देवमन्दिर अर्थ ही सुनिश्चित होता है। (१) प्रतिमा नाटक

के मध्य में जो देवकुल-देवमन्दिर है वहां विश्राम करेंगे, वहां पर देवता का पूजन और विश्राम ये दोनों ही काम सिद्ध हो जावेंगे।” भास का समय ई० पू० ४०० वर्ष से इधर का नहीं है। कुछ विद्वान् उसे ई० पू० पहली शताब्दी का मानते हैं, परन्तु हमारे ख्याल में पहला मत अधिक प्रामाणिक है। आगे चलकर हम इस पर भी विचार करेंगे।

(१) हर्षचरित का वह श्लोक और उसका आशय निम्नलिखित है—

“सूत्रधारकृतारम्भैः, नाटकैर्बहुभूमिकैः ।

सप्ततैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

भावार्थ—जैसे कोई धर्मात्मा पुरुष देवकुल अर्थात् देवालय बना कर यश को प्राप्त करता है, ठीक उसी प्रकार नाटकों के निर्माणसे भासने यशोलाभ किया यहां पर देवकुलों के साथ भासकृत नाटकों का उपमान उपमेयभाव दिखलाया है और ‘सूत्रधारकृतारम्भैः बहुभूमिकैः तथा सप्ततैः’ ये तीनों ‘देवकुलैः और नाटकैः’

के तीसरे अंक में देवकुल-विषयक भरत की उक्ति और देवकुल में प्रवेश करते समय देवकुलिक-देवकुल के पुजारी के साथ उनका जो सम्भाषण हुआ है, उस पर से ज्ञात होता है कि भास के समयमें देवकुल शब्द देवमन्दिरों के अतिरिक्त प्रतिमागृहों में भी व्यवहृत होता था। इन प्रतिमागृहों में स्वर्ण सिंघारे हुए प्रख्यात राजाओं की जीवित के समान मूर्तियाँ बनाकर स्थापित की जाती थीं। एक राज-वंश का एक ही प्रतिमागृह अर्थात् देवकुल होता था, जिस में स्वर्गीय राजाओं की मूर्तियाँ वंशक्रम के अनुसार रखी होती थीं। ये देवकुल या प्रतिमागृह नगर के बाहर वृक्षों से घिरे हुए स्थान में होते थे और देवमंदिरों से इनमें इतना फर्क होता था कि उनकी तरह-देवमंदिरों की तरह इनमें ध्वजा पताका आदि कोई बाहरी चिन्ह नहीं होता था (१) परन्तु इनका चितास्थान से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसके सिवा हमें यह स्वीकार करने से भी इनकार नहीं कि किसी सती साध्वी या

इन दोनों के विशेषण हैं यथा देवकुलोंका आरम्भ सूत्रधार राज-मिस्त्री करते हैं। नाटकों का आरम्भ भी नान्दी के अन्त में सूत्रधार करता है (नान्द्यन्ते सूत्रधारः) देवमन्दिर अनेक भूमिका खंडों वाले होते हैं और भासकृत नाटकों में भी अनेक भूमिकायें-पार्ट हैं। एवं जैसे देवमन्दिरों में ध्वजायें होती हैं उसी भान्ति नाटकों में भी पताकायें —नाटक के अंगविशेष होती हैं। इत्यादि —इससे हर्षचरितका देवकुल चितास्थान पर का स्मारक सिद्ध नहीं होता, किन्तु उपासनीय देवप्रतिमा युक्त मंदिर ही प्रमाणित होता है।

(१) “कस्य नु खलु दैवतस्य स्थानं भविष्यति ? नेह किञ्चित् प्रहरणं—ध्वजो वा बहिश्चिन्हं दृश्यते भवतु प्रविश्य ज्ञास्ये।” इत्यादि (प्रतिमानाटक २ अंक) ।

भरत कहता है—यह किस देवता का स्थान होगा क्योंकि उसकी पहचान के लिये ध्वजा आदि बाह्य चिन्ह होते हैं वे इसमें नहीं हैं। अच्छा ! अन्दर जाकर इसका निश्चय कहूँगा ।

वीर पुरुषकी चितापर निर्माण किये गये समाधि, स्तूप, छतरी वगैरह में भी देवकुल या देवकुलिका शब्द का व्यवहार देखा जाता है। अर्थात्-सतियों या वीर पुरुषोंके इन चितास्थानीय आकार विशेषों को भी देवकुल या देवकुलिका कहने की प्रथा प्रचलित थी और है, एवं चैत्य या मृतक चैत्य के नाम से भी ये सम्बोधित किये जाते हैं। परन्तु ये सब देवकुल के प्रधान अर्थ नहीं, उसका प्रधान और प्रचीनतम अर्थ तो देवमन्दिर ही है जो कि चिता सम्पर्क से बिल्कुल अछूता है (१) तथा कतिपय शिलालेखों से भी देवकुल का-देवालय-देवमन्दिर अर्थ ही प्रमाणित होता है। यथा “श्री अरण्यवासिण्या देवकुल चक्रे” (२) इत्यादि अर्थात् जेन्तक महत्तर ने श्री अरण्यवासिनी देवी का देवकुल बनाया। इस प्रकार वैदिकसाहित्य में उल्लेख किया गया देवकुल शब्द अपने प्रधान अर्थ देवमन्दिर का ही सूचक है, चितास्थान पर बनाये गये देवकुलिका के आकार वाले मृतक चैत्य का नहीं, यह बात निर्विवाद सिद्ध हो जाती है।

(१) इन देउलियों तथा छतरियों एवं शासवर्णित इक्ष्वाकुओं के शैशुनाक और कुशाणों के देवकुलों में यह भेद है कि देउली या छतरी सती या राजा के दाहस्थान पर बनती तथा एक ही की स्मारक होती है, देवकुल श्मशान में नहीं होते। उनमें एक ही भवनमें एक वंशके कई राजाओंकी मूर्तियां वंशक्रमके अनुसार रक्खी जाती थीं, छतरियों के शिल्प और निवेश में मुसलमानी राजों और मकबूरों का बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, देवकुल की चाल प्राचीन थी। तं० चंद्रधर शर्मा गुलेरी (नागरी प्र० पृ० भा० १।१ पृ० १०६)।

इसके लिये देखो नागरी प्रचारिणी पत्रिका १।१ पृ० ३११ से ३२४ तक में दिया गया गुहल शीलादित्यका शिलालेख और उसका विवरण। यह लेख वि० सम्वत् ७०३ का है।

“एक विशिष्ट” शिलालेख

देवकुल शब्द की अर्थविस्पष्टता के लिये निम्नलिखित शिलालेख सबसे अधिक उपयोगी मालूम होता है—

- (१) नमो अर्हतो बधमानस दंदाये गणिका
- (२) ये लेण शोभिकाये वासये धितु शमणस निकाये
- (३) नादाये गणिकाये वासये अरहता देवकुले
- (४) आयगसमा शिलापटा प्रतिस्थापितं निगमा
- (५) ना अरहतायतने सह मातरे भगिनिये धितरे पुत्रेण
- (६) सविन च परिजनेन अरहत पुजाये

संस्कृत-भाषान्तर—

- (१) नमोऽर्हते वर्द्धमानाय दंडायागणिका
- (२) या लयनशोभयित्र्या दुहितुः श्रमणस्य निकाये
- (३) नादाया गणिकाया वासाय अर्हतो देवकुले
- (४) आर्यकसभा प्रपा शिलापट्टः प्रतिष्ठापितः नैगमा
- (५) नां अर्हतायतने सहमात्रा भगिन्या दुहित्रा पुत्रेण
- (६) सर्वेण च परिजनेन अर्हत पूजायै

भावार्थ—अर्हन्तवर्द्धमान को नमस्कार हो, दंडागणिका की पुत्री नंदागणिका ने व्यापारियों के आर्हत देवालय में श्रमणसमुदाय के निवासार्थ, और अरिहंत की पूजा के निमित्त एक छोटा आर्हत देवालय, आचार्यों के लिये बैठकें, एक हौज (पानी का) तथा एक शिलापट्ट (देवालयनिर्माणजन्यपुण्यको) माता, बहन, पुत्री, पुत्र और अन्य सगा सम्बन्धियों के साथ (भोगने के लिये) बनवाया ।

“मूल में ‘आयतन’ शब्द है जिसका अर्थ मोटा देवालय

होता है, गणिका का देवालय मीट्टे देवालय — बड़े पैसे बनाया गया होगा और वह छोटा होगा।—

(मुनि श्री जिनविजय सम्पादित प्राचीनलेख सं० प्रथम भा० पृ० १० । १९ से उद्धृत)

इस अभिलेख में प्रयुक्त हुए “अरहता देवकुले—अर्हतो देवकुल” इस वाक्य से देवकुल शब्द का देवालय अर्थ ही स्पष्टतया भासमान होता है, न कि किसी की चिता पर का स्मारक चिन्ह या किसी मृतक देह की राख वगैरह हमारे ख्यालमें देवकुल के चिता-सम्पर्क से रहित विशुद्ध देवालय या देव मंदिर अर्थ को स्फुट करने के लिये इससे बढ़कर अन्य कोई बलिष्ठ प्रमाण नहीं हो सकता । अतः देवकुल का चिता से कोई नियत सम्बन्ध नहीं है । यह अभिलेख मथुरा से प्राप्त होने वाले मूर्तिवाद सम्बन्धि शिलालेखों में से एक है इसका समय ई० पू० पहली शताब्दी आंका जाता है+ । आशा है कि इस अभिलेख से हमारे मित्र को देवकुल के अर्थ के विषय में कुछ न कुछ सन्तोष अवश्य प्राप्त होगा ।

२—जैनागमों में भी अनेक जगह पर देवकुल शब्द का उल्लेख है, परन्तु वहां पर भी वह देवमन्दिर अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है । कहीं पर चितास्थानीय समाधि स्तूप अर्थ में भी उसका प्रयोग किया है ऐसा हमारे देखने में नहीं आया । राजप्रश्नीयसूत्र में प्रयुक्त हुए देवकुल का देवमन्दिर अर्थ में स्पष्ट व्यवहार दिखाई देता है और उस स्थान पर तो हमारे विद्वान् मित्र ने भी उसका देवमन्दिर ही

+ इस अभिलेख के सम्बन्ध में अधिक जानने की जिज्ञासरखने वाले श्रीजिनविजय जी सम्पादित प्राचीनजैनलेखसंग्रह प्रथम भाग पृ० ९ से १२ तक का अवलोकन करें ।

अर्थ किया है । (१) अतः प्रश्नव्याकरण में उल्लिखित चैत्य और देवकुल का पूज्य अभयदेवसूरि जी ने जो प्रतिमा तथा शिखर बन्ध मन्दिर अर्थ किया है वह सर्वथा प्रकरणसंगत और आगमसम्मत है (चैत्यानि—प्रतिमा देवकुलानि—सशिखरदेवप्रासादाः) समि० पृ० १२ ॥ इसी प्रकार आचारांग और ज्ञाताधर्मकथांग आदि अंग-सूत्रों में प्रयुक्त देवकुल (२) शब्द भी अपने इसी प्रधान देवमन्दिर अर्थ का सूचक है ।

३—बौद्धग्रन्थों में भी देवकुल शब्द का पर्याप्त उल्लेख है, वहां पर भी उसका देवमन्दिर अर्थ में ही व्यवहार हुआ देखने में आता है । ललितविस्तरा के निम्नलिखित उद्धरणों से देवकुल शब्द का देवमन्दिर अर्थात् उपास्य देवों की प्रतिमाओं से युक्त प्रासाद अर्थ के सिवा और कोई भी अर्थ सम्भव नहीं हो सकता ।

(क) तत्खलु देव ! जानीथाः देवकुले कुमारः उपनीयतामिति ।

(ख) अलंक्रियतां कमारो देवकुलमुपनेष्यते ।

(१) राजप्रश्नीयसूत्र का वह मूल पाठ और हमारे मित्र पं० बैचरदास जी का किया हुआ उसका गुजराती भाषान्तर नीचे उद्धृत किया जाता है । “जत्तिर्ण तुमं पएसि । ण्हायं कयबलिकम्मं उल्लपड़साङ्गं भिगारक डुच्छुय हत्थगमं देवकुल मणुपविसमाण केइयपुरिसेबच्चघरंसिठिच्चा एवं वदेज्जाएहतावसामी । (पृ० ३११)

भाषांतर—हे पएसि ! तू एम समझे छे के देवमंदिरमां जवामाटे तू न्हायेलो छे, भीना कपड़ां पहरेलां छे तारा हाथमां कलश अने धूप नी कड़छी छे, अने देव-मंदिरमां पेसवाने पगलांज उपाड़े छे, एवामां पाखाने बैठेला कोई पुरुष तनें एम कहे—हे स्वामी तमे अहीं पाखानामां अत्रो ? इत्यादि (पृ० १२०) इस उल्लेख से देवकुल के प्रधान अर्थ का (देवमन्दिर का) जो स्वरूप बोधित होता है उसमें चिता-स्थानीय स्मारक की कल्पना को कोई स्थान भी है कि नहीं इसका निर्णय पाठक स्वयं करें ?

(२) “आयतणाणि वा देवकुलाणि वा” इत्यादि ।

(ग) इति हि राजा शुद्धोदनो महता राजव्यूहेन+++कुमारं गृहीत्वा देवकुलं प्रवेशयतिस्म । समनन्तरं प्रतिष्ठापितश्च बोधिसत्त्वेन दक्षिणचरणः क्रमतलस्तस्मिन् देवकुले अथ ता अचैतन्या अपि देवप्रतिमाः (तद्यथा शिव स्कन्द नारायण कुबेर चंद्र सूर्य वैश्रवण शक्र ब्रह्म लोकपाल प्रभृतयः प्रतिमाः) सर्वाः स्वेभ्यः स्वेभ्यः स्थानेभ्यो व्युत्थाय बोधिसत्त्वस्य क्रमतलयोनिपतन्ति ॥ पृ० १३७

इसका तात्पर्य यह है कि महाराजा शुद्धोदन ने कुमार बोधिसत्त्व को वस्त्रों और आभूषणों से सुसज्जित करके बड़े आडम्बर के साथ उसका देवकुल में प्रवेश कराया । जिस समय कुमार बोधिसत्त्व (बुद्ध) ने उस देवकुल-देवमन्दिर के भीतर अपना दक्षिण चरण रखवा उस समय मंदिर में प्रतिष्ठित शिव, स्कन्द, नारायण और कुबेर आदि लोकपालों की अचेतन प्रतिमायें भी अपने २ स्थानों से उठकर कुमार बोधिसत्त्व के चरणों में पड़ने लगीं ।

इस प्रकार वैदिक, जैन और बौद्ध इन तीनों सम्प्रदायों के प्रामाणिक साहित्य में देवकुल शब्द का प्रधान और प्राचीन देवमंदिर अर्थ ही प्रमाणित होता है, श्मशानकी मढ़ी या चबूतरा नहीं । चरणपादुकाओं की स्थापना प्रायः समाधि-मन्दिरों में स्वर्गीय व्यक्ति के स्मृति-चिन्ह रूप में स्थापित की जाती हैं, परन्तु समाधि-मन्दिर, चितास्थान पर ही हों ऐसा कोई नियम नहीं है । चितास्थान से अतिरिक्त स्थान पर की चरणपादुका युक्त देवकुलिकायें भी चैत्य की वाच्य हैं और हो सकती हैं अतः चैत्य शब्द के इन वाच्यार्थों में चिता सम्बन्ध की कल्पना का आग्रह करना हमारे ख्याल में उचित नहीं है । इसी प्रकार “चिता पर का देवालय या विशालकाय मूर्ति” यह चैत्य का सातवां अर्थ

भी प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता। जिनालय या जिनप्रतिमा, जिनदेव तीर्थंकर की चिता पर प्रतिष्ठित होने से चैत्य कहलाते हैं ऐसा उल्लेख न तो आगमों में है और ना ही उसकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका आदि में है। जैनआगमों और उनकी निर्युक्ति तथा भाष्यादि में तो चैत्य शब्द का जिनमन्दिर और जिन प्रतिमा में ही व्यवहार हुआ देखा जाता है, वे मन्दिर और प्रतिमायें चितास्थान से बिल्कुल पृथक् निश्चित होती हैं, इस लिये चितास्थान पर के मन्दिर या मूर्ति में ही चैत्य शब्द का प्रयोग करना चाहिये यह कोई प्रामाणिक कल्पना नहीं है।

चैत्य की अन्वर्थता

हमारे मित्र चैत्यशब्द को केवल अन्वर्थ अर्थात् यौगिक मानते हैं जब कि हमारे विचार में वह योगरूढ़ है। आप कहते हैं कि जब तक उसका चिता या चितास्थान से सम्बन्ध बना रहता है तब तक तो वह अन्वर्थ रहता है, परन्तु चिता सम्बन्ध को छोड़ते ही रूढ़ हो जाता है, अतः चितास्थान पर के मन्दिर या मूर्ति तो चैत्य के यौगिक अर्थ हैं और चिता से पृथक् स्थान के मन्दिर, मूर्ति उसके रूढ़ अर्थ हैं (१)।

हमारे विचार से तो चितास्थान पर का स्तूप, छतरी वगैरह और चितास्थान से अलग स्थान पर निर्माण किया गया देवालय एवं अश्वत्थादि प्रधान वृक्ष इत्यादि सब ही चैत्य के वाच्यार्थ हैं इन अर्थों में उसकी-चैत्य शब्द की प्रवृत्ति उसकी योगरूढ़ता को ही

(१) अभी तक चैत्य शब्द अन्वर्थ रहा, परन्तु जब चिता दाह के सिवा स्थानान्तरों में देवालय चिने गये या उनमें-मूर्तियां स्थापित की गईं तब वह रूढ़ हुआ। डित्थके समान संज्ञा शब्द बन गया और आरम्भ में मात्र सादृश्य एवं आज-कल केवल लौकिक संकेत से चैत्य का अर्थ मन्दिर या मूर्ति हो गया है। (पृ० १६२)

आमारी है। वह अपने यौगिक अर्थ-विशिष्ट चयन को लेकर इनमें विभिन्नरूप से रूढ़ हो रहा है। अतः चिता से अतिरिक्त स्थान पर के देवाल्यों में भी उसकी अन्वर्थता लुप्त नहीं होती, किन्तु विद्यमान ही रहती है।

चैत्य के प्रचलित अर्थ का समय

हमारे विद्वान् मित्र ने चैत्य के सुप्रसिद्ध मन्दिर और मूर्ति अर्थ को सर्वथा आधुनिक बतलाने के साथ २ उक्त अर्थ की आधुनिकता के समय का भी कुछ संकेत दिया है। आप लिखते हैं कि—

“जहां तक मैं समझता हूँ वहां तक एक २ अर्थ का सर्वव्यापी प्रचार होते हुए और एक २ अर्थ का सर्वव्यापी विनाश होते हुए कम से कम सौ सौ या दो दो सौ वर्ष तो अवश्य बीते होंगे। चैत्यशब्द का प्रचलित देवालय या मूर्ति अर्थ आठवां और नवमां होने से वह बिल्कुल अन्तिम—आधुनिक है, यह बात हम ऊपर बिये हुए प्रमाणों से अच्छी तरह समझ सके हैं।”

इत्यादि पृ० १६४।

इस उल्लेख का तात्पर्य हमारी समझ में तो यह आया है कि चैत्य के प्रारम्भिक अर्थ (चिता पर की राख) से लगभग १४ सौ वर्ष के बाद चैत्य का प्रचलित देवालय या मूर्ति अर्थ में व्यवहार होने लगा। इससे प्रथम तो वह-चैत्य शब्द चितास्थान पर बने हुए आकार विशेष में ही व्यवहृत होता रहा, परन्तु प्रस्तुत उल्लेख में चैत्य के प्रारम्भिक अर्थ के समय का जिक्र नहीं किया। अगर उसका भी जिक्र कर दिया होता तो चैत्य शब्द के इन प्राचीन और आधुनिक दोनों अर्थों की यथार्थता का निर्णय ऐतिहासिक ढंग पर ही अच्छी तरह से हो जाता, हमारे मित्र जिस अर्थ को सर्वथा आधुनिक और बहुत ही पीछे का बतला रहे हैं। हमारी दृष्टि में वह आपके माने हुए

प्रारम्भिक अर्थ जितना ही प्राचीन है। इस सम्बन्ध में कुछ उल्लेख तो हम ऊपर कर आये हैं और बाकी आगे चलकर करेंगे।

आपने चैत्य शब्द का अमुक अर्थ प्रारम्भिक और अमुक आधुनिक इस प्रकार, विकासक्रमानुरोधिनी ऐतिहासिक कल्पना के विषय में जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उनमें से एक भी ऐसा नहीं कि जिस पर विश्वास किया जाय। हम ऊपर अनेक सबल प्रमाणों से इस बात का अच्छी तरह से प्रतिवाद कर आये हैं कि केवल व्युत्पत्ति के आधार पर किया जाने वाला शब्दार्थ तब तक प्रामाणिक नहीं माना जा सकता जब तक कि उसके अनुसार उसका कहीं पर व्यवहार न किया गया हो। चैत्य का प्रारम्भिक अर्थ "चिता पर की राख था" इसके लिये प्रस्तुत पुस्तक में न तो कोई शास्त्रीय उल्लेख ही उद्धृत किया गया और ना ही ऐतिहासिक उल्लेख ही उपस्थित किया गया है, केवल वर्तमान समय के एक आधुनिक व्यक्ति (अपरिपक्व ज्ञान रखने वाले) के कथन मात्र से प्राचीन ऋषियों और प्राभाविक आचार्यों के उल्लेखों की अवहेलना करने के लिये कटिबद्ध होने का साहस हमारे मित्र पंडित बेचरदास जी तो भले कर लें, परन्तु हमारे जैसे शास्त्रों और आगमों के अनन्य पुजारी के लिये वह अशक्य ही है। पंडित जी के कथनानुसार चैत्य शब्द का प्रचलित देवालय या मूर्ति अर्थ में व्यवहार श्रीहरिभद्रसूरि जी के समय में या उनसे कुछ पहले प्रचलित हुआ है और श्रीहरिभद्रसूरि जी का समय आपके लेखानुसार विक्रम की आठवीं शताब्दी है। इससे वे-हरिभद्रसूरि जी आज से १२०० वर्ष पहले के सिद्ध होते हैं, इसमें आपके विचारानुसार १४०० वर्ष और मिला देने से चैत्य शब्द के प्रारम्भिक अर्थ का समय आज से लगभग २६०० वर्ष पूर्व का अनुमान किया जा सकता है। अस्तु, कुछ भी हो हमें तो इस प्रकार की कल्पना में कोई ठोस आधार नजर नहीं

आता । इस कल्पना के आधार पर चैत्य शब्द के देवालय या मूर्ति अथ
 को आधुनिक सिद्ध करने का जो प्रयत्न किया गया है उसको ठीक
 मान लेने पर अधिक से अधिक वह विक्रम की छठी शताब्दी से पूर्व
 का तो नहीं होना चाहिये, अर्थात् आपके कथन के मुताबिक चैत्य शब्द
 के प्रचलित देवालय या मूर्ति अर्थ का समय विक्रम की छठी शताब्दी
 के लगभग का सिद्ध होता है । परन्तु जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर
 आये हैं (आगे भी करेंगे) विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी में रचे
 गये तथा विक्रम पूर्व दूसरी तीसरी शताब्दी में रचे गये वैदिक जैन
 और बौद्ध साहित्य में प्रचलित देवालय और मूर्ति अर्थ में चैत्य शब्द
 का स्पष्ट व्यवहार देखने में आता है । अगर विक्रम पूर्व तीसरी
 शताब्दी के साहित्य में उपलब्ध होने वाला मन्दिर या मूर्ति अर्थ भी
 हमारे मित्र की दृष्टि में अन्तिम अर्थात् आधुनिक ही है, तब तो उन्हें
 विक्रम पूर्व १७वीं शताब्दी के वैदिक और जैन साहित्य में चैत्य शब्द
 के प्रारम्भिक अर्थ की खोज करनी होगी, क्योंकि यही समय उनके
 प्रारम्भिक अर्थ का निर्धारित होता है । हमने तो वैदिक और जैन
 सम्प्रदाय के प्राचीन से प्राचीन साहित्य में (जहां कि चैत्य शब्द का
 उल्लेख किया है) चैत्य का प्रायः मन्दिर और मूर्ति अर्थ ही देखा है ।
 अगर हमारे उल्लेख से प्राचीन उल्लेख में चैत्य शब्द का चिता की
 राख या चिता पर का चवूतरा वगैरह अर्थ हमारे मित्र हमें बतला
 दें तो हम उसे मुक्तकंठ से स्वीकार करेंगे । चैत्य शब्द के मन्दिर और
 मूर्ति के अर्थ को उक्त कल्पना के आधार पर आधुनिक कहने में
 सिवाय साहस के हमें तो और कोई प्रमाण दिखाई देता नहीं, अतः
 उक्त कल्पना के आधार पर चैत्य शब्द के मन्दिर या मूर्ति अर्थ का जो
 समय आँका गया है वह प्रमाणविधुर अतएव उपेक्षणीय है ।

टीकाकारों पर अनुचित आक्षेप

इसके सिवा हमारे मित्र पंडित बचरदासजी ने “चैत्य शब्द के चिन्तास्थान पर चिनाये गये स्मारक चिन्ह” अर्थ को ही सर्वप्रधान और सर्वप्राचीन ठहराने के आग्रह से उसका—चैत्य का मन्दिर या मूर्ति अर्थ करने वाले जैनाचार्यों के विषय में जो कुछ लिखा है अब हम उसकी, ओर भी पाठकों का ध्यान खेंचते हैं। आप मूंह से भले ही न कहें या और कुछ कहें, परन्तु आप की उद्भट लेखनी से जो कुछ ध्वनित होता है वह जैनपरम्परा के सम्भावित आचार्यों के अपमानार्थ पर्याप्त है। गत लेख में पाठक देख चुके हैं कि चैत्य का मन्दिर या मूर्ति अर्थ करने वाले जैनाचार्यों अर्थात् श्रीहरिभद्रसूरि, अभय-देवसूरि,, मलयगिरि और हेमचन्द्राचार्य प्रभृति जैन विद्वानों को आपने विषम भूल करने वाले बतलाया है और अब उसे पुष्ट करने के लिये आप इस प्रकार लिखते हैं—

(१) “परन्तु इस विषय में मुझे इतना ही कहना है कि प्रचलित देवालय या मूर्ति यह कोई चैत्य शब्द का प्रधान अर्थ मूल का प्राचीन अर्थ नहीं है, इतना ही नहीं बल्कि ये दोनों अर्थ बिल्कुल पीछे के और रूढ़ि से किये हुए हैं।

(२) “सूत्रों की टीका करने वालों ने भी सूत्रों में आये हुए चैत्य-शब्द की व्युत्पत्ति (चित्तेर्भावः कर्म वा) तो यथार्थ बतलाई है परन्तु जहां पर “अरिहंतचेइयाइ” या केवल “चेइयाइ” आता है वहां उन्होंने उसका व्युत्पत्तिजन्य वास्तविक और प्रधान अर्थ न करके मात्र अपने समय की लोकरूढ़ि का अनुसरण किया हो ऐसा मालूम होता है। ऐसा होने से चैत्य के आठवें एवं नवमें अर्थ को बतला कर ही उन्होंने रास्ता पकड़ा है। उन्होंने चैत्य का अर्थ करते हुए बहुत सी जगह बतलाया है कि—“संज्ञाशब्दत्वात् देवबिम्बं, तवाधयत्वात् तद् गुहमपि चैत्यम्” (भगवतीसू० अजीम० पृ० ५ शब्दपंसेणीपुत्र अजीम० पृ० ४)

अर्थात् चैत्य शब्द संज्ञाशब्द है इससे उसका अर्थ व्युत्पत्ति के अनुसार न करके रूढ़ि के अनुसार लेना चाहिये और वह देवबिम्ब या देव-गृह है। टीकाकारों के इस उल्लेख से पाठक समझ सकते हैं कि उनका किया हुआ अर्थ परंपरागत उनके समय का रूढ़ अर्थ है। इस तरह अर्थ करने का प्रकार भी एक प्रकार का साहित्य-विकार ही है और वर्तमान समय में प्रचलित मूर्तिवाद के नाम पर चढ़ा हुआ कलह भी इस विकार ही का परिणाम हो यह स्पष्ट मालूम होता है।”

(३) “मेरी मान्यता है कि किसी भी टीकाकार को टीका करते समय मूल के आशय को मूल के समय के वातावरण को ही ध्यान में लेकर स्पष्ट करना चाहिये। इस प्रकार की टीका करने वाला ही सच्चा टीकाकार हो सकता है। परन्तु मूल का अर्थ स्पष्ट करते वक्त मौलिक समय के वातावरण का ख्याल न करके यदि परिस्थिति का ही अनुसरण किया जाय तो वह मूल कि टीका नहीं; किन्तु मूल का मूसल हो जाता है। में जानता हूँ कि यदि टीकाकार महाशयों ने मूल का अर्थ मूल के समयानुसार ही किया होता तो जैनशासन में जो आजकल मतमतान्तर देख पड़ते हैं वे बहुत कम प्रमाण में होते और धर्म के नाम से ऐसा अमावस्या का अन्धकार कम व्याप्त होता।” इत्यादि (पृ० १६६-६७-६८)

समीक्षा—

१—प्रचलित देवालय या मूर्ति चैत्य शब्द के प्रधान या मूल प्राचीन अर्थ क्यों नहीं? क्या इनमें (देवालय और मूर्ति में) विशिष्ट चयन-रचना विशेष का सम्बन्ध नहीं है? अथवा यूँ कहिये कि क्या, चैत्य के मूल-प्रधान अर्थ चयन सम्बन्ध का इनमें अभाव है? हम पहले अनेक प्रबल प्रमाणों के द्वारा यह अच्छी तरह से सिद्ध कर आये हैं कि चैत्य-का मूल उत्पत्तिस्थान चयन है, चिता नहीं। अतः उसे चिता सम्बन्ध से बलात् नियोजित करना और उसी को उसका मूल अर्थ मानने या मनवाने के लिये अधिक से अधिक व्याग्रह करना किसी प्रकार भी उचित नहीं समझा जा सकता। जब कि ~~वेद~~

शब्द के प्रधान व्युत्पत्तिलभ्य (चित्तेरिदं, चित्त्यस्येदं, चित्तेल्लेप्यादि चयनस्य भावः कर्म वा) चयन अर्थ का प्रचलित देवालय या मूर्ति में समन्वय होता हो। जैनागमों में ऐसे भी अनेक स्थान हैं जहां पर चैत्य का चयन के सिवा दूसरा कोई अर्थ ही संभव नहीं हो सकता। आचारंगसूत्र का “चेइयाइ” (१) अपने इसी प्रधान अर्थ का सूचक है। इसके सिवा बृहत्कल्पसूत्र और उसके भाष्य में तो चैत्य का चयन अर्थ में व्यवहार करने के अलावा उसको चयन का समानार्थक भी कहा है (२)। इन उदाहरणों में चिता या उसकी समीपता आदि के लिये कोई स्थान नहीं, यह स्पष्ट है। ऐसी दशा में चैत्य के मौलिक अर्थ चयन सम्बन्ध को लेकर प्रचलित देवालय या देवमूर्ति को चैत्य का प्रधान अर्थ मानने में क्या आपत्ति आती है? अब रही उसकी प्राचीनता की बात, सो उसके विषय में तो हम सप्रमाण पहले लिख चुके हैं कि प्राचीन वैदिक, जैन और बौद्ध साहित्य में चैत्य का व्यवहार प्रायः मंदिर और मूर्ति अर्थ में ही किया है। पूर्व में जिन ग्रन्थों के उदाहरण हमने दिये हैं उनसे प्राचीन किसी ग्रन्थ में चैत्य शब्दका उल्लेख ही नहीं देखा जाता, और जिनमें उल्लेख है उनमें मंदिर और मूर्ति के सिवा चित्तास्थान की राख, या चबूतरा और कबर वगैरह अर्थ की सम्भावना भी नहीं होती। अतः हमारे विचार से तो देवालय या देवमूर्ति यह चैत्य का सबसे पीछे का आधुनिक एवं गौण अर्थ नहीं, किन्तु अत्यन्त प्राचीन और व्युत्पत्ति को अनुसरण करने वाला प्रधान अर्थ है। चयन सामान्य को लेकर वह मंदिर और मूर्तिरूप विशेष अर्थ में रूढ़ है, उसकी यह योगरूढ़ता नैसर्गिक है। कोई कृत्रिम साधन उसकी इस

(१) इसके लिये देखो पृष्ठ ५२-५५ का उल्लेख।

(२) “चेइयकडमेगट्टु” व्या०—चेतितं कृतं चैत्येकार्थं (पृ० १०१५)

नेसर्गिकता का व्याघात नहीं कर सकता, वह अनादि निधन है । इस दृष्टि से भी चैत्य के ये दोनों अर्थ (मंदिर और मूर्ति) आधुनिक बहुत पीछे के सिद्ध नहीं होते, अर्थात् इनकी प्राचीनता को कोई क्षति नहीं पहुंचती ।

२--पूज्य अभयदेवसूरि जी और आचार्य मलयगिरिजी ने चैत्य शब्द की जो व्युत्पत्ति (चितेल्लेप्यादि चयनस्य भावः कर्म वा) की है वह अगर यथार्थ (१) है (जैसा कि आप लिख रहे हैं) तो चैत्य के अर्थ में चिता सम्बन्ध की प्रधानता तो दरकिनारा, उसे तो वहां कोई अवकाश ही नहीं रहता । वहां पर तो चयन को ही प्रधान स्थान प्राप्त है, ऐसी दशा में या तो उक्त (जैनाचार्यों के द्वारा प्रस्तुत की गई) व्युत्पत्ति को अमंगत (गलत) कहना होगा, या चैत्यार्थ में चिता सम्बन्ध की प्रधानता का हठ छोड़ना होगा, इसके सिवा आपके लिये कोई मार्ग नहीं है । इसी प्रकार उनका-टीकाकार आचार्यों का किया हुआ “अरिहंतचेइयाइ” या केवल “चेइयाइ” का “तीर्थंकर प्रतिमा” अर्थ भी व्युत्पत्त्यनुसारि अथच सोलह आना आगससम्मत है ।

इसके विपरीत जहां तक हम समझते हैं—“चेइयाइ—अरिहंत-चेइयाइ” का “जिनकी वा तीर्थंकर की चिता पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह” अर्थ करके विज्ञ समाज में आप निस्सन्देह हंसी के पात्र बन रहे हैं । “अन्नउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं—अन्ययूथिक परिगृहीतानि अहंचैत्यानि” (उपासकदशा) और “तहिं चेइयाइं वंदइ—तत्र चैत्यनि वन्दते” (व्याख्याप्रज्ञप्ति) इत्यादि स्थानों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द के स्पष्टतया भासमान प्रतिमा अर्थ की अव-

(१) हमारे विचार से तो वह यथार्थ ही है और चैत्य का मन्दिर या मूर्ति अर्थ भी उसको अनुसार ही किया गया है ।

हेलना करके उसके स्थान में आगमविरुद्ध मनःकल्पित चिन्ता स्थानीय चबूतरा वगैरह अर्थ की कल्पना करने का प्रामादिक साहस आपके सिवा शायद और किसी जैन विद्वान् ने आज तक नहीं किया। टीकाकारों ने चैत्य शब्द की (चित्तेर्भावः कर्म वा) इस व्युत्पत्ति-में चिति को चितार्थक न मान कर चयनार्थक ही स्वीकार किया है। यह बात उनके—“चित्तेर्लोपादिचयनस्य” इस विवण से स्पष्ट हो जाती है। ऐसी दशा में उनके किये हुए चैत्यार्थ में उसकी व्युत्पत्तिजन्य प्रधान अर्थचयन का परित्याग नहीं होता, किन्तु इस व्युत्पत्तिरुभ्य प्रधान अर्थ के साथ वह मन्दिर और मूर्तिरूप विशेष अर्थ में अपने स्वभाव के अनुसार नियुक्त होता है। तथा उसकी—चैत्य की यह प्रवृत्ति आगममूलक होने से आधुनिक नहीं, बल्कि अत्यन्त प्राचीन है। विद्वान् टीकाकारों ने चैत्य के इस अर्थ में अपने समय की लोकरूढ़ि का अनुसरण नहीं किया, किन्तु उन्हें गुहपरम्परा से इसका आगमसम्मत जो अर्थ ज्ञात हुआ उसी को उन्होंने यहां पर व्यक्त किया है। इस लिये उनके इस अर्थ को उनके समय का या बहुत पीछे का मानना उचित नहीं है। अतः चैत्य शब्द के इस अर्थ को—देवालय या मूर्ति को चैत्य का आठवां एवं नौवां अर्थ बतला कर उसे सर्वथा अर्वाचीन और टीकाकारों के समय का सिद्ध करने के लिये हमारे मित्र ने चैत्य शब्द का जो प्रधान अर्थ (चिन्ता पर की भस्म) कल्पना किया है उसमें कुछ सार नजर नहीं आता। एवं टीकाकारों ने ‘रि हंत-चेइयाइ’ या केवल “चेइयाइ” की व्याख्या में जिस पद्धति का अनुसरण किया है उसे आगमसम्मत परम्परा का पूरा २ समर्थन प्राप्त है। इस लिये उन्होंने अपने समय की लोकरूढ़ि का अनुसरण करते हुए चैत्य के अंतिम अर्वाचीन आठवें नवमें अर्थ को बतला कर रास्ता

नहीं पकड़ा, बल्कि चैत्य के वास्तविक अर्थ को व्युत्पत्ति और प्रवृत्ति द्वारा स्फुट करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है ।

चैत्य शब्द की यौगिक व्युत्पत्ति (चित्तेल्लेप्यादिचयनस्य भावः कर्म वेति चैत्यम्) से सामान्यग्राही यौगिक अर्थचयन का भाव या कर्म-रचना विशेष मात्र ही अवगत होता है, अर्थात् चैत्य की उक्त व्युत्पत्ति उसके सामान्यग्राही चयन विशेष को ही सूचित करती है, उससे किसी विशेष अर्थ का बोध नहीं होता । अतः उसे—चैत्य शब्द को, मन्दिर या मूर्तिरूप अर्थ विशेष में उसकी प्रवृत्ति के अनुसार रूढ़ बतलाया गया है । जैसा कि हम ऊपर चैत्य शब्द की योगरूढ़ता में देख आये हैं कि कोई भी यौगिक शब्द अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को किसी विशेष पदार्थ में नियुक्त करने की योग्यता नहीं रखता, अर्थात् उससे किसी व्यक्ति विशेष का ग्रहण नहीं होता । इसी प्रकार यदि चैत्य शब्द को केवल यौगिक ही मान लिया जाय तो उसके व्युत्पत्तिजन्य चयन अर्थ से किसी नियत पदार्थ की अवगति नहीं हो सकती, अतः वह केवल यौगिक न होकर योगरूढ़, यौगिक अथच रूढ़ है । प्रवृत्ति अर्थात् व्यवहार के अनुसार वह जिस २ अर्थ में रूढ़-नियुक्त किया गया है उन सब में उसके व्युत्पत्तिलभ्य प्रधान अर्थ चयन का सामान्यतया आभास होता है । इसी दृष्टि से पूज्य अभयदेवसूरि और आचार्य मलयगिरि आदि विद्वान् टीकाकारों ने उसको यौगिक व्युत्पत्ति और उसके व्यवहार मूलक नियत स्वरूप को आगमगत प्राचीन परम्परा-सम्मत सिद्धान्त के अनुसार ही प्रदर्शित किया है । यह बात उनके “चित्तेल्लेप्यादि चयनस्य भावः कर्म वेति चैत्यम्, तच्चेह संज्ञा शब्दत्वात् देवताप्रतिबिम्बे प्रसिद्धं, ततस्तदाश्रयीभूतं यद्देवतायां गृहं

तदप्युपचारान्चैत्यम्” (१) उल्लेख से भली भान्ति सिद्ध हो रही है। शब्द कोष के अन्दर चैत्य शब्द के जितने अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं वे सब के सब चैत्य के योगरूढ़ अर्थ हैं, उनमें से चितास्थान पर का स्मारक चिन्ह, अथवा प्रचलित देवालय और मूर्ति भी अन्यतम हैं। और इनमें चैत्य के प्रधान अर्थ—यौगिक अर्थ-चयन का अस्तित्व भी अनुभव (२) सिद्ध है। इस लिये टीकाकारों ने चैत्य के मंदिर और मूर्ति अर्थ में उसके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का परित्याग नहीं किया, किन्तु उसके नियत अर्थ में उसका यथार्थरूप में समन्वय किया है, जो कि शब्दगत अर्थ प्रत्यय की नैसर्गिकता को आभासी है। हम इस विषय में पहले काफी लिख आये हैं। हमारे मित्र, टीकाकारों के इस अर्थ को एक प्रकार का साहित्य विकार बतला रहे हैं और वर्तमान समय में उपस्थित होने वाले मूर्तिपूजा सम्बन्धी कलह वगैरहको भी इसी का परिणाम कह रहे हैं परन्तु हम आप से पूछते हैं कि अन्तिम श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी से लेकर तदुत्तरवर्ती जितने भी सम्भावित आचार्य

(१) यह उल्लेख भगवतीसूत्र और औपपातिकसूत्र, राजप्रश्नीय और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में पूज्य अभयदेव सूरि और मलयगिरि ने किया है। इसका अर्थ पंडित बैचरदास जी के शब्दों में इस प्रकार है—

लेप्य वगैरे पदार्थ ना चयन ने चिति कहे छे, ते चित्तिनु चित्तिपणुं अथवा ते चित्तिनुं कर्मते चैत्य । आ चैत्य शब्द संज्ञा वाचक शब्द होवा थी तेनो व्यवहारु अर्थ देवनुं बिम्ब अथवा देव बिम्बनुं आश्रय होवा थी देवगृहपण चैत्य कहवाय छे।

(पं० बैचरदास सं० भगवती सू० पृ० १९ का नोट)

(२) मूर्ति पर लेप्यादि के चयन का उल्लेख वाराहमिहिर ने अपनी बृहत्संहिता में किया है। यथा—प्रासादहर्म्यबलभीलिगप्रतिमासु कुडचकूपेषु । सन्तप्तो दातव्यो वर्षसहस्रायुतस्थायी ॥ ५६।४ ॥

अधिक के लिये पाठक इसी को देखें।

जैन परम्परा में हुए हैं, उनमें से आगमगत चैत्य शब्द के आपके माने हुए प्रधान अर्थ—चिता पर चिने हुए स्मारक चिन्ह का किसी ने भी समर्थन किया है ? दूसरे शब्दों में कहें तो आगमों पर जितने भी (प्राचीन या नवीन) व्याख्यानरूप ग्रन्थ आज तक निर्माण हुए हैं उनमें से किसी में भी आपका किया हुआ चैत्यार्थ उपलब्ध होता है ? आपने चैत्य के निज-कल्पित अर्थ के समर्थन में कोई एक आध भी शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित किया हो ऐसा आपके इस निबन्ध में उपलब्ध नहीं होता । आपने इससे अधिक और कुछ नहीं लिखा कि “आचारांगसूत्र का यह चैत्य हमारे माने हुए उसी प्राचीन और प्रधान अर्थ का समर्थक है, ठाणांग के चैत्य शब्द का भी वही प्रधान चिता-सम्बन्धी अर्थ है और समवायांग में भी हमारे ही माने हुए अर्थ का दुंदुभिनाद किया गया है, एवं ज्ञाताधर्मकथांग का चैत्य शब्द भी हमारे ही इशारे पर नाचता है इत्यादि इत्यादि” । जब कि आचारांग से लेकर विपाकसूत्र पर्यन्त के सभी अंगशास्त्रों में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द में चितासम्बन्धी अर्थ का गन्ध तक भी नहीं आता । हम इस बात को अनेक बार कह चुके हैं और अब फिर भी कहते हैं कि किसी भी शब्द के अर्थ का निर्णय केवल उसकी व्युत्पत्ति पर से नहीं किया जा सकता, जब तब कि उसके अनुसार उसका व्यवहार उपलब्ध नहीं होता । हमारे ख्याल में चिता पर से निष्पन्न होने वाले चैत्य शब्द में एकमात्र चिता का ही प्राधान्य देखने वाले जैन विद्वानों में केवल एक आप ही हैं । आपके विवेक चक्षुओं पर अगर दुराग्रह की पट्टी बन्धी हुई न होती तो आप को भी श्री हरिभद्रसूरि, पूज्य अभयदेवसूरि, मलयगिरि स्वामी और श्री हेमचन्द्राचार्य जंसे विशिष्ट विद्वानों की तरह चैत्य के मंदिर और मूर्ति अर्थ में आगमपरम्परा

की मौलिकता स्पष्ट दिखाई देती। जिस अर्थ का किसी भी आगमवेत्ता जैन विद्वान् ने समर्थन न किया हो वह तो आपकी दृष्टि में चैत्य का प्रधान और सर्वप्राचीन अर्थ है तथा जिस अर्थ का सभी आगममर्मज्ञ जैन विद्वान् समर्थन करें उसे आप गौण सर्वथा आधुनिक और जैन-साहित्य में विकार उत्पन्न करने वाला मान रहे हें। आप की इस न्यायप्रियता की हम किन शब्दों में प्रशंसा करें ?

३—मालूम होता है आपकी दृष्टि में जैन-परम्परा में आचार्य हरिभद्रसूरि प्रभृति जितने भी टीकाकार हुए हैं वे जैनागमों के वास्तविक मर्म को नहीं जान पाये, तभी तो उन्होंने आगमों के समय में प्रचलित चैत्य के प्रधान अर्थ “चिता स्थान पर की भस्म” का परित्याग करके उसका अपने समय का प्रचलित अर्थ “देवालय, देवप्रतिमा” किया है। अगर उनको आगमों का यथार्थ बोध होता तो वे चैत्य का प्रचलित देवालय या मूर्ति अर्थ न करके उसका चितास्थान की राख-भस्म अर्थ करते। उन्होंने ऐसा नहीं किया अतः वे सच्चे टीकाकार नहीं थे। उन्होंने मूल का अर्थ के समय के वातावरण को ध्यान में रखकर नहीं किया, अर्थात् उन्होंने आगमगत चैत्य का “चिता-स्थानीय स्मारक चिन्ह” अर्थ न करके उसका मन्दिर और मूर्ति अर्थ किया जो कि मौलिक समय के वातावरण से सर्वथा विपरीत है। ऐसा करके उन्होंने मूल की टीका (मूल के यथार्थ अर्थ को समझाने वाली व्याख्या) नहीं की, किन्तु मूल का मूसल बना दिया है, अर्थात् मूल के वास्तविक आशय को विकृत करके उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है जो कि जैन-साहित्य में एक विकाररूप है। इसके अलावा इन टीकाकारों ने अगर चैत्य का अर्थ देवालय या मूर्ति न करके चिता-स्थान की भस्म ही किया होता तो आज जैनसमाज में जितने मत-

मतान्तर देखने में आते हैं वे दृष्टिगोचर न होते और धर्म के नाम से इस कदर अमावस्या का अन्धकार भी व्याप्त न होता ।

येह है हमारे विद्वान् मित्र की तर्फ से जैनपरम्परा के उन विशिष्ट विद्वानों को इनाम, जिन्होंने चैत्य का अर्थ मन्दिर या मूर्ति किया है । आपकी परिमार्जित दृष्टि में चैत्य का मन्दिर या मूर्ति अर्थ करना बड़ा भारी अपराध है । ऐसा अर्थ करने वाले जैनसम्प्रदाय के पुण्य-श्लोक, चाहे भदवाहु हों, चाहे बृहत्कल्पभाष्य के रचयिता पूज्य संघ-दासगणि हों, अथवा चूर्णिकार जिनदास महत्तर हों, एवं हरिभद्र हों या अभयदेव, मलयगिरि हों या हेमचन्द्र, आपके विचार से तो सब के सब आगमानभिज्ञ जैन समाज में कलह का बीज बोने और जैन-साहित्य में विकार उत्पन्न करने वाले हैं । हम नहीं समझते कि आपने, टीका-कार महानुभावों पर इतना संगीन इलजाम क्यों लगाया है ? एक तर्फ तो जैनपरम्परा के वे विशिष्ट विद्वान् हैं जिनकी आगममर्मज्ञता पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता और जिन्होंने आगमों में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द का देवालय या देवाप्रतिमा अर्थ किया है । दूसरी तर्फ आप हैं (सिर्फ आप ही) जो उनके किये हुए अर्थ को आगम बाह्य सिर्फ उनके समय का आधुनिक अर्थ बतला कर उसका “चिता-स्थान पर चिना हुआ स्मारक चिन्ह या चिता पर की राख” अर्थ ही सर्वप्रधान और सर्वप्राचीन मान रहे हैं । क्या हरिभद्रसूरि जैसे निष्पक्ष और विशिष्ट विद्वान् को चैत्य का प्रतिमा अर्थ करते समय आपके कथनानुसार आगम समय के मौलिक अर्थ का ध्यान नहीं रहा होगा, अथवा उन्होंने जान बूझ कर इस आगमसम्मत अर्थ (चितास्थानीय भस्म, या चबूतरा वगैरह) की उपेक्षा की । हमें तो जैनपरम्परा का ऐसा एक भी विद्वान् दिखाई नहीं देता कि जिसने कहीं पर भी चैत्य का चितास्थानीय स्मारक अर्थ किया हो, और

विपरीत इसके जहाँ तक हमने देखा है सब के सब उसका मन्दिर या मूर्ति अर्थ ही करते हैं। इनमें आचार्य श्री हरिभद्रसूरि से प्राचीन और उनके उत्तरकालभावी सभी संभावित आचार्यों का नाम उल्लेखनीय है। तो क्या ये सब के सब आचार्य इस विषय से सर्वथा अज्ञात ही थे ? अथवा आपके कथनानुसार इनको चैत्य का प्रतिमा अर्थ करके जैन साहित्य में विकार उत्पन्न करना अभिमत था, समझ में नहीं आता आप किधर जा रहे हैं। आपने चैत्य के जिस अर्थ को प्रधान और प्राचीन मानने का दावा किया है उसी को आगमबाह्य और कल्पित क्यों न माना जाय ? जब कि उसकी प्रधानता एवं प्राचीनता के लिये किसी भी प्राचीन जैन विद्वान् ने साक्षी न दी हो। इस सम्बन्ध में जहाँ तक हमने पर्यालोचन किया है वहाँ तक हमारा तो यही विश्वास है कि जैनपरम्परा के संभावित आचार्यों द्वारा चैत्य शब्द का किया गया प्रतिमा अर्थ उसका मौलिक अर्थ है और आगमों में उसकी इसी अर्थ में प्रयुक्ति हुई है। जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं आगमों से प्राचीन माने जाने वाले कतिपय वैदिक ग्रन्थों में चैत्य शब्द का मन्दिर और मूर्ति के अर्थ में व्यवहार हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। तथा मूल जैनागमों में भी “तहि चेइयाइं वंदई—तत्र चैत्यानि वन्दते” और “अन्नउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं—अन्ययूथिक परिगृहीतानि अहंचैत्यानि” इत्यादि स्थानों पर भी उसका प्रतिमा के सिवा कोई दूसरा अर्थ शक्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त कतिपय प्राचीन जैनाचार्यों के निम्नलिखित उल्लेखों से भी विज्ञ पाठक इसी नतीजे पर पहुँचेंगे कि पूज्य अभयदेवसूरि और मलयगिरि आदि विद्वान् टीकाकारों ने चैत्य शब्द का जो अर्थ किया है वह आगममूलक और मौलिक समय के वातावरण के सर्वथा अनुरूप है।

(१) आवश्यकसूत्र—

- (क) “अरिहंत (१) चेइयाणं करेमि काउसग्गं” इसमें उल्लेख किये गये “अरिहंतचेइयाइ” का तीर्थंकर प्रतिमा के सिवा दूसरा कोई अर्थ नहीं है (“अशोकाद्यष्टप्रातिहार्यादिरूपां पूजामर्हन्तीत्यर्हन्तः—तीर्थंकराः तेषां चैत्यानि प्रतिमालक्षणानि अर्हच्चैत्यानि”) पृ० ७८७ समिति ।
- (ख) “इच्छामि खमासमणो पुब्बि चेइयाइं वंदित्ता नमंसित्ता अहमवि वंदावेमि चेइयाइ” (पृ० ७९३ आवश्यक सूत्र समिति वाला) यहां पर भी प्रतिमा के सिवा दूसरा अर्थ संभव नहीं ।

(२) बृहत्कल्प भाष्य और निर्युक्ति में साधर्मिक चैत्य, मंगल चैत्य, शाश्वत और भक्ति चैत्य इस तरह से चार प्रकार के चैत्यों का उल्लेख किया है । इनमें से कोई भी ऐसा नहीं कि जिसे चितास्थान पर का चबूतरा या कबर वगैरह कहा व माना जाय । बृहत्कल्प भाष्य की वे गाथायें और उनकी व्याख्या को देखते हुए कोई भी बुद्धिमान ऐसा मानने को तैयार नहीं होगा । पाठकों के अवलोकनार्थ हम उन्हें यहां पर उद्धृत किये देते हैं—

(क) “साहम्मियाण अट्ठा चउव्विहे लिंगओ जहकुडुम्बी ।

मंगलसासय भत्तीइ जं कयं तत्थ आदेसो ॥१७७४॥

व्या०—चैत्यानि चतुर्विधानि, तद्यथा साधर्मिकचैत्यानि मंगल-चैत्यानि शाश्वतचैत्यानि भक्तिचैत्यानि चेति । + + + तत्र साधर्मिकाणामर्थाय यत् कृतं तत् साधर्मिकचैत्यम् ।

(१) अरहंता तित्थगरा तेसि चेतियाणि अरिहंतचेतियाणि अहंत प्रतिमा इत्यर्थः । (आवश्यकचूर्णि पृ० २५७) ।

अथ मंगल चैत्यमाह—

(ख) अरहंतपइट्ठाए महुरानयरीए मंगलाइंतु ।

गेहेसु चच्चरेसुय, छन्नउइ गाम अद्धेसु ॥१७७६॥

व्या०—मथुरानगर्यां गृहे कृते मङ्गलनिमित्तमुत्तरंगेषु प्रथम-
महत्प्रतिमाः प्रतिष्ठाप्यन्ते, अन्यथा तद् गृहं पतति, तानि मंगलचैत्यानि,
तानि च तस्यां नगर्यां गेहेषु चत्वरेषु च भवन्ति । + + + +
शाश्वतचैत्यभक्तिचैत्यानि दर्शयति—

(ग) निइयाइं सुरलोए, भत्तिकयाइं तु भरहमाई हिं ।

१७७७॥ इत्यादि

व्या०—नित्यानि शाश्वतचैत्यानि सुरलोके भवनपतिव्यन्तर-
ज्योतिष्क-वैमानिकदेवानां भवननगरविमानेषु, उपलक्षणत्वात् मेरुशि-
खर-वैताढ्यादिकूटनन्दीश्वररुचकवरादिष्वपि भवन्तीति । तथाभक्त्या
भरतादिभिर्यानि कारितानि अन्तर्भूतण्यर्थत्वाद् भक्तिकृतानि ।
(मुनि श्री चतुरविजय पुण्यविजय सम्पादित बृहत्कल्प भाष्य विभाग
२ पृ० ५२३।२४) (१)

भावार्थ—चैत्य चार प्रकार के होते हैं—साधर्मिक चैत्य,
मंगल चैत्य, शाश्वत चैत्य और भक्ति चैत्य । (१) साधर्मिकों के
लिये जो बनाया जाय वह साधर्मिक चैत्य है । (२) मथुरा नगरी में
घर बना कर मंगल के निमित्त द्वार के ऊपर जो तीर्थकर देव की
प्रतिमा स्थापित की जाती है उसे मंगल चैत्य कहते हैं । (३) देवलोक
में अर्थात् भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के भवन,
नगर और विमानों में तथा मेरु, वैताढ्य, नन्दीश्वर और रुचकव-
रादि में तीर्थकर देव की जो शाश्वती प्रतिमायें हैं वे शाश्वत

(१) प्रकाशक श्री जैन आत्मानन्द सभा (भावनगर) ।

चैत्य कहे जाते हैं । (४) और जो तीर्थंकर प्रतिमायें पूजा सेवा के लिये भक्तिभाव से बनवाकर प्रतिष्ठित की जाती हैं उनका नाम भक्ति चैत्य है । अर्थात् भरत चक्रवर्ती आदि के द्वारा प्रतिष्ठित जिन-प्रतिमायें भक्ति चैत्य कहलाती हैं ।

बृहत्कल्पभाष्य के इस उल्लेख से चैत्य शब्द के प्रतिमा अर्थ की कहां तक पुष्टि होती है इस बात का निर्णय तो हमारी अपेक्षा पाठक स्वयं अच्छी तरह कर सकते हैं ।

(३) ओघनिर्युक्ति में भी चैत्य का प्रतिमा अर्थ में ही प्रयोग किया गया है । उदाहरणार्थ कुछ गाथायें नीचे दी जाती हैं—

(क) “विहि पुच्छाए पवेसो, सण्णि कुले चेइ पुच्छ माहम्मि ।

टी०—एवं तस्य ब्रजतः पूर्ववत् विधि पृच्छायां सत्यां परेणाख्यातं पदुतास्ति श्रावकस्ततः “पवेसोति” प्रवेशं करोति क्व ? संज्ञिकुले । चेइयत्ति—यदि तस्मिन् संज्ञिकुले चैत्यानि ततस्तद् वन्दनां करोति । (पृ० ८१ समिति) ।

(ख) सव्वे दट्ठुं उग्गाहिण ओयरि अ भयं समुप्पज्जे ।

तम्हातिदुएगोवा उग्गाहिअ चेइए वंदे ॥ ११९ ॥

टी०—“तेहि भक्तार्थिनः श्रावककुलेषु चैत्यवन्दनार्थं व्रजन्तः । यदि सर्वे एव पात्रकाण्युद्ग्राह्य प्रविशन्ति ततः को दोषः ? इत्यत आह—“दट्ठमुग्गाहिणोयिरिति” दृष्ट्वा तान् साधून् पात्रकैरुद्ग्राहितैः औदरिका एते इति, भट्टपुत्रा इति, एवं श्रावकश्चिन्तयति । ‘भयंसमुप्पज्जेति’ भयं च श्रावकस्योत्पद्यते, यदुत्तकस्याहमत्र ददामि, कस्य वा न ददामीति । कथं वा एतावतां दास्यामीति । यस्मादेव तस्मात् “तिदुएगोवा” त्रयः उद्ग्राहितेन प्रविशन्ति आचार्येण सह

द्वी वा एको वा उद्ग्राहितेन प्रविशति चैत्यवन्दनार्थमिति” पृ० ९५ (१)

इन दोनों उल्लेखों में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्दका देवालयस्थ प्रतिमा अर्थ के अतिरिक्त और किसी भी अर्थ की सम्भावना नहीं की जा सकती ।

(४) प्राकृत के पउमचरियं (पद्मचरितं) में (जिस का रचनाकाल विक्रम की पहली (२) शताब्दी सुनिश्चित है) उल्लेख किये गये “चेइयभवणा पइसरंति” (पृ० २४) “गंतूण चेइयाइ” (पृ० ३०) “चेइयघरेहिरम्भ” (पृ० ४) और “चेइयघराणपुरओ जिणचरियं तत्थगाय माणस्स” (पृ० २१७) इत्यादि पाठों में प्रयुक्त हुए चैत्य का मन्दिर और मूर्ति में ही व्यवहार हुआ है । इनके अलावा आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने भी चैत्य शब्द के विषय में जो कुछ लिखा है उस पर से भी उसका प्रतिमा अर्थ उनके समय का प्रमाणित नहीं होता, किन्तु आगमपरम्परा से प्रमाणित और अत्यन्त प्राचीन सिद्ध होता है ।

सम्बोध-प्रकरण में आप लिखते हैं कि—“चैत्य शब्द जिनेन्द्र प्रतिमामें रूढ है, नियत है । यह बात उसके अर्थ पर से देखी जाती है ।”

(“चेइयसद्दो रूढो जिणिंद पडिमत्ति अत्थओ दिट्ठो”) श्लो०

(१) यह गाथा बृहत्कल्पभाष्य में भी उल्लेख की गई है । देखो पृ० ४६२ ।

(२) पंचेवसयवाससया दुसमाए वीस वरिस संजुत्ता ।

वीरे सिद्धिमुपागये, तओ निबद्धं इमं चरियं ॥ पृ० ३३५ ।

अर्थात् जब वीर निर्वाण को ५३० वर्ष हो चुके थे तब (वि० सं० ६० में) इस चरित्र की रचना की गई । इस विषय में अधिक जानने की इच्छा रखने वाले महानुभाव आत्मशताब्दी स्मारक अंक गुजराती लेख विभाग पृ० १०८ में प्रकाशित हुए, श्री कान्तीलाल छगनलाल उपाध्यायके—“विमलसूरि अने तेमनू पउमचरिय शीर्षक विस्तृत लेख को पढ़ें ।

३२८, पृ० ९२--(देवस्वरूपाधिकार) । इससे ज्ञात होता है कि आचार्य हरिभद्र ने चैत्य शब्द का जो प्रतिमा अर्थ किया है वह उस पर से निष्पन्न होने वाला शब्दानुगामी प्रधान और वास्तविक अर्थ है । अगर यह अर्थ प्रतिमा अर्थ आगम मूलक न होता तो आचार्य हरिभद्र जैसे निष्पक्ष विद्वान् इसके कभी आग्रही न होते । एवं जिस प्राचीन और प्रधान अर्थ की हमारे मित्र आज दुहाई दे रहे हैं उससे हरिभद्र-सूरी जैसे विशिष्ट विद्वान् अपरिचिन रहें हों यह संभावना में भी नहीं आ सकता । जैनागमों में अगर चैत्य का चितास्थानीय स्मारक चिन्ह या चितास्थान की भस्म अर्थ उपलब्ध होता तो हरिभद्रसूरि उसका कभी उल्लेख किये बिना न रहते । उनको तो आगमों में चैत्य शब्द का प्रतिमा अर्थ ही उपलब्ध हुआ, उसी का उन्होंने उल्लेख भी किया । कदाचित् दुर्जनतोषन्याय से यही मान लिया जाय कि चैत्य शब्द का प्रारम्भिक अर्थ चितास्थान पर का स्मारक चिन्ह है, तो यह भी अबाधित सत्य है कि वह अर्थ मूल जैनागमों के समय से भी कई सदियों पहले अतीतके गर्भ में लुप्त हो गया, आगमों के समय में उसकी स्मृति तक भी बाकी नहीं रही । आगमों के समय में तो चैत्य के मन्दिर और मूर्ति अर्थ का ही लोकव्यापी प्रचार था, इसी लिये आगमों के व्याख्यानरूप निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका प्रभृति ग्रन्थों में कहीं पर भी चैत्य का चितास्थानीय स्मारक अर्थ किया हुआ देखने में नहीं आता, और विपरीत इसके निर्युक्ति से लेकर टीकाओं तक सभी में उसका मन्दिर या मूर्ति अर्थ ही उपलब्ध होता है । इसके सिवा जैनपरम्परा की एक बात खास तौर पर ध्यान देने के योग्य है, उसमें वैदिक परम्परा की भांति-शब्दार्थ-विषयक मतभेद नहीं है । वैदिक परम्परा के आचार्यों में तो विचार भेद या अन्य किसी कारण से शब्दार्थ के विषय में परस्पर विरोध भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु

जैनपरम्परा के आचार्यों में यह बात देखने में नहीं आती । जिन लोगों ने जैनों के आगम साहित्य का अभ्यास किया है उन्हें यह अच्छी तरह से मालूम है कि किसी भी व्याख्याकार आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकार के शब्दार्थ का प्रतिवाद नहीं किया, अर्थात् उसे वैसे का वैसे कायम रखकर पल्लवित तो कर दिया है, मगर उसका खडन करके अपने निज कल्पित अर्थ को स्थापन करने का यत्न नहीं किया । इसके अलावा गीतार्थ गुरु या आचार्यपरम्परा से प्राप्त होने वाले शब्द के मौलिक अर्थ के संरक्षण की तर्फ जितना अधिक ध्यान जैन-परम्परा के आचार्यों ने दिया है उतना अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता । आगमों के सुप्रसिद्ध टीकाकार शीलांकाचार्य, हरिभद्रसूरि, अभयदेवसूरि, मलयगिरि स्वामी और क्षेमकीर्ति प्रभृति जितने भी विशिष्ट विद्वान् हुए हैं उन सबका चैत्यशब्दार्थ के विषय में सवथा एकमत है । इतना ही नहीं किन्तु उनके पूर्ववर्ती आचार्यों के उल्लेखों से भी उसका यही अर्थात् मंदिर और मूर्ति अर्थ ही प्रमाणित होता है । ऐसी दशा में चैत्य के इस मन्दिर या मूर्ति अर्थ को विकार रूप आधुनिक, कल्पित तथा आगमबाह्य और टीकाकारों के अपने समय का अवास्तविक अर्थ बतलाना और इस अर्थ के समर्थकों को विषम भूल के पात्र, कलह के पोषक, मतमतान्तरों के प्रवर्तक और धर्म के नाम से अमावस्या का अन्धकार फैलाने वाले कहना हमारे विद्वान् मित्र को कहां तक शोभा देता है इसका पाठक स्वयं विचार करें ?

हमारे ख्याल में तो आप अपनी परिमित विद्वत्ता के उन्माद में आकर इतने विवेकशून्य हो गये हैं कि आप को उचितानुचित का भान ही नहीं रहा । आचार्य हरिभद्रसूरि और पूज्य अभयदेवसूरि जैसे महानुभाव तो कलह के पोषक हैं और आप शांति के देवता ?

उन्होंने तो चैत्य का प्रतिमा अर्थ करके जैन-साहित्य में विकार उत्पन्न किया है और आप श्मशान की राख से उसे मिटाने का यत्न कर रहे हैं? मालूम होता है उनके प्रतिमा अर्थ से फँले हुए अमावस्या के लोकव्यापि अन्धकार को अब आपकी चिताभस्म ही शारदी पूर्णिमा का रूप धारण करके दूर करेगी। धन्य है आपकी विचारपटुता। हमारी सम्मति में तो आपने जैन-सम्प्रदाय के संभावित आचार्यों का घोर अपमान किया है और उन पर भयंकर अपवाद लगाया है, जिसके लिये आपको अधिक से अधिक प्रायश्चित्त करना चाहिये।

इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध के चैत्यवाद-प्रकरण में हमारे विद्वान् बन्धु पंडित बेचरदास जी ने चैत्य शब्द के गौणभूत अन्यमत अर्थ को (जिसे आगमों में कोई स्थान ही प्राप्त नहीं हो सका) चितास्थानीय चबूतरा या कबर वगैरह को चैत्य का प्रधान-मौलिक और सर्व-प्राचीन अर्थ सिद्ध करने का हर प्रकार से प्रयत्न किया है। और उसके आगमसम्मत अर्थ (देवालय या मूर्ति) को आगम-विरुद्ध बतलाने के साथ साथ उसके समर्थक विशिष्ट जैन विद्वानों के विरुद्ध उचितानुचित कहने में भी संकोच नहीं किया। परन्तु यह भी निभ्रान्त सत्य है कि आप इस विषय में सोलह आने असफल रहे, जिसका हमें कुछ न कुछ खेद अवश्य है।

देवद्रव्य विषयक आनुषंगिक चर्चा

हमारे विद्वान् मित्र ने प्रस्तुत निबन्ध के चैत्यवाद प्रकरण में चैत्य शब्दार्थ की चर्चा करने के अनन्तर देवद्रव्यवाद नाम के प्रकरण का उल्लेख किया है। इस प्रकरण में देवद्रव्य का प्रस्ताव करते हुए आपने चैत्य और मूर्तिवाद पर जो कुछ लिखा है उसकी समीक्षा हमें चैत्यवाद से भी अधिक आवश्यक प्रतीत होती है। इस प्रकरण में

आपने कुछ ऐसी बातें भी कही हैं कि जब तक उनके समाधान न किया जाय तक तब हमारा यह समीक्षा निबन्ध अधूरा रह जाता है। जहाँ तक हम देख पाये हैं आपका यह देवद्रव्यवाद प्रकरण पूर्वोक्त चैत्यवाद की अनुपूर्तिरूप है। उसमें जो कमी रह गई थी उसको इसमें पूरा किया गया है, परन्तु इस प्रकरणमें उल्लेख की गई बातों पर विचार करने से पहले हम देवद्रव्य पर भी कुछ विचार करना उचित और आवश्यक समझते हैं।

देवद्रव्य और वैदिक परम्परा

जहाँ तक हमारा पर्यालोचन है देवद्रव्य को वैदिक और जैन दोनों परम्पराओं में एक ही जैसा स्थान प्राप्त हुआ है। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में भी इस विषय के काफी उल्लेख देखने में आते हैं।

मनुस्मृति में लिखा है—

देवस्वं ब्राह्मणस्वं वा, लोभेनोपहिनस्ति यः।

स पापात्मा परे लोके गृध्रोच्छिष्टेन जीवति (११।२६)

अर्थात् जो पुरुष लोभ के वशीभूत होकर देवद्रव्य और ब्राह्मण धन का विनाश करता है वह पापात्मा जन्मान्तर में गृध्र के उच्छिष्ट से जीवन निर्वाह करने वाला होता है अर्थात् निःकृष्ट तिर्यग्योनि में जन्मता है। यहाँ कुल्लूक भट्ट ने “देवस्वं” का “देवता की प्रतिमा या प्रतिमारूप देवता के निमित्त दिया गया धन अर्थ किया है— (“प्रतिमा देवतार्थमुत्सृष्टं धनं देवस्वम्”) इसी प्रकार कूर्म पुराण में लिखा है कि कोई भी पुरुष और खासकर ब्राह्मण आपत्ति काल में भी देवद्रव्य का कभी अपहरण न करे—

“न देवद्रव्यापहारी स्याद् विशेषेण द्विजोत्तमः।

ब्रह्मस्वं वा नापहरेदापद्यपि कदाचन ॥१६।९॥”

और आग्नेयपुराण के मत में देवद्रव्य के अपहरण करने वाला कल्प पर्यन्त नरक में रहता है:—

“देवद्रव्यापहरणात् कल्पं तु नरके वसेत्” १२२।११

इन उल्लेखों से देवद्रव्य का स्वरूप और उसका संरक्षण ये दो बातें फलित होती हैं। देव प्रतिमा अर्थात् देवता की मूर्ति को अर्पण किया गया धन देवद्रव्य कहलाता है। उसका अपहरण या विनाश करने वाला नरकगामी होता है, अतः उसका यथायोग्य संरक्षण करना चाहिये।

जैनपरम्परा में

इस प्रकार वैदिक परम्परा में देवद्रव्य को जो स्थान प्राप्त है उसका भी यहां पर प्रसंगवश दिग्दर्शन करा दिया गया है। इसी से मिलती जुलती देवद्रव्य की चर्चा जैनपरम्परा में दृष्टिगोचर होती है। पूज्य हरिभद्रसूरि और उनके परवर्ती आचार्यों ने भी देवद्रव्य के भक्षण का निषेध और रक्षण का विधान किया है। आचार्य हरिभद्र ने सम्बोध-प्रकरण में देवद्रव्य के स्थान में जिनद्रव्य का प्रयोग करके उसके रक्षक को अल्पसंसारि और भक्षक को अनंतसंसारि बतलाया है (१)। इस तरह से वैदिक और जैन दोनों ही सम्प्रदायों में देवद्रव्य-विषयक उल्लेख किया गया है।

(१) क—“जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं । रक्खंतो जिणदव्वं परित्त संसारिओ भणिओ” ।

ख—“जिणपवयणवुड्ढिकरं, पभावगं नाणदंसणगुणाणं । भक्खंतो जिणदव्वं अणंत संसारिओ भणिओ” ।

जिनद्रव्य और देवद्रव्य ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं। वैदिक सम्प्रदाय में शिव, विष्णु आदि देवप्रतिमाओं को अर्पण किया हुआ द्रव्य देवद्रव्य

देवद्रव्य की आगममूलकता

हमारे मित्र, हरिभद्रसूरि आदि आचार्यों के देवद्रव्य सम्बन्धि उल्लेखों को आगममूलक नहीं मानते । उनके मत में इस प्रकार के सभी उल्लेख आगमबाह्य और आधुनिक आचार्यों के मनःकल्पित हैं । उन्हें देवद्रव्य की चर्चा तो दरकिनार उसका देवद्रव्य का नाम तक भी आगमों में दिखाई नहीं देता । इसलिये उनकी यह दृढ़ मान्यता है कि हरिभद्रसूरि और उनके परवर्ती आचार्यों ने चैत्य शब्द के जिन-गृह और जिनबिम्ब अर्थ की भांति देवद्रव्य का निर्मूल उल्लेख किया है जो कि उस समय के वातावरण और परिस्थिति को ही आभारी है, अतः उसे विधेय या प्राचीन नहीं कह सकते । (१)

परन्तु हमारी धारणा इससे विपरीत है, देवद्रव्य की—जिनद्रव्य की विधेयता या प्राचीनता के लिये वेदों या आगमों के द्वार खट-खटाने की आवश्यकता नहीं, इसके लिये तो उसके मौलिक-स्वरूप का निरीक्षण करना होगा । उसके मौलिक स्वरूप में ही आगमानु-
कहलाता है और जैनसम्प्रदाय के अनुसार जिनप्रतिमा को अर्पित होने से उसकी जिनद्रव्य संज्ञा है । अतः देवद्रव्य कहो या जिनद्रव्य, आशय दोनों का एक ही है ।

(१) देखो प्रस्तुत निबन्ध का निम्नलिखित पाठ—

‘क “वर्तमान विद्यमान अंगसूत्रों में देवद्रव्य शब्द या उसके विषय का एक भी उल्लेख नहीं मिलता” पृ० १७८ ।

(ख “मेरी मान्यता के अनुसार मूल के व्याख्यान रूप लिखे हुए ग्रन्थों में जिसकी गन्ध तक नहीं, वैसा देवद्रव्य शब्द या उससे लगती हुई बात किसी भी प्रकार संभवित नहीं हो सकती । तथापि यदि उन ग्रन्थकारों ने अपने २ वातावरण और परिस्थिति का अनुसरण करके मूल से लगते हुए उन ग्रन्थों में कहीं पर यह निर्मूल उल्लेख किया भी हो तो चैत्य शब्द के जिनगृह और जिनबिम्ब अर्थ के समान उसकी प्राचीनता या विधेयता सिद्ध नहीं हो सकती । (पृ० १७९) ।

सारी प्राचीनता और विधेयता प्रतिष्ठित है । देवद्रव्यगत देव शब्द के शास्त्रानुसारी सर्वसम्मत अर्थ देवप्रतिमा, जिनप्रतिमा को अगर आगमों में कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त है तो तत्सम्बन्धि द्रव्य की, देवद्रव्य की विधेयता और प्राचीनता अपने आप ही सिद्ध हो जाती है । अतः यदि आगमों में देवद्रव्य के नाम का निर्देश न भी हो अथवा देवद्रव्य सम्बन्धि किसी विषय की चर्चा न भी की गई हो, तो भी उसकी विधेयता या प्राचीनता को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती, जब कि उसके मौलिक अर्थ (देवप्रतिमा) का सिंहासन आगमों की विशाल पीठिका पर सुचारु रूप से प्रतिष्ठित हो ।

इस विषय में जहाँ तक हमारा पर्यालोचन है, हरिभद्रसूरि जैसे सुविहित आचार्य ने जिनप्रतिमा को आगमों की विशाल वेदिका में प्रतिष्ठित हुए देखकर ही उसकी पूजा, प्रभावना और तत्सम्बन्धि द्रव्य की सुव्यवस्था आदि की समुद्घोषणा की है । अगर आगमों में जिनप्रतिमा को कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त न होता तो श्री हरिभद्र-सूरि जैसे सत्यान्वेयी सुविहित आचार्य अपने ग्रन्थों में उसे सुविहित-रूप से इतना प्रतिष्ठित स्थान कभी न देते (१) । अस्तु, अब पाठक प्रस्तुत प्रकरण में उल्लेख किये गये विषयों की ओर ध्यान दें ?

चैत्य और मूर्ति

जैसा कि हम प्रथम कह आये हैं, अगर जिनप्रतिमा आगमविहित

(१) इसके लिये देखो उनके निम्नलिखित विचार—

“तम्हा जिणसारिच्छा, जिण पडिमा सुद्धजोयकारणया ।

तब्भत्ति ए लब्भइ, जिणिंदपूयाफलं भव्वो ॥ १ ॥

सम्मत्तमुद्धकरणी, जणणी सुहजोगमच्चपहवाणं ।

निहलणी दुरियाणं, भववणदवदड्ढभविआणं ॥ २ ॥”

(सम्बोध प्र० देवस्वरूपाधिकार) ।

सिद्ध हो जाय तो उसपर निर्भर करने वाले देवद्रव्यकी आगम विहितता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है, परन्तु हमारे मित्र को यह इष्ट नहीं, इस लिये उन्होंने देवद्रव्य को अविहित अर्थात् आगमबाह्य और अर्वाचीन साबित करने के निमित्त उसकी जन्मदात्री जिनप्रतिमा को ही आगमों से बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया और तदर्थ उसके बोधक चैत्य शब्द को भी उससे पृथक् कर दिया गया ।

इस विषय को पाठक उन्हीं के शब्दों में सुनें—

(१) “मूर्तिवाद चैत्यवाद के बाद का है, याने उसे चैत्यवाद जितना प्राचीन मानने के लिये हमारे पास एक भी ऐसा मजबूत प्रमाण नहीं है जो शास्त्रीय सूत्रविधिनिष्पन्न या ऐतिहासिक हो ।”

(२) “यों तो हम और हमारे कुलाचार्य भी मूर्तिवाद को अनादि का ठहराने तथा महावीर-भाषित बतलाने का बिगुल बजाने के समान बातें किया करते हैं; परन्तु जब उन बातों को सिद्ध करने के लिये ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधिवाक्य मांगा जाता है तब हम बगलें झांकने लग जाते हैं ।”

(३) “मैंने बहुत ही कोशिश की तथापि परम्परा ‘और बाबा वाक्यं प्रमाण’ के सिवा मूर्तिवाद को स्थापित करने के सम्बन्ध में मुझे एक भी प्रमाण या विधान नहीं मिला” इत्यादि ॥ पृ० १७२ ॥

समीक्षा—

(१) जब कि चैत्य का आगम सम्मत अर्थ ही प्रतिमा-मूर्ति है, तो फिर मूर्तिवाद चैत्यवाद के पीछे का है इसका क्या अर्थ? आगमों में तो चैत्य का मूर्ति अर्थ स्पष्ट और सुनिश्चित है । तब वह चैत्यवाद जितना प्राचीन क्यों नहीं? हमने भी आपकी तरह बहुत कोशिश की कि वर्तमान में उपलब्ध होने वाले जैनवाङ्मय आगम, भाष्य, निर्युक्ति चूर्णी और टीकाओं में कहीं पर भी आपका माना हुआ चैत्य का

“चिता पर की राख” अर्थ मिल जाय, मगर हमें वह आज तक नहीं मिला। इसमें सन्देह नहीं कि चैत्य शब्द मूर्ति की अपेक्षा अधिक व्यापक है, परन्तु जैनगमों में तो ये दोनों प्रायः एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। चैत्य का “चितास्थान पर का स्मारक” अर्थ भी उसके अन्यान्य अर्थों में से एक माना जा सकता है, हमें इसमें कोई हठ नहीं है मगर आगमों में उसका यह अर्थ उपलब्ध नहीं होता। जैनपरम्परा में चैत्य शब्द का मंदिर या प्रतिमा के सिवा अन्य किसी अर्थ में अब्बल तो व्यवहार ही नहीं हुआ, अगर हुआ भी है तो बहुत कम; परन्तु वह भी चिता-स्थानीय भस्म या चवूतरा आदि अर्थ में तो नहीं हुआ। ऐसी दशा में जब कि चैत्य का प्रतिमा अर्थ आगमविहित और सुनिश्चित हो, मूर्तिवाद को चैत्यवाद से पृथक् और बहुत पीछे का स्वीकार करना एक प्रकार का मूढ़ हठ नहीं तो और क्या है? जहां तक हम देख पाये हैं, हमारे विद्वान् बन्धु की हठीली मनोवृत्ति में प्रचलित मूर्तिपूजा के विरुद्ध बगावत करने का एक जनून है। उसी का प्रभाव है कि आपको जिनप्रतिमा की विधेयता या प्राचीनता एक आंख भी नहीं भाती और उसके विरोध में आपने कट्टर साम्प्रदायिक विद्वानों को भी मान कर दिया है। आगम साहित्य में जिनप्रतिमा के समर्थक एक से अधिक उल्लेखों के विद्यमान होते हुए भी अगर आपको कोई नहीं मिल सका तो इसमें आगमसाहित्य का कोई दोष नहीं (“नायं स्थाणोरपराधः यदेनमन्धोन पश्यति”) जिस मूर्तिवाद को आचार्य हरिभद्र जैसे तटस्थ विद्वान् आगमविहित मानें और आत्मा की मूलस्थिति का भान कराने के लिये उसे दर्पण के समान (१) बतलावें, उसका आपको

(१) इसके लिए देखो—‘जम्हा जिण।ण पडिमा, अप्पपरिणामदसणनिमित्तं।

आयंसमंडलाभा, सुहामुहञ्झाणदिठ्ठीए ॥१॥

(सम्बोध प्रकरण देवस्व०)

आगमों में गन्ध तक (१) भी न आवे यह आश्चर्य नहीं तो और क्या है?

इस सम्बन्ध में आपने जो नवीन ऊहापोह किया है उसको तो हम आगे चलकर देखेंगे । परन्तु यह तो प्रकट सत्य है कि जिन प्रतिमा की विधेयता और प्राचीनता के कट्टर विरोधियों में से आप एक और असाधारण हैं । इतना प्रासंगिक निवेदन कर देने के बाद अब हम फिर प्रकृत का अनुसरण करते हैं ।

जैनपरम्परा की वर्तमान पूजाविधि (जिसमें भावुकता के अतिरेक से अहैतुक बाह्याडम्बर का अमर्यादित संमिश्रण हो) का तो मूल आगमों से समर्थन शायद सुशक्य न भी हो, परन्तु उसके विशुद्ध आदर्श स्वरूप के तो वे सर्वेसर्वा समर्थक हैं, ऐसी हमारी दृढ़ मान्यता है । श्रमण भगवान् महावीर से लेकर विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जैनपरम्परा में जितने भी आचार्य हुए हैं उनमें से जिनप्रतिमा के विरुद्ध किसी ने एक अक्षर भी नहीं लिखा । प्रत्युत बहुतों ने उसकी विधेयता का समर्थन किया है । उनमें श्री हरिभद्र-सूरि से बहुत पहले होने वाले आचार्य भी हैं । इन आचार्यों के रचे हुए आगमों के व्याख्यान रूप निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी आदि ग्रन्थों के उल्लेख से जिनप्रतिमा के उपास्य स्वरूप पर जो उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है, उसके सन्निधान में यदि आप आगमों का पर्यालोचन करने का यत्न करते तो आपको इस विषय में अवश्य ही सफलता प्राप्त होती और प्रतिमा-सम्बन्धि अनेक आगम-वचन आपके दृष्टिपथ का समुचित स्वागत करते, जिनके लिये आप सर्वथा निराश हुए बैठे हैं ।

(१) “जिस मूर्तिवाद का विधान और देवद्रव्य की गन्ध तक अंगसूत्र ग्रन्थों में नहीं मिलती, उसका हरिभद्रसूरि समर्थनपूर्वक उल्लेख करते हैं इसका क्या कारण होना चाहिये” इत्यादि । पृ० १८९ ।

इसके अलावा मूर्तिवाद को अनादि या वर्द्धमान भाषित कहने व मानने वाले “अपने कुलाचार्यों अर्थात् वर्तमान समय के विद्वान् साधुओं को वृथा उपहास्य का भाजन (विगुल बजाने वाले और बगलें झांकने वाले इत्यादि) बनाने की अपेक्षा यदि आप उनके इस कथन पर कुछ ठंडे दिल से तटस्थ मनोवृत्ति और व्यापक समन्वय दृष्टि से विचार करने का यत्न करते तो उसमें भी आपको अधिक प्रमाण में शास्त्रीय तथ्य की उपलब्धि होती ।

वीतराग पुरुष की अनन्योपासक जैनपरम्परा के उपासना क्षेत्र में अधिकारी विशेष के लिये जैन आदर्शानुसार प्रतीकरूप से वीतराग मूर्ति को भी मुख्य और शास्त्रीय स्थान (१) प्राप्त है । एवं जैन-

(१) हमारे मित्र भी इसका किसी हद तक समर्थन करते हैं—

पाठकों के अवलोकनार्थ हम उन्हीं के मूल शब्दों को यहां पर उद्धृत करते हैं-

(क) “हूं ते वादनो (मूर्तिवाद नो) विरोधी नथी, परन्तु जरूरियात पूरतो तेनो विधायक छूं अने कामचारिपणे सत्संग, शास्त्राध्ययन, तप, शील विगेरेनी जेम तरतमताए मूर्तिवादमां पण आत्मविकास नी निमित्तता जोइ रह्यो छूं, मानी रह्यो छूं अने जणावी रह्यो छूं । (मू० पु० पृ० १२८) ।

(ख) “तो पण ते (मूर्तिवाद) लोकना प्रवाहवाही भाग ने शुरुआतमां आत्मानो मूलस्थितिनुं भान कराववा एक दर्पण समान छे. माटे तेनुं मर्यादित सेवन तेओने घणुं उपयोगी से” (पृ० १२८)

(ग) “कदाच आपणे अशुद्ध संस्कारो ना भीषण दवाण थी दबायेला होइये तो पण ए वादना (मूर्तिवादना) विवेकपूर्वक आश्रययी हुं मानुं छूं के गमे तेवो अशुद्ध गणातो मनुष्य पण वेलो मोड़ो विशुद्ध थया सिवाय रही शकेज नहीं” (पृ० १२९) ।

महानुभाव ! आपके इस कथन से ही मूर्तिवाद की विधेयता सिद्ध है । अगर आपका यह कथन यथार्थ है तो मूर्तिवाद की विधेयता भी यथार्थ ही है । यह कभी सम्भव नहीं कि जो वस्तु मानव-जगत के आरम्भिक आध्यात्मिक जीवन

परम्परा की प्राचीनता का विचार करते हुए उसका आरम्भ काल भी अनैतिहासिक ही सिद्ध होता है। उसके मूलपुरुष भगवान् ऋषभ-देव हैं जिन का सत्तासमय ऐतिहासिक युग की परिधि से बहुत दूर का है, परन्तु वे अनैतिहासिक होने पर भी कल्पित व्यक्ति नहीं हैं। इस दृष्टि से जैनपरम्परागत मूर्तिवाद को यदि मूर्तिपूजक विद्वान् अनादि कहें तो यह असंगत नहीं कहा जा सकता। अब रहा उसको महावीरभाषित होना सो उसका निर्णय तो आगमगत पाठों के पर्यालोचनसे ही होना शक्य है। अगर आगमों में उल्लेखकिये गये पाठों से मूर्ति

से इतना गहरा सम्बन्ध रखती हो उसकी, आध्यात्मिक-मार्ग-निष्णात जैन विद्वान्, उपेक्षा कर दें। आपके कथनानुसार (जो कि यथार्थ है) जिस में आत्मिक विकास की निमित्तता दृष्टिगोचर हो, और जो लोक के प्रवाहवाही विभाग को प्रारम्भ में आत्मा की मूल स्थिति का भान कराने के लिये विशुद्ध दर्पण के समान हो, एवं जिसके विवेकपूर्वक आश्रयण से नितान्त अशुद्ध मनुष्य भी कभी न कभी शुद्ध हुए बिना नहीं रह सकता; ऐसे उपयोगितत्व-मूर्तिवाद-को जैनागमों में-जैनपरम्परा के सर्वज्ञ-कल्प गणधरों ने कोई भी स्थान न दिया हो इसकी तो मन में सहज कल्पना भी नहीं होती। हमारी दृष्टि में तो अधिकारी विशेष के लिये उसकी आरम्भिक असाधारण उपयोगिता को सन्मुख रख कर जैन महर्षियों ने उसके अधिकार की पूरी रक्षा की है और आगमों में उसे मुख्य स्थान देकर सर्वसाधारण मानव-समाज के प्रति अपने न्यायोचित कर्तव्य के पालन में अणुमात्र भी कोताही नहीं की उसकी ओर दुर्लक्ष्य नहीं किया। यही कारण है कि हरिभद्रसूरि जैसे मध्यस्थ विचार के समर्थ विद्वान् ने जिनप्रतिमा और उसकी पूजा को आगमविहित बतलाने के अतिरिक्त उसे श्रमणोपासक गृहस्थ के आचरणीय धर्मानुष्ठान में मुख्य-स्थान दिया; एवं दर्शन शुद्धि का प्रधान साधन बतलाया। इसके अलावा हमारी समझ में यह बात अभी तक नहीं आई कि जिस मूर्तिवाद को आप (पं० बेचनदास जी) इतना अभिनन्दनीय स्थान दे रहे हैं उसकी विषयता और प्राचीनता से आपको इतना विरोध क्यों ? जब कि जैनपरम्परा के अनेक प्रभाविक आचार्य उससे सहमत हों।

वाद का समर्थन हो जाय तो उसका वर्द्धमान भाषित होना अनायास ही सिद्ध हो जाता है। हमारे मित्र मूर्तिवाद की प्राचीनता के लिये ऐतिहासिक प्रमाण पूछते हैं जो कि यथार्थ है। परन्तु इसके साथ में उन्हें अपने माने हुए चैत्यवाद को प्राचीन प्रमाणित करने वाला कोई प्राचीन शिलालेख प्रस्तुत पुस्तक में अवश्य उद्धृत कर देना चाहिये था। हमारे विचार में तो आगमों के चैत्य और मूर्ति दोनों एक ही अर्थ में व्यवहृत किये गये हैं, परन्तु आप इन्हें विभिन्न मानते हैं और मूर्ति से चैत्य को प्राचीन स्वीकार करते हैं, अतः आपको यह मुनासिब था कि चैत्यवाद की प्राचीनता का कोई ऐतिहासिक प्रमाण आप अवश्य उपस्थित करते। मगर आपने ऐसा नहीं किया।

अंगसूत्र ही क्यों ?

हमारे विद्वान् बन्धु ने मूर्तिवाद के समर्थकों से मूर्ति की आगम-विहितता सिद्ध करने के लिये सामान्यतया आगम वाक्य की जिज्ञासा नहीं की, किन्तु आगम-विशेष अर्थात् अंगसूत्र के विधिवाक्य का प्रमाण मांगा है। जहां कहीं भी आपने इस विषय की चर्चा की है वहां आगम के स्थान में अंगसूत्र का ही उल्लेख किया है (१)। इसके अलावा

(१) इसके लिये देखिये प्रस्तुत पुस्तक के निम्नलिखित उल्लेख—

(क) “परन्तु जब उन बातों को सिद्ध करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधिवाक्य मांगा जाता है तब बगलें झांकने लगते हैं।” (पृ १७२)

(ख) “भले ही उसके सम्बन्ध में विधिवाक्य अंगसूत्रों में न मिलता हो” (पृ० १७५)।

(ग) “मैंने मुनियों या श्रावकों के लिये देवदर्शन या देवपूजन का विधान किसी भी अंगसूत्र में नहीं देखा।” (पृ० १७४)।

(घ) “पुरातन ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्र का विधिवाक्य नहीं मिल सकता” (पृ० १७७)।

चैत्यवाद प्रकरण में चैत्य शब्द के अर्थ पर ऊहापोह करते समय भी आपने आचारांग प्रभृति ग्यारह अंगों का ही उल्लेख किया है अर्थात् इन ग्यारह अंगों में जहाँ जहाँ पर चैत्य शब्द का निर्देश है उसी के अर्थ का विचार किया है। उसके सिवा किसी दूसरे आगमका न तो उल्लेख ही किया है और उसमें प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द के अर्थ का विचार। ("पूर्वोक्त प्रकार से ग्यारह अंगों में उपयुक्त किया हुआ चैत्य शब्द अपने प्राचीन एवं प्रधान अर्थ को प्रकाशित करने" इत्यादि पृ० १५२) तात्पर्य कि चैत्य शब्द की इस अर्थविचारणा में आपने अंगसूत्रों के सिवा किसी उपांग वगैरह का नाम तक भी नहीं लिया। सिर्फ एक जगह पर-जहाँ कि आपका कुछ मतलब सिद्ध होता था, सूर्यप्रज्ञप्ति का उल्लेख किया है। (१)

आपके इस वक्तव्य पर से दो बातें फलित होती हैं १—या तो आप अंगसूत्रों अर्थात् ग्यारह अंगों के सिवा दूसरे उपांग आदि आगमों को प्रामाणिक नहीं मानते, २—या दूसरे उपांगादि में मूर्तिवाद के विधायक वाक्य हैं, इस लिये उन्हें छोड़ दिया है। परन्तु विचार करने पर ये दोनों बातें युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होतीं। वर्तमान में उपलब्ध जैनागम साहित्य, श्री देवद्विगणिक्षमाश्रमण द्वारा संकलित हुआ माना जाता है। उन्होंने अंग और उपांगादि सम्पूर्ण आगम-साहित्य को एक साथ संकलित किया और उसकी प्रामाणिकता में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रक्खा। ऐसी दशा में उसके—आगम-साहित्य के, एक विभाग को प्रामाणिक और दूसरे को अप्रामाणिक कहना व मानना कहाँ तक न्यायोचित है इसका निर्णय पाठक स्वयं अच्छी तरह कर सकते हैं। वस्तुस्थिति के अनुसार तो सारे आगमों

(१) देखो पृ० १५१ में उद्धृत किया गया—"तएणं से सक्के देविंदे देवराया" इत्यादि उल्लेख।

को ही प्रामाणिक या अप्रामाणिक ठहराया जाना चाहिए। अगर अंग उपांगादि सभी प्रामाणिक हैं तो फिर चैत्यशब्दार्थ के लिये अंगों का ही निर्देश क्यों ? क्या उपांगादि में उसका उल्लेख नहीं है ? अगर यह कहा जाय कि उपांगादि में मूर्तिवाद-विधायक उल्लेखों के होने से उनका निर्देश नहीं किया तो फिर यही प्रश्न उपस्थित होता है कि वे उपांगादि प्रामाणिक हैं या अप्रामाणिक ? अगर प्रामाणिक हैं तो उनसे निष्पन्न होने वाली मूर्तिवाद की विधेयता के प्रामाण्य में संदेह क्यों ? और यदि वे अप्रामाणिक हैं तो अंगसूत्रों की प्रामाणिकता के लिये विनिगमक क्या ? अर्थात् वे भी अप्रामाणिक क्यों नहीं ? एवं यदि उपांगादि में भी मूर्तिवाद के समर्थक उल्लेख नहीं हैं तो फिर वही प्रश्न बना रहता है कि उसके लिये अंगसूत्र का ही उल्लेख क्यों ? अर्थात् मूर्तिवाद की विधेयता के लिये केवल अंगसूत्र के विधिवाक्य की जिज्ञासा क्यों ? सामान्यरूप से आगमों के विधिवाक्य की जिज्ञासा क्यों नहीं की ? जब कि अंग और उपांगादि सभी आगमसाहित्य प्रामाणिक हों और सभी में मूर्तिवाद-समर्थक उल्लेखों का अभाव हो। अतः हमारी दृष्टि में तो मूर्तिवाद के विषय में अपने कमजोर पहलू को किसी हद तक सुरक्षित रखने की हमारे मित्र की यह शास्त्रीय राजनैतिक चाल है जिस में कि आप सफल नहीं हो पाये।

जिनप्रतिमा और जैनागम

जैनागमों में जिनप्रतिमा का क्या स्थान है, जैनपरम्परा में उसकी विधेयता या प्राचीनता की कल्पना आगमिक अथवा ऐतिहासिक है अथवा आगमबाह्य और नितान्त अर्वाचीन ? इस बात का अधिकतर यथार्थ निर्णय चैत्य शब्द के अर्थनिश्चय पर निर्भर करता है। अगर हमारा बतलाया हुआ चैत्य का मन्दिर और मूर्ति अर्थ यथार्थ है अर्थात् आगमसम्मत और प्रमाणसंगत है और अगर उसका—हमारे मित्र

का माना हुआ चितास्थान पर की राख या चबूतरा वगैरह अर्थ आगमानुकूल नहीं, अर्थात् आगमों में उल्लेख किये गये चैत्य में वह अर्थ संघटित नहीं होता तो मानना होगा कि मूर्तिवाद की विधेयता जहां आगमिक है वहां उसकी प्राचीनता भी ऐतिहासिक है, कल्पित नहीं।

हम गत प्रकरणों में चैत्य शब्द के अर्थ पर काफी विचार कर आये हैं और उसकी अर्थविचारणा में उसके मन्दिर और मूर्ति अर्थ को प्राचीनतम प्रमाणित करने वाले अनेक पुष्ट प्रमाणों का उल्लेख भी कर दिया है। अब तो हम यह देखेंगे कि जैनपरम्परा में चैत्य का कौन-सा अर्थ गृहीत हुआ है और आगमों में उसका प्रकरण-संगत कौन-सा अर्थ संभवित हो सकता है। यद्यपि इस विषय पर भी पहले बहुत कुछ लिखा जा चुका है तथापि कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं कि जिन पर दोबारा विचार करने की आवश्यकता है।

(१) जैनपरम्परा के आचार्य

आगमों पर टीका करने वाले जैन आचार्यों ने चैत्य शब्द की जो व्याख्या की है उसको हमारे श्रद्धेय पंडित बेचरदासजी, आधुनिक और बहुत पीछे की अर्थात् उनके समय की बतलाते हैं। उनका कथन है कि “जिस समय यह व्याख्याकार हुए हैं उस समय चैत्य शब्द अपने मूल यौगिक चितास्थानीय स्मारक चिन्ह अर्थ को छोड़ कर लाक्षणिक मन्दिर और मूर्ति अर्थ में रूढ़ हो चुका था, इस लिये उन्होंने चैत्य शब्द के मौलिक अर्थ पर कुछ भी ध्यान न देकर अपने समय के प्रसिद्ध अर्थ का अनुसरण करने में बड़ी भारी भूल की है इत्यादि” । परन्तु जहां तक हम देख पाये हैं इस भूल से तो जैनपरम्परा का कोई भी आचार्य बच नहीं पाया। प्राचीन से प्राचीन किसी भी आचार्य ने चैत्य का चिता पर की राख या चबूतरा आदि अर्थ नहीं किया, सब ने

उसका मन्दिर या प्रतिमा अर्थ में ही व्यवहार किया है। आचार्य श्री हरिभद्रसूरिजी ने तो अपने ग्रन्थों में आगमगत चैत्य शब्द का जिन-प्रतिमा अर्थ करने में भी किसी प्रकार के भ्रम को अवकाश ही नहीं दिया (१), एवं उनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी इसी अर्थ में चैत्य शब्द का व्यवहार किया है (२)। तात्पर्य कि वर्तमान टीकाकारों

(१) “अरिहंत चेइयाणं त्ति अशोकाद्यष्टप्रातिहार्यरूपां पूजामहं-तीत्यहंन्तस्तीर्थकरास्तेषां चैत्यानि-प्रतिमालक्षणानि अहंचैत्यानि”

(आवश्यक वृत्ति कायोत्सर्ग अध्ययन पृ० ७८७)

(२) क— देखो इसी स्थान की आवश्यक चूर्णी का निम्नलिखित पाठ “अरिहंतचेइयाणि—तेसिं चेइयाणि-अरिहंत चेइयाणि अहंतप्रतिमा इत्यर्थः (पृ० २५७)” अर्थात् अरिहंतों की प्रतिमायें अरिहंतचैत्य कहलाती हैं।

(ख) इसके अलावा वसुदेवहिण्डी में भी चैत्यशब्द का जिनप्रतिमा अर्थ में ही प्रयोग किया है। यथा—“तेणय जं सुरिंददत्त निसिट्ठं चेइयट्ठाए दव्वं विणासियं तेण जिणबिम्बपूयादंसणाणंदित्तहिययाणं” इत्यादि (पृ० ११३) इस उल्लेख में चैत्यशब्द का जिनप्रतिमा के सिवा कोई दूसरा अर्थ संभावित ही नहीं है।

(ग)—एवं निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामी भी चैत्य का देवमन्दिर या देवप्रतिमा अर्थ में ही व्यवहार करते हैं जो उनकी आचारांगसूत्र की निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा से प्रमाणित होता है—

“गुण माहय्यं इसि नाम कित्तणं सुरनरिंदपूयाय।

पोराण चेइयाणिय-इय एसा दंसणे, होइ ॥” ३३४ ॥

इस गाथा में प्रयुक्त “पोराणचेइयाणि” का पुरातन चैत्यों की पूजा अर्थ होने से देवप्रतिमायुक्त मन्दिर ही साबित होते हैं।

इसके सिवा विक्रम की प्रथम शताब्दी में लिखे गये ‘पउमचरिय’ आदि प्राचीन ग्रन्थों के उदाहरणों का उल्लेख हम पिछले प्रकरणों में कर आये हैं।

और श्री हरिभद्रसूरि से भी बहुत प्राचीन समय के आचार्यों ने (जिन में चूर्णीकार श्री जिनदासगणि, वसुदेवहिण्डी के निर्माता श्री संघदासगणि और निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामी आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं) चैत्य का प्रतिमा अर्थ ही किया है। अब हम अपने मित्र से पूछते हैं कि अगर इन सभी अचार्यों ने चैत्य का प्रतिमा अर्थ करते हुए उसके मौलिक अर्थ का ख्याल नहीं रखा तो क्या जैन-परम्परा में ऐसा कोई प्राचीन आचार्य हुआ भी है, जिसने आपके माने हुए मौलिक अर्थ का अनुसरण किया हो ? अगर हुआ है तो वह कौन ? और किस ग्रन्थमें उसका उल्लेख है ? अगर नहीं हुआ तो क्या निर्युक्तिकार श्री भद्रबाहुस्वामी से उपाध्याय श्री यशोविजयजी तक के सभी जैन विद्वान् आपकी दृष्टि में आगमानभिज्ञ और विषम भूल करने वाले ही हैं ? भला, इन सब की अपेक्षा अगर आप को ही विषम भूल का पात्र मान लिया जाय तो क्या हर्ज है ? अस्तु, कुछ भी हो जैनपरम्परा में तो आपके मौलिक अर्थ का नवीन से नवीन और प्राचीन से प्राचीन किसी जैन विद्वान् ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भी समर्थन नहीं किया। इससे सिद्ध होता है कि जैन-परम्परा में आपके इस अर्थ को कोई स्थान नहीं; उसमें तो मूर्ति और मन्दिर अर्थ को ही अवकाश है और उसकी दृष्टि में उसका यही अर्थ वास्तविक और आगमसम्मत अर्थ है जिसकी प्राचीनता का प्राचीन वैदिक साहित्य भी प्रत्यक्ष साक्षी है।

(२) आगमों द्वारा चैत्य-शब्दार्थ-निर्णय

आगमों में उल्लेख किये गये चैत्य शब्द के अर्थ पर अगर तटस्थ मनोवृत्ति से स्वयं भी विचार किया जाय तो उसका चितास्थानीय स्मारक अर्थ साबित नहीं होता। उसका स्थल और नियुक्ति तो हमें

उसका जिनमन्दिर या जिनप्रतिमा अर्थ मानने के लिये ही बाधित कर रहे हैं। श्री भगवतीसूत्रगत “तहिं चेइयाइं वंदइ” और उपासक-दशांगगत “अन्नउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंत चेइयाइं” पाठों के चैत्य, चितास्थान पर के चबूतरे कभी सम्भव नहीं हो सकते। इन दोनों स्थानों के चैत्य शब्द का जिनप्रतिमा के सिवा न तो कोई दूसरा अर्थ संभव है न प्रकरणसंगत और नांही आगमसम्मत है। जैनागमानुसार मानुषोत्तर पर्वत, रुचिकवर द्वीप और नन्दीश्वरद्वीप आदि में विद्यमान इन शाश्वत चैत्यों को (जिन्हें सिद्धान्त में शाश्वती जिनप्रतिमाओं का नाम दिया है) मृतक पुरुषों की चिताओं पर के चबूतरे मानना हमारे ख्याल में जैनागमों और जैन सिद्धान्तों के विरुद्ध बड़ी से बड़ी बगावत करना है। जो व्यक्ति जैनागमों पर श्रद्धा नहीं रखता, अर्थात् उन्हें प्रामाणिक नहीं मानता, वह व्यक्ति अगर इस प्रकार की बात कह दे तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु जो महानुभाव इन्हें प्रामाणिक मान रहा हो और इनमें उल्लेख किये गये सिद्धान्तों का कायल हो उसका इस तरह का उल्लेख सिवाय सिद्धान्त की अवहेलना के और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। हम यह मानते हैं कि चैत्य का चितास्थान पर का चिन्ह भी उसका एक अर्थ हो सकता है, परन्तु यह भी अबाधित सत्य है कि उसके इस अर्थ को जैनागमों में कोई स्थान नहीं मिला। तब इस प्रकार से चैत्य शब्द का आगमसम्मत प्रतिमा अर्थ प्रमाणित हो जाने पर तदाश्रित मूर्तिवाद की विधेयता तो अपने आप ही सिद्ध हो जाती है अर्थात् उसकी आगमविहितता में कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता।

अंगसूत्रों में मूर्तिवाद का समर्थन

जहां तक हमने विचार किया है, अंगसूत्रों में भी मूर्तिवाद-समर्थक उल्लेखों की कमी नहीं है, और हमारे मित्र ने उसके लिये

जो अंगसूत्रों का आग्रह किया है वह भी रहस्यपूर्ण है। कारण कि अंग-सूत्रों से भिन्न उपांग आदि में तो मूर्तिवाद से सम्बन्ध रखने वाले उल्लेख इतने स्पष्ट हैं कि उन पर से होने वाली मूर्तिवादकी विधेयता का अपलाप किसी प्रकार से भी शक्य नहीं, जब तक की उन्हें अप्रामाणिक न कह दिया जाय। इस बात से हमारे मित्र भी अज्ञात नहीं हैं। उन्होंने इस बात को ध्यान में रखकर ही अंगसूत्रों के नाम का निर्देश किया है अन्यथा वे आगम सामान्य का उल्लेख करने से कभी संकोच न करते। हमारे विचारानुसार अंगसूत्रों से अतिरिक्त उपांग आदि सूत्रों में मूर्तिवाद-विषयक जितने उल्लेख हैं वे इतने असंदिग्ध हैं कि उनकी विद्यमानता में मूर्तिवाद का अपलाप करना आपके लिये सुशक्य नहीं था। इसके अलावा एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। आपने हर जगह पर मूर्ति के लिये केवल अंगसूत्र के ही विधिवाक्य की जिज्ञासा की है, आप मूर्तिवाद के विरोध में बार बार यही लिखते हैं कि उसका समर्थक कोई अंगसूत्र का विधिवाक्य नहीं है, एवं किसी भी अंगसूत्र में मूर्तिवाद-विधायक उल्लेख नहीं है। इस पर से दो बातें फलित होती हैं—१ अंगसूत्रों से भिन्न उपांगादि में मूर्तिवाद के समर्थक उल्लेख हैं, २ अंगसूत्रों में मूर्तिवाद के समर्थक उल्लेख तो हैं परन्तु वे विधिरूप नहीं किन्तु अनुवाद रूप हैं, या और किसी प्रकार से मूर्तिवाद के विधायक हैं। यह बात आपके द्वारा उल्लेख किये गये ‘अंगसूत्र के विधिवाक्य’ इन शब्दों से सूचित होती है। तो क्या इससे हम यह समझने के लिये बाधित नहीं होते कि आपको केवल ग्यारह अंग ही मान्य हैं, उनसे भिन्न उपांगादि को आप प्रामाणिक नहीं मानते। इस दशा में यदि हम किसी उपांगादि से मूर्तिवाद की विधेयता प्रामाणिक करने का यत्न करें तो आप उसे स्वीकार करेंगे या अस्वीकार; इसका निश्चय करना बाकी

रह जाता है। एवं आपका “विधिवाक्य” शब्द भी रहस्यपूर्ण है। परन्तु आप यह भूल जाते हैं कि जैनागमों में गृहस्थधर्म का उल्लेख प्रायः अनुवाद रूप में किया है। जिस प्रकार साधु साध्वी के लिये “कप्पइ णो कप्पई” आदि वाक्यों के द्वारा विधि-निषेधरूप से उनके आचारों का आगमों में निर्देश किया गया है वैसा श्रमणोपासक-ध्रावक धर्म के लिये विधि-निषेधरूपेण उल्लेख देखने में नहीं आता। इस पर से हम तो इसी निश्चय पर पहुँचे हैं कि जैनागमों में या निर्ग्रन्थ प्रवचन में मुख्यता मुनिधर्म को ही प्राप्त है, गृहस्थ-धर्म का तो उसमें आनुषंगिक वर्णन है वह भी प्रायः अनुवादरूप में ही। अस्तु, कुछ भी हो; हमने तो सब से पहले अंगसूत्रों को देखना है और यह निश्चय करना है कि क्या वास्तव में ही अंगसूत्रों में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है कि जिस से प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से मूर्तिवाद की विधेयता प्रमाणित हो सके। इस विषय में हमारे और आपके (पं० बेचरदास जी के) दृष्टिकोण में बहुत अन्तर है। हम तो अंगसूत्रों में भी ऐसे अनेक उल्लेख देखते हैं कि जिनसे मूर्तिवाद की एक या दूसरे प्रकार से विहितता प्रमाणित होती है जब कि आपको उनमें—अंगसूत्रों में इस विषय का एक अक्षर भी उपलब्ध नहीं होता। हमारे विद्वान् मित्र ने मूर्तिवाद की अंगविहितता का (आगमविहितता का नहीं) बड़े प्रबल शब्दों में विरोध किया है (१)। इससे भी अधिक आपने

(१) इसके लिये देखो निम्नलिखित उल्लेख—

(क) ‘मैंने बहुत कोशिश की तथापि परम्परा और “बाबा वाक्यं प्रमाणं” के सिवा मूर्तिवाद को स्थापित करने के सम्बन्ध में मुझे एक भी प्रमाण या विधान नहीं मिला’ (पृ० १७२)

(ख) “मैं यह बात हिम्मत पूर्वक कह सकता हूँ कि मैंने मुनियों या

वर्तमान समय के मूर्तिपूजक विद्वानों और आचार्यों को बड़े स्पष्ट शब्दों में ललकारा है और एक प्रकार से उन्हें शास्त्रार्थ के लिये आव्हान (Challenge) किया है । आप लिखते हैं—

(“हूं आपणा समाजना धुरंधरों ने नम्रता पूर्वक विनंति करुं छुं के तेओ मने तें विषेनुं एक पण प्रमाण वा प्राचीन विधान-विधिवाक्य बतावशे तो हूं तेओनो ऋणी थईश” इत्यादि पृ० १२७) ।

यह तथा इसी प्रकार के अन्य उल्लेख मूर्तिवाद सम्बन्धि आपकी शास्त्रीय मान्यता के लिये किसी अन्य स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखते । जैन-परम्परा के इस अत्यन्त प्राचीन और शास्त्रीय सिद्धान्त का इतना तीव्र विरोध या प्रतिवाद एक मूर्तिपूजक जैन विद्वान् करे, यह भी वर्तमान युग के विचार-स्वातंत्र्य वातावरण का एक अनूठा उदाहरण है । हमारे ख्याल में तो जैन-परम्परा के मूर्तिपूजक विद्वानों में यह पहला ही अवसर है, इससे पूर्व तो शायद किसी विद्वान् को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ । अस्तु, कुछ भी हो, अगर जैनागमों से मूर्तिवाद की विधेयता प्रमाणित नहीं होती (जैसा कि हमारे मित्र कह रहे हैं) तो उसके लिये किसी भी विचारशील को आग्रह नहीं करना चाहिये और कम से कम हमें तो इस विषय में किसी प्रकार का आग्रह नहीं है । हमें अगर आपके इन मूर्तिपूजा-विरोधी उल्लेखों में अमुक प्रकार के पक्षपात का आभास न होता, और उनकी शास्त्री-

श्रावकों के लिये देवदर्शन या देवपूजा का विधान किसी भी अंगसूत्र में नहीं देखा ॥ (पृ० १७४)

(ग) “मैं अपने समाज के धुरन्धर कुलगुरुओं से नम्रता पूर्वक यह प्रार्थना करता हूँ कि यदि वे मुझे इस विषय का एक भी प्रमाण या प्राचीन विधिवाक्य बतलायेंगे तो मैं उनका विशेष ऋणी होऊंगा ।” (पृ० १७४)

यता या ऐतिहासिकता के बदले किसी प्रकार का मतभेद न होता तो हम प्रतिवाद के बदले इनका मुक्तकंठ से पूरा पूरा समर्थन करते । परन्तु क्या करें हम विवश हैं, हमारी दृष्टि में वस्तुस्थिति इसके प्रतिकूल है ।

अब हम आगे के उल्लेख में यह देखेंगे कि आगमों में मूर्तिवाद का समर्थन कहाँ और किस रूप में है । यह तो निर्विवाद ही है कि उनमें आगमों में मूर्तिवाद के विरुद्ध कोई उल्लेख नहीं है और विधायक उल्लेखों के विषय में भी जो विवाद है उसका निराकरण चैत्य शब्द के जिनप्रतिमा अर्थ प्रमाणित हो जाने से हो जाता है । जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं कि अगर आगमप्रयुक्त चैत्य शब्द का जिनप्रतिमा या जिनमन्दिर अर्थ आगमसम्मत और प्रमाणपुरस्सर है तो तदाश्रित मूर्तिवाद की विहितता के लिये कोई अलग विधिवाक्य ढूँढने की आवश्यकता नहीं है । आगमों अर्थात् अंग और उपांगादि में जितने भी उल्लेख विद्यमान हैं वे विधिरूप या अनुवादरूप कुछ भी हों, किन्तु उनसे मूर्तिवाद का समर्थन भली भाँति होता है । आगमों की जो वर्णनशैली है उसको देखते हुए मूर्तिवाद से सम्बन्ध रखने वाले पाठों का यदि तटस्थ मनोवृत्ति से पर्यालोचन करें तो ज्ञात होगा कि वे मूर्तिवाद की विधेयता—विधिनिष्पन्नता के पूरे समर्थक हैं ।

कुछ उदाहरण लीजिये :—

(क) उपासकदशा नम के सातवें अंग में आनन्दश्रावक श्रमण भगवान् महावीर से कहता है कि “भगवन् ! आज से मुझे अन्यमत के अर्थात् जैनमत से भिन्नमत के आचार्यों और अन्यमत के देवों—हरिहरादि की प्रतिमाओं, तथा अन्य मतवालों के द्वारा ग्रहण की गई—स्वदेव के नाम से अपनाई गई अरिहन्त प्रतिमा को भी वन्दना

नमस्कार करना नहीं कल्पता (१)'' इस कथन में अन्ययूथिक परिगृहीत अर्थात् अन्य मत वालों ने ग्रहण की हुई अरिहन्त प्रतिमा को वन्दना नमस्कार करने का निषेध, अरिहन्त प्रतिमा की सत्ता और उसकी वन्दनीयता ये दोनों बातें प्रमाणित करता है, कारण कि 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः' (प्राप्त होने पर ही निषेध किया जाता है) इस सर्वानुभव सिद्ध लौकिक न्याय से सर्वत्र प्राप्त वस्तु का ही निषेध इष्ट है, अप्राप्त का नहीं। तब यहां पर अन्यमत परिगृहीत जिनप्रतिमा को वन्दना का निषेध करने से तद्भिन्न प्रतिमा अर्थात् स्वमत-परिगृहीत जिनप्रतिमा को वन्दना का अधिकार स्वतः एवं प्राप्त हो जाता है। अगर उस समय तीर्थंकर प्रतिमायें विद्यमान न होतीं और उनकी पूजा प्रचलित न होती तो मूल आगम में "अन्नउत्थियपरिग्गहियाणि अरिहन्त-चेइयाइं" इस पाठ के उल्लेख की आवश्यकता ही न होती। अतः इस पाठ से सूचित ही नहीं किन्तु सिद्ध होता है कि आनन्दश्रावक के समय में तीर्थंकर प्रतिमायें अधिक संख्या में विद्यमान थीं और श्रमणोपासकों द्वारा वे विधिपूर्वक पूजी जाती थीं, एवं कहीं कहीं पर अन्य मत के अनुयायियों ने तीर्थंकर प्रतिमा को ले जाकर अपने देव के नाम से अपनी विधि के अनुसार उसकी—तीर्थंकर प्रतिमा की पूजा भी आरम्भ कर दी थी। अगर ऐसी प्रतिमा को तीर्थंकर प्रतिमा समझ कर यदि कोई श्रमणोपासक वन्दना नमस्कार करे तो इससे मिथ्यात्व को उत्तेजन मिलने की संभावना है। एतदर्थ उसको वन्दना नमस्कार

“नो खलुमे भंते ! कप्पइ अज्जप्पभिइ, अन्नउत्थिए वा उन्नउत्थिय देवयाणि वा अन्नउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहन्त चेइयाइं वा वंदित्तए वा नमंसित्तए वा” (समिति पृ० १२)

छा०—नो खलु मे भगवन् ! कल्पते अद्य प्रभृति अन्ययूथिकान् अन्ययूथिक-देवतानि वा अन्ययूथिकपरिगृहीतानि अहंच्चैत्यानि वन्दितुं वा नमस्यितुं वा ।

करने का उक्त पाठ द्वारा निषेध किया गया है , परन्तु यह निषेध तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता, जब तक कि तीर्थंकर प्रतिमा और उसकी मूर्जा की प्रवृत्ति विशेष रूप से प्रचार में न आ चुकी हो । तथा उपासकदशा के इस उक्त पाठ में तीर्थंकर प्रतिमा के साथ “अन्य-यूथिक परिगृहीत” विशेषण लगाने से उसकी अर्थात् स्वमतपरिगृहीत तीर्थंकर प्रतिमा की पूज्यता अपने आप ही सिद्ध हो जाती है । यह अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा निषेध से उत्पन्न हुआ विधिवाक्य है जिससे मूर्तिवाद की विधेयता प्रमाणित होती है । इस प्रकार निषेध में संनिष्पन्न होने वाला परम्परागत विधिवाद तब तक अप्रामाणिक नहीं हो सकता, जब तक कि उसके प्रतिषेधार्थ कोई साक्षात् वाक्य उपस्थित न हो । अपिच, इससे अधिक स्पष्टीकरण इस विषय का औपपातिकसूत्र के निम्नलिखित पाठ से होता है—

“अंबडस्सणं परिवायगस्स नो कप्पइ अण्णउत्थिए वा अण्णउत्थियदेवयाणि वा अण्णउत्थिय परिग्गहियाइं अरिहंतचेइयाइं वा वंदित्ताए वा नमंसित्ताए वा जाव पज्जुवासित्ताए वा णण्णत्थ अरिहन्ते वा अरिहंतचेइयाणि वा” इत्यादि । (समिति पृ० ९७)

गौतमस्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—हे गौतम ! अम्बड़परिव्राजक को अरिहन्त और अरिहन्त की प्रतिमा के सिवा और किसी भी मत के देवताओं को वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता, यहां तक कि यदि किसी ने तीर्थंकर प्रतिमा को अपने देव के नाम से अपने मन्दिर में प्रतिष्ठित कर लिया हो तो अम्बड़ उस को भी वन्दना नमस्कार नहीं करेगा । तात्पर्य कि उसे अम्बड़ परिव्राजक को तीर्थंकर और तीर्थंकर की प्रतिमा के अतिरिक्त और कोई भी वन्दनीय नहीं है । उसे एकमात्र किन्तु

तीर्थंकर और तीर्थंकर की प्रतिमा ही वन्दनीय है। जो कि—“नन्नत्थ अरिहंते वा अरिहंतचेइयाणि वा” इस उल्लेख से भली भांति सिद्ध होता है। तथा इस उल्लेख से यह तो स्पष्ट सिद्ध है कि उस समय अन्य मतों की तरह जैनमत में भी मूर्ति की उपासना अर्थात् तीर्थंकर प्रतिमा की पूजा का काफी प्रचार था। अगर जैन-परम्परा में उस समय जिनमन्दिरों का निर्माण और जिनप्रतिमाओं की स्थापना न हुई होती एवं उनकी उपासना प्रचलित न होती तो अम्बड़परिव्राजक के विषय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के इस विधेय-रूप कथन का (“हे गौतम ! अम्बड़परिव्राजक को अरिहन्त और अरिहन्त की प्रतिमा के सिवा और किसी को भी वन्दना नमस्कार करना नहीं कल्पता”) कुछ भी मूल्य नहीं रहता। वह बिलकुल अनर्गल और मिथ्याप्रलाप-सा बन कर रह जाता है, जिस की कि किसी विचारशील व्यक्ति को कभी संभावना भी नहीं हो सकती।

हमारे विचार से तो उपासकदशा और औपपातिक इन दोनों आगमों के उक्त अभिलेख, जैनपरम्परा में प्रचलित मूर्तिवाद को आगमविहित आगमसम्मत प्रमाणित करने के लिये अपने अन्दर असाधारण बल रखते हैं। अगर जैन-परम्परा में मूर्तिवाद को कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त न होता, एवं उसकी प्रवृत्ति मात्र गतानुगतिकता पर ही अवलम्बित होती अर्थात् वह विधनिष्पन्न या शास्त्रीय न होती तो इन अभिलेखों की उपपत्ति भी किसी प्रकार से नहीं हो सकती। अगर आगमों के समय में जिनप्रतिमा विद्यमान ही नहीं थी तो उसको वन्दना नमस्कार का विधान या अमुक प्रकार की (अन्यमतपरिगृहीत) जिन प्रतिमा को वन्दना नमस्कार करने का निषेध ये दोनों विधि निषेध उसके लिये कैसे लागू किये जा सकते हैं ? “सति कुड्ये चित्रम्” इन न्याय से जिनप्रतिमा और उसकी पूजा की सत्ता को

स्वीकार किये बिना न तो वन्दना नमस्कार का विधान हो सकता है और ना ही उसका निषेध किया जा सकता है, परन्तु आगम में इसका उल्लेख विद्यमान है। ऐसी दशा में आगमगत पाठ की उपपत्ति के लिये यह बलात् स्वीकार करना होगा कि श्रमणोपासक आनन्द और परिव्राजक अम्बड़ के समय में जैसे अन्य मत वालों में मूर्तिपूजा प्रचलित थी उसी भान्ति जैनसम्प्रदाय में भी उसका सुविहित प्रचार था। इसके अतिरिक्त उस समय जैनप्रतिमायें इतनी सर्वप्रिय हो चुकी थीं कि अन्यमत के अनुयायी लोग उनको अपने मन्दिरों में अपने देव के नाम से प्रतिष्ठित करके पूजने लग पड़े थे। यह बात "अन्यमत-परिगृहीत जिनप्रतिमा" आदि के अभिलेख से सिद्ध होती है।

अतः जहां तक हम समझ पाये हैं वहां तक उपासकदशा और औपपातिकसूत्रगत उक्त अभिलेखों से मूर्तिवाद की विधेयता प्रमाणित होने में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं रहता। ये दोनों ही लेख मूर्तिवाद के विधायक अथवा समर्थक हैं, पहला निषेध प्रतिफलित-विधिरूप से मूर्तिवाद का समर्थक है, जब कि दूसरे में निषेध-प्रतिफलित विधिवाद और स्वतंत्र विधिवाद दोनों ही समन्वित हैं, अतः ये दोनों ही पाठ विधायक हैं, अनुवाद मात्र नहीं हैं। इस पर भी यदि हमारे विद्वान् बन्धु को आगमों में मूर्तिवाद का समर्थक कोई विधिवाक्य नहीं मिलता तो हमारे ख्याल में यह आगमों का दोष नहीं, यह तो उनकी आग्रहप्रसिद्ध अदूरदर्शिनी दृष्टि का ही दोष समझना चाहिये।

(ख) इसके अतिरिक्त जैनागमों के पर्यालोचन से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय जिन-मन्दिर पर्याप्त मंख्या में विद्यमान थे और उनमें प्रतिष्ठित जिनप्रतिमायें पूजी जाती थीं। स्थानांग, जीवाभिगम तथा राजप्रश्नीयादि सूत्रों में सिद्धायतनों, शाश्वत जिनभवनों

और जिनप्रतिमाओं के उल्लेख तो भरतक्षेत्र से अतिरिक्त क्षेत्रों—
नन्दीश्वरद्वीप तथा देवलोक आदि में भी जिनप्रतिमाओं का अस्तित्व
प्रमाणित कर रहे हैं (१) । “एवं च नन्दीश्वरद्वीपे अंजनकदधि-
मुखेषु (४-१६) विंशतिजिनायतनानि भवन्ति, अत्र च देवाः
चातुर्मासिकप्रतिपत्सु साम्बत्सरिकेषु चान्येषु च बहुषु जिनजन्मादिषु
देवकार्येषु समुदिता अष्टाह्निकामहिमाः कुर्वन्तः—सुखं सुखेन विह-
रन्तीत्युक्तं जीवाभिगमे ।” (स्था० २।४ अभयदेवसूरि)

अर्थात् इस प्रकार नन्दीश्वरद्वीप में अंजनक और दधिमुख पर्वतों
पर बीस जिनायतन-शाश्वत जिनभवन निश्चित होते हैं, यहां पर
देवता लोग चतुर्मास की प्रतिपदाओं, साम्बत्सरिक पर्वों, तीर्थंकर के
जन्मादि कल्याणकों तथा अन्य देवकार्यों पर एकत्रित होकर अष्टाह्नि-
कामहोत्सव (अट्ठाई महोत्सव) करते हुए आनन्दपूर्वक विचरते हैं
ऐसा जीवाभिगमसूत्र में कहा है (२) ।

इस प्रकार देवलोक के शाश्वत जिनभवनों और तिर्यक लोक के
शाश्वत एवं अशाश्वत अर्थात् अकृत्रिम और कृत्रिम जिन विम्बों—
जिनप्रतिमाओं के आगमगत उल्लेखों पर से जैनपरम्परा में मूर्तिवाद

(१) (क) देखो—स्थानांगसूत्र (आगमोदयसमिति) पृ० २३०-२३२ ।

(ख) , — जीवाभिगम-विजयदेवाधिकार और नन्दीश्वर
द्वीप अधिकार में ।

, — राजप्रश्नोय—सूर्याभदेव के वर्णन प्रकरण में—

(२)—तत्थ णं बह्वे भवण वइ वाणमंतर जोतिसिय बेमाणिया
देवा चाउमासिया पडिबएसु संवच्छरिएसु वा अण्णेषु बहुसु जिणजम्मण
निक्खमणाणुप्पत्ति निव्वाणमादिएसु य बेवकज्जेसु या × × × × एगं—तओ
सहिता समुवागता समाणा पमुदितपक्कीलिया आट्ठाहिता रूवाओ महा-
महिमाओ करेमाणा पालेमाणा सुहं सुहेणं विहरंति (पृ० ३५७ समिति)

को कितना समर्थन प्राप्त है इसकी कल्पना सहज में कीजा सकती है । व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) नाम के पांचवें अंग में लब्धिसम्पन्न मुनियों की ऊर्ध्व और तिर्यग्गति के विषय में गौतमस्वामी के प्रश्न के उत्तर में श्रमणभगवान् महावीर स्वामी ने जो कुछ कहा है उसको देखते हुए कोई भी विचारशील बुद्धिमान् व्यवित यह कहे बिना नहीं रह सकता कि जैनपरम्परा के प्राचीनतम मूल आगमों में मूर्तिवाद अर्थात् जिनप्रतिमा को अधिक से अधिक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त है । लब्धि-सम्पन्न मुनियों की यात्राविषयक वह प्रश्नोत्तर जहां मूर्तिवाद का समर्थक है वहां मनोरंजक भी है । पाठक देखें वह इस प्रकार है—

१ प्रश्न—विज्जाचारणस्स णं भंते ! तिरियं के-
ववतियं गतिविसये पन्नते ? (१)

उत्तर—गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं माणु-
सुत्तरे पव्वएसमोसरणं करेति, माणु २ करेत्ता तहिं चेइयाइं
वंदति, तहिं २ वंदिता वितिणं उप्पाएणं नंदीसरवरे दीवे
समोसरणं करेति, नंदि स० २ करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति,
तहिं २ वंददित्ता तओ पडििनियत्तित्ता, तओपडििनियत्तित्ता
इह मागच्छइ, आगच्छित्ता इह चेइयाइं वंदति । विज्जा-
चारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवतिए गतिविसए पन्नसे ।

(१) छा० प्रश्न—विद्याचारणस्य णं भगवन् ! तिर्यक् कियान्
गतिविषयः प्रज्ञप्तः ?

उत्तर—गौतम ! स इतः एकेन उत्पातेन मानुषोत्तरे पर्वते समवसरणं
करोति मानुषोत्तरपर्वते समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि वन्दते तत्र चैत्यानि
वंदित्वा द्वितीयेन उत्पातेन नन्दीश्वरवरे समवसरणं करोति, नन्दीश्वरवरे
समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि वन्दते तत्र चैत्यानि वन्दित्वा ततः प्रतिनिवर्तते
ततः प्रतिनिवृत्य अत्र आगच्छति अत्र आगत्य अत्र चैत्यानि वन्दते । विद्या-
चारणस्य गौतम ! तिर्यग् एतावान् गतिविषयः प्रज्ञप्तः ।

२. प्रश्न—विज्जाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ? (१)

उत्तर—गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं नंदण-
वणे समोसरणं करेइ, नंद० २ करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदति
तहिं० २ वंदित्ता वितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं
करेइ, पंडग० २ करेत्ता तहिं चेइयाइं वंदइ, तहिं० २
वंदित्ता तओ पडिनियत्तात्ति तओ पडिनियत्तात्ता इह
मागच्छइ इहमागच्छित्ता इहं चेइयाइं वंदति । विज्जा-
चारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवतिए गतिविसए पन्नत्ते
(श० २० उ० ९)

भावार्थ—लब्धिसम्पन्न विद्याचारण और जंघाचारण की तिर्यक्
और ऊर्ध्वगति-विषयक प्रश्न पूछते गौतम स्वामी कहते हैं—हे
भगवन् ! विद्याचारण की तिर्यक्-तिरछी गति का विषय कितना
है ? इसके उत्तर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं—
हे गौतम ! वह विद्याचारण एक उत्पात से (कदम से) मानुषोत्तर
पर्वत पर समवसरण स्थिति करता है—वहां पहुंचता है, पहुंच कर वहां

(१) प्रश्न—विद्याचारणस्य भगवन् ! ऊर्ध्वं कियान् गतिविषयः प्रज्ञप्तः ?

उत्तर—गौतम ! सः इतः एकेन उत्पातेन नन्दनवने समवसरणं करोति,
नन्दनवनं समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि वन्दते, तत्र चैत्यानि वन्दित्वा द्वितीयेन
उत्पातेन पांडुकवने समवसरणं करोति, पांडुकवने समवसरणं कृत्वा तत्र चैत्यानि
वन्दते तत्र चैत्यानि वन्दित्वा ततः प्रतिनिवर्तते ततः प्रतिनिवृत्य अत्रागच्छति
अत्रागत्य अत्र चैत्यानि वन्दते । विद्याचारणस्य गौतम ! ऊर्ध्वं एतावान् गतिवि-
षयः प्रज्ञप्तः ।

विद्यमान चैत्यों (अरिहंत प्रतिमाओं) को वन्दना करता है, वन्दना करके दूसरे उत्पात से नन्दीश्वरद्वीप में पहुँचता है, पहुँच कर वहाँ पर रहे हुए चैत्यों को वन्दना करता है, वन्दना करके फिर वह यहाँ आता है और यहाँ के चैत्यों को वन्दना करता है। हे गौतम! विद्या-चारण की तिरछी गति एतावन्मात्र विषय कहा है।

प्रश्न—हे भगवन् ! विद्याचारण की ऊर्ध्वगति का विषय कितना कहा है ?

उत्तर—हे गौतम ! विद्याचारण एक उत्पात से नन्दनवन में समवसरण-स्थिति करता है और वहाँ पर विद्यमान चैत्यों को वन्दना करता है, फिर दूसरे उत्पात से वह पांडुक वन में पहुँचता है और वहाँ के चैत्यों को वन्दना करता है, वहाँ के चैत्यों को वन्दना करके पीछे लौटकर वह यहाँ आता है और यहाँ पर विद्यमान चैत्यों को वन्दना करता है। हे गौतम ! विद्याचारण की ऊर्ध्व गति का इतना विषय कहा है।

इसी प्रकार का जंघाचारण की तिर्यग् और ऊर्ध्वगति के विषय का अभिलेख है। इस उल्लेख से मानुषोत्तर पर्वत, नन्दीश्वरद्वीप, नन्दनवन और पांडुकवन आदि में तथा यहाँ पर (भरतक्षेत्र से) चैत्यों अर्थात् जिनप्रतिमाओं के अस्तित्व में तो कोई सन्देह नहीं रहता अर्थात् उस समय इन स्थानों में जिनप्रतिमायें विद्यमान थीं यह सुनिश्चितरूप से सिद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रमाणित हो जाता है कि ये जिनभवन या जिनप्रतिमायें वहाँ पर केवल नुमाइश के लिये प्रदर्शनार्थ ही नहीं थे, किन्तु वन्दना और पूजा के लिये प्रतिष्ठित थे। उनमें मानुषोत्तर आदि के शाश्वत जिनबिम्बों के दर्शन और पूजा सेवा का लाभ देवों, विद्याधरों और लब्धिसम्पन्न मुनियों को ही प्राप्त हो सकता था (साधारण मनुष्यों की

वहां गति नहीं जब कि यहां पर रहे हुए अशाश्वत चैत्यों की सेवा पूजा का लाभ यहां के श्रद्धालु मनुष्य भी प्राप्त करते थे । इसके अतिरिक्त उक्त अभिलेख के प्रश्नोत्तर पर से एक बात और भी विचार करने योग्य है—गौतमस्वामी ने भगवान् से विद्याचारण और जंघाचारण आदि लब्धिसम्पन्न मुनियों की गतिविषयक प्रश्न किया है । इसका उत्तर तो इतना ही हो सकता था कि विद्याचारण अथवा जंघाचारण लब्धिसम्पन्न मुनि एक कदम से मानुषोत्तर पर्वत पर पहुँच जाता है, दूसरे से नन्दीश्वरद्वीप और तीसरे से यहां पर आ जाता है । इतना अनुरूप और संक्षिप्त उत्तर न देकर; मानुषोत्तर पर्वत आदि पर रहे हुए चैत्यों को वन्दना करने एवं वापिस आने पर यहां के चैत्यों को वन्दना करने का जो वर्णन किया गया है तथा विद्याचारण की ऊर्ध्वगति में नन्दनवन और पाण्डुकवनगत चैत्यों को वन्दना करके लौटते समय यहां के चैत्यों को वन्दना करने का जो विधान है वह अवश्य ही रहस्यपूर्ण है । साधारणतौर पर देखने से तो भगवान् का उत्तर गौतम के प्रश्न के अनुरूप प्रतीत नहीं होता, परन्तु व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे प्रामाणिक अंगसूत्र में प्रयुक्त हुए इस प्रकार के अभिलेख को किसी प्रकार से असंगत नहीं ठहराया जा सकता । श्रमण भगवान् महावीर स्वामी गौतमस्वामी के प्रश्न का अनुरूप उत्तर न दें यह कभी सम्भव ही नहीं हो सकता । जिस अंग की रचना सर्वज्ञकल्प सुधर्मास्वामी जैसे महापुरुष करें, उसमें इस प्रकार की त्रुटि की कभी सम्भावना नहीं की जा सकती । अतः जहां तक हम समझ पाये हैं हमारे अभिप्रायानुसार तो गौतमस्वामी का प्रश्न और भगवान् का उत्तर दोनों ही साभिप्रायक और रहस्यमय हैं ।

जैनसिद्धान्तानुसार मानुषोत्तर पर्वत और नन्दीश्वर आदि द्वीपों में देवों, विद्याधरों और लब्धिसम्पन्न मुनियों के सिवा कोई साधारण मनुष्य नहीं जा सकता । एवं लब्धिधारी मुनि भी वहां पर चैत्यों के अभिवन्दनार्थ ही जाते हैं । दूसरे शब्दों में कहें तो उनके वहां जाने का एकमात्र यही प्रयोजन है, इसके सिवा वे और किसी उद्देश्य से वहां नहीं जाते । तात्पर्य कि विद्याचारण और जंघाचारण मुनियों का गमन वहां की शाश्वत जिनप्रतिमाओं के वन्दनार्थ ही होता है । तब वे लब्धिधारी मुनि, तिर्यग् या ऊर्ध्व गति से कितने समय पर इन स्थानों में पहुंचते और पहुँच कर वहां के चैत्यों—शाश्वत जिनभवनों को वन्दना करके यहां लौटते हैं । यह गौतमस्वामी के, लब्धिधारक मुनियों की गतिविषयक किये गये प्रश्न का अभिप्राय है, जिसका उत्तर श्रमण भगवान् महावीरस्वामी ने उपर्युक्त शब्दों में दिया जो प्रश्न के सर्वथा अनुरूप ही प्रतीत होता है ।

भगवान् के उत्तर का ध्यानपूर्वक अवलोकन करते हुए यह कहना पड़ेगा कि हमारे विद्वान मित्र का यह कथन कि—“हमारे पूर्वजों ने चैत्यों को पूजा के लिये नहीं किन्तु मरे हुएों की यादगार के लिये बनाया था” अपने अन्दर कुछ भी सार नहीं रखता । और उक्त स्थानों के चैत्यों को मृतक पुरुषों के दाहस्थल की राख या उस पर बना हुआ चवूनरा कहना व मानना तो हमारे ख्याल में शास्त्रीय ज्ञान की पूरी-पूरी अवहेलना करना है । अतः हमारे विचारानुसार तो व्याख्याप्रज्ञप्ति का यह प्रश्नोत्तररूप उक्त अभिलेख मूर्तिवाद का पूरा-पूरा समर्थक है ।

“दुर्जनतोषन्यायेन” थोड़ी देर के लिये हम यह भी मान लेते हैं कि आगमों यानि अंगसूत्रों में मूर्तिपूजा का कोई विधायक—

साक्षात् विधिरूप वाक्य नहीं है और इसके साथ-साथ यह भी स्वीकार कर लेते हैं कि विद्याचारणादि लब्धिसम्पन्न मुनियों का यह आचार सबके लिये विधेय अर्थात् कर्तव्यरूप नहीं माना जा सकता, इसी प्रकार सती द्रौपदी के द्वारा किया गया प्रभुप्रतिमा (१) का पूजन भी विधेयरूप नहीं है। परन्तु इस तथा इस प्रकार के दूसरे अभिलेखों से यह तो स्पष्ट सिद्ध होता है कि आगमों के समय में यहां पर बहुलता से जिनमन्दिर विद्यमान थे और उनमें प्रतिष्ठित जिन-प्रतिमाओं की विधी सहित पूजा भी प्रचलित थी। इस पूजा के लिये निषेधात्मक एक भी वाक्य किसी आगम (फिर वह अंग हो या उपांग) में नहीं मिलता, प्रत्युत कहीं पर निषेध निष्पन्न विधिरूप से (आनन्दाधिकार में) कहीं विधिरूप से (अम्बड़ के अधिकार में) और कहीं पर चरितानुवादगर्भित विधिरूप से (लब्धिसम्पन्न जंघाचारणादि मुनियों के अधिकार में) उसका उपयुक्त शब्दों में

(१) इसके लिये देखो ज्ञाताधर्मकथाङ्ग का निम्नलिखित पाठ—

“तएणं सा दोवइ रायवरकन्ना जेणेव मज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता मज्जणघरं अणुपविसइ अणुपविसइत्ता ण्हाया कयवलिकम्मा कय कोउ मंगल पायछित्ता सुद्धा पावेसाइ मंगलाइ वत्थाइ परिहियाइ, मज्जणघराओ पडिनिक्खमइ पडिनिक्खमइत्ता जेणेव जिणघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता जिणघरं अणुपविसइ अणुपविसइत्ता जिणपडिमाणं आलोयइ पणामं करेइ करेइत्ता लोमहत्थयं परामुसइ परामुसइत्ता एवं जहा सूरियाओ जिणपडिमाओ अच्छेइ अच्छेइत्ता तहेव भाणियब्बं जाव धूवं डहइ डहइत्ता वामं जाणुं अंचेइ अंचेइत्ता दाहिणं जाणुं धरणितलंसि णिवेसइ णिवेसइत्ता तिवखुत्तो मुद्धानं धरणितलंसि णिवेसेइ, निवेसइत्ता इसिपच्चुन्नमइ करयल जाव कट्टू एवं वयासी-णमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं जावसम्पत्ताणं वंदइ नमंसइ जिणघराओपडिनिक्खमइ”

(समित्तिवाला पृ० २१०)

भूरि-भूरि समयन ही देखने में आता ह । जहां पर किसी विषय के लिये कोई साक्षात् निषेध वाक्य उपलब्ध न हो वहां वर चरितानुवाद भी विधिरूप ही हो जाता है । इस दृष्टि से मूर्तिवाद-विषयक आगमों के अभिलेखों की पर्यालोचना की जावे तो वे मूर्तिवाद के विधायक ही सिद्ध होते हैं । तथा आनन्दश्रावक या अम्बड़ संन्यासी के लिये जो तीर्थंकर प्रतिमायें वन्दनीय हैं एवं विद्याचारणादि लब्धि-सम्पन्न मुनि जिन शाश्वती अरिहंत प्रतिमाओं को वन्दना करने के लिये मानुषोत्तरादि स्थानों पर जाते हैं और लौटते समय यहां के जिन अशाश्वत चैत्यों को वन्दना करते हैं । वे चैत्य-तीर्थंकर प्रतिमायें हमारे मित्र के लिए वन्दनीय या पूजनीय भले ही न हों, परन्तु इससे उनकी सत्ता और पूज्यता को अणुमात्र भी क्षति नहीं पहुँचती । तथा उनके आगमसिद्ध लोकव्यापी प्रचार का केवल कथनमात्र से अपलाप नहीं किया जा सकता, जब तक कि उसके लिये कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध न हो ।

आगमों के इन उपर्युक्त प्रमाणों से निष्पन्न होने वाली वस्तुस्थिति को ही हम चैत्यवन्दन करने के समय पढ़ी जाने वाली निम्नलिखित प्राकृत गाथा में प्रतिबिम्बित हुआ देखते हैं—

“यं किञ्चि नामतित्थं सग्गे पायालि माणुसे लोये जाइं जिणबिंबाइं ताइं सव्वाइं वंदामि” (१)

अर्थात् स्वर्ग, पाताल और मनुष्य लोक में जितने जिनबिम्ब-तीर्थंकर प्रतिमाएं हैं उन सबको मैं वन्दना करता हूं । एवं आचार्य हेमचन्द्र ने भी आगमगत इन्हीं वाक्यों के आधार

१ छा० यत्किञ्चिन्नाम तीर्थं स्वर्गे पाताले मानुषे लोके ।

यानि जिनबिम्बानि तानि सर्वाणि वन्दे ॥

पर निम्नलिखित एक श्लोक में तीर्थंकर प्रतिमाओं के प्रति अपने श्रद्धासंभार का निपुण परिचय दिया है। वह श्लोक इस प्रकार है।

अवनितलगतानां, कृत्रिमाकृत्रिमानां,
वरभवनगतानां, दिव्यवैमानिकानाम् ।

इह मनुजकृतानां, देवराजाचितानां,
जिनवरभवनानां, भावतोऽहं नमामि ॥१॥

अर्थात्—श्रेष्ठ ऐसे भवनपति देवों के भवनों में विराजमान, उत्तम देवविमानों में स्थित तथा इस तिर्यग् लोक में पृथ्वीतलगत मनुष्यों द्वारा निर्माण कराए गए, कृत्रिम-अशाश्वत तथा अकृत्रिम-शाश्वत ऐसे देवों और राजाओं अथवा देवराज-इन्द्रादि पूजित जिनभवनों को मैं भाव से नमस्कार करता हूँ। तात्पर्य कि स्वर्ग पाताल और मनुष्य लोक में तीर्थङ्करों के चैत्य विद्यमान हैं उनमें कितने एक तो शाश्वत और कितने एक अशाश्वत अर्थात् मनुष्यों के बनाये हुए हैं। ये सभी देवों और मनुष्यों द्वारा पूजे जाते हैं इन लोकत्रयवर्ती जिनभवनों, जिन-चैत्यों को आचार्य भाव से वन्दना करते हैं। तब इस सारे लेख संदर्भ को देखते हुए हम तो इसी नतीजे पर पहुंचे हैं (हम ही क्यों ? हर एक विचारशील विद्वान् इसी नतीजे पर पहुंचेगा) कि जैन-परम्परा के प्रामाणिक आगम-साहित्य में मूर्तिवाद अर्थात् जिन-प्रतिमा को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। प्राचीन आगमों के समय जिनप्रतिमा की पूजा का साधारण ही नहीं किन्तु लोकव्यापी प्रचार था ऐसा उपर्युक्त आगमों के अभिलेखों से निर्विवाद सिद्ध होता है।

पूजाविधि

इतना उल्लेख कर देने के बाद अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जिस प्रकार मूल आगमों (१) से मूर्तिवाद की सत्ता और पूज्यता प्रमाणित होती है उसी प्रकार उसकी पूजाविधि का भी कोई उल्लेख आगमों में है या कि नहीं? यूँ तो आगम (२) के आधार पर तीर्थङ्कर प्रतिमा को तीर्थङ्कर के तुल्य बतलाते (३) हुए आचार्य हरिभद्र सूरिजी ने इस विषय पर अर्थात् जिन-

(१) क—एवं खलु देवाणुपियाणं सूरियाभे विमाणे सिद्धायतणे जिणपडिमाणं जिणुस्सेह पमाणमेत्ताणं अट्ठसयं सन्निखित्ताणं चिट्ठइ ।

(रायपसेणिसुत्तम्)

ख—तत्थणं देवच्छंदए अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेह पमाणमेत्ताणं सन्निखित्ते चिट्ठए तासिणं जिणपडिमाणं अयमेयारूवे वण्णावासे पन्नत्ते (जीवा-भिगम सूत्र) इत्यादि आगम प्रमाण भी पूर्वोक्त आगम प्रमाणों के समान ही मूर्तिवाद की सत्ता के समर्थक हैं ।

(२) 'धूपं दाउन जिनवराणं' (धूपं दत्त्वा जिनवरेभ्यः)

(राजप्रश्नीयसूत्र पृ० २५५)

इस उल्लेख में जिनप्रतिमा को जिनवर के नाम से अभिहित किया गया है । इसका अर्थ है—“जिनेन्द्र देव को धूप देकर” आगम के इस उल्लेख में “जिनपडिमाणं” न कह कर जो “जिनवराणं” कहा गया है उससे ज्ञान होता है कि आगमकार महर्षियों को तीर्थंकर और तीर्थङ्कर प्रतिमा में अभेदभाव ही इष्ट है । दूसरे शब्दों में कहें तो उनके मत में तीर्थङ्कर मूर्ति की पूजा यह तीर्थङ्कर देव की ही पूजा है ।

(३) तम्हा जिणसारिच्छा, जिणपडिमासुद्ध जोय कारणया । तब्भत्तिए, लब्भए, जिणंद पूयाफलं भव्वो ॥ (सम्बोधप्रकरण देवपूजाधिकार)

अर्थात्—शुभ योग में कारणभूत होने से जिनप्रतिमा भी जिन के समान ही है, अतः उसकी भक्ति से भव्यात्मा को साक्षात् जिनेन्द्र की पूजा का ही फल प्राप्त होता है ।

प्रतिमा को जिनरूप समझ कर उसकी पूजा पूजाविधि और पूजा के फल आदि पर जो उल्लेख किया है उसको देखते हुए तो हमें पूजाविधि के भी आगमिक आगमसम्मत होने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। पूज्य हरिभद्रसूरि जी जैसे तटस्थ विद्वान् जिस विषय का कर्तव्य रूप से निर्देश करें और उसके लिये अधिक से अधिक जोरदार शब्दों का व्यवहार करें वह विषय आगमसम्मत न हो, यह तो हमारे कभी ध्यान में नहीं आ सकता (१) तो भी हमारे विद्वान् मित्र हमसे अधिक अनुभवी

(१) पूज्य हरिभद्रसूरिजी ने अपने सम्बोधप्रकरण नामके जिस ग्रन्थ में चैत्यवासियों की बहुत कड़ी आलोचना की है जिसका उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में हमारे मित्र ने भी किया है (देखो पृ० १२५) उसी सम्बोधप्रकरण में मूर्तिवाद के विषय में आचार्य हरिभद्रसूरि के अभिलेखों को देखते हुए यह कहना और मानना पड़ता है कि उनकी दृष्टि में जिनप्रतिमा की पूजा यह गृहस्थ के आचारमार्ग का एक विशिष्ट अंग है। उन्होंने जिनप्रतिमा को दर्शनशुद्धि का प्रधान कारण बतलाते हुए उसकी उपासना पर अधिक से अधिक भार दिया है। पाठकों के अवलोकनार्थ आपके सम्बोधप्रकरण ग्रन्थ में से ही कुछ श्लोक निचे उद्धृत किये जाते हैं।

(क) जम्हा जिणाणपडिमा, अप्पपरिणाम दंसणनिमित्तं ।

आयंसमंडलाभा, सुहासुइं झाणदिट्ठीए ॥ १ ॥

सम्मत्सुद्ध करणी, जणणीसुहजोग सच्चपहवाणं ।

निह्लिनी दुरियाणं, भव दवदड्ढ भवियाणं ॥ २ ॥

(ख) आरंभ पसत्ताणं गिहीण छज्जीव वह विरयाणं ।

भव अडवी निवड्डियाणं, दब्बत्थओ चेव आलम्बो ॥ १ ॥

जिण पूयणं तिसंझं, कुणमाणो सोहएइ सम्मत्तां ।

तित्थयर नामगुत्तां, पावइ सेणिय नरिदुब्ब ॥ २ ॥

जो पूएइ तिसंझं जिणंदरायं सया विगयदोसं ।

सो तइय भवे सिज्झइ, अहवा सत्ताट्ठमे जम्मे ॥ ३ ॥

अधिक आगमाभ्यासी एवं गंभीर गवेषक हैं। अतः उनके विचार में यह सब कुछ यदि आगमबाह्य अथच निर्मूल है तो कोई आश्चर्य नहीं है।

(ग) सालंबग ज्ञाणाओ, ज्ञाण मणालंबणं हविज्ज सया।

कि बहुणा भणिणं, सासय सुहकारिणी पूया ॥ १ ॥

इन गाथाओं का भावार्थ क्रमशः इस प्रकार है—

(क) परिणाम विशुद्धि के लिये शुभाशुभ ध्यान की दृष्टि से जिन प्रतिमा एक स्वच्छ दर्पण के समान हैं। वह सम्यक्त्व को निर्मल करने वाली और सत्यप्रभव शुभयोग की जननी एवं संसार रूप बन दावानल-दग्ध भव्यजीवों के पापों का नाश करने वाली है।

(ख) भव रूप संसाराटवी में भटकने वाले और षट्काय की हिंसा से आरम्भ में आसक्त ऐसे गृहस्थों के लिये यह ब्रह्मस्तव अर्थात् जिनेन्द्रदेव की पूजा ही आलम्बनभूत है। इसलिये निरन्तर तीन काल में जिनेश्वर देव की पूजा करने वाले श्रेणिक राजा की तरह जो श्रद्धालु गृहस्थ जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है वह सम्यक्त्व को निर्मल करता है और तीर्थंकर गोत्र को प्राप्त करता है। एवं जो गृहस्थ प्रतिदिन सर्वदोष-रहित श्रीजिनेश्वरदेव की भाव सहित पूजा करता है वह तीसरे अथवा सातवें या आठवें भव में सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है।

(ग) निरालम्बन ध्यान की उत्पत्ति सदा सालम्बन ध्यान से ही होती है अर्थात् जब तक साधक व्यक्ति, सालम्बन ध्यान के द्वारा मन की एकाग्रता सम्पादन नहीं करता, तब तक वह निरालम्बन ध्यान का अधिकारी नहीं हो सकता; इसलिए सर्वदोषरहित तीर्थंकर मूर्ति का आलम्बन साधक के वास्ते नितान्त आवश्यक है। इसके आगे आचार्य कहते हैं— ‘अधिक क्या कहें! जिनेश्वरदेव की पूजा पूजक को शाश्वत सुख देने वाली है’।

इन उल्लेखों से पूज्य हरिभद्रसूरिजी, मूर्तिवाद के कितने समर्थक और कितने अनुरागी हैं यह सहज ही में ज्ञात हो जाता है: उनके पंचाशक और षोडशादि अन्य ग्रन्थों में इससे भी अधिक इस विषय का समर्थन देखने में आता है जिसका विस्तारभय से हम उल्लेख नहीं करते। यह तो निर्विवाद

फिर भी हम (अपने परिमित ज्ञान के आधार पर ही सही) इस विषय की गवेषणा अवश्य करेंगे और देखेंगे कि आपके विचार समूल हैं या उन पर संकीर्णता की मोहर लगी हुई है ।

हमारे विचारानुसार आगमों में जहां मूर्तिपूजा के समर्थक उल्लेख पाये जाते हैं वहां उनमें पूजाविधि का निर्देश किया हुआ भी देखने में आता है जिसे कि आगमों की वर्णनशैली के अनुसार— हम विधेयरूप कहने व मानने के लिये प्रेरित होते हैं ।

ज्ञाताधर्मकथा नाम के छोटे अंगसूत्र में द्रौपदी की पूजा-विधि का अधिकार देखने में आता है, वहां पर लिखा है कि राजकन्या द्रौपदी ने सूर्याभिदेव की भांति जिनप्रतिमा का पूजन किया अर्थात् जिस प्रकार-जिस विधि से सिद्धायतनगत जिन प्रतिमाओं का पूजन सूर्याभ ने किया, उमी भांति उस विधि से यहां पर द्रौपदी ने जिनप्रतिमा की पूजा की (१) । इस उल्लेख से ही है कि जैनपरम्परा में उनके समान मध्यस्थ और इतनी ऊंची कक्षा के विद्वान् बहुत कम हुए हैं । इस बात को तो हमारे विद्वान् बन्धु ने भी मुक्तकंठ से स्वीकार किया है; फिर ऐसी दशा में उनके द्वारा (हरिभद्रसूरिजी के द्वारा) समर्थित मूर्तिवाद को आगमबाह्य निर्मूल और आधुनिक कहने का साहस तो हमारे मित्र पंडित बेचरदास ही कर सकते हैं, हमारे जैसे स्वल्पबोध रखने वाले नहीं ।

(१) द्रौपदी के पूजाधिकार का ज्ञातासूत्रगत वह पाठ ऊपर नोट में उद्धृत कर दिया गया है (देखो पृ० २४९) उसका भावार्थ इस प्रकार है—

“वह राजकन्या द्रौपदी स्नानघर में प्रविष्ट होकर स्नान करनेके बाद शुद्ध वस्त्र पहन कर जिनमंदिर में आती है, वहां जिनप्रतिमा को देखकर प्रणाम करती है, प्रणाम करने के बाद मयूरपिच्छ से जिनप्रतिमा का प्रमार्जन करती है । तदनन्तर जैसे सूर्याभ ने जिनप्रतिमा का अर्चन—पूजन किया उसी प्रकार विधिपूर्वक पूजन करती है—स्नान से लेकर धूप देने पर्यन्त—(“एवं जहां

प्रतिमा का पूजन मात्र चरितानुवाद रूप न रह कर विधेय रूप बन जाता है। चरित्रगत जिस कर्तव्य का दूसरों के लिये उदाहरणरूप से निर्देश किया जाय वह चरितमात्र नहीं, किन्तु विधेय-कर्तव्यरूप हो जाता है। सूर्याभदेव का अधिकार राजप्रश्नीयसूत्र में है। ज्ञाता-धर्मकथा नाम के अंगसूत्रों में द्रौपदी की पूजाविधि के लिये राज-प्रश्नीयसूत्रगत सूर्याभदेव की पूजाविधि को दृष्टान्त रूप से उपस्थित करने का अर्थ ही मूर्तिवाद को विधेय-विधिनिष्पन्न प्रमाणित करना है।

अच्छा, अब राजप्रश्नीयसूत्र की ओर भी पाठक ध्यान दें ! जैनागमों में मूर्तिवाद की चर्चा के लिये राजप्रश्नीय का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है। इसके कतिपय अभिलेखों से मूर्तिवाद पर जितना उज्ज्वल और विशद प्रकाश पड़ता है उसको देखते हुए शायद ही कोई विचारशील व्यक्ति मूर्तिवाद की विधेयता-आगम-विहितता से इनकार कर सके। (सम्भवतः हमारे मित्र ने इसी विचार से आगम-सामान्य का उल्लेख न करके सर्वत्र अंगसूत्र के नाम का ही उल्लेख किया है।) राजप्रश्नीय सूत्र के मूर्तिवाद सम्बन्धि अभिलेखों से तद्विषयक तीन बातें निश्चित होती हैं—

(१) जिन मन्दिर और जिनप्रतिमाओं का अस्तित्व
(२) पूजा की विधेयता-कर्तव्यरूपेण निर्देश और (३) पूजा की विधि-प्रक्रिया।

सूरिआभो जिणपडिमाओ अच्चेइ अच्चेइता तहेव भाणियब्बं जाव धूवं दहइ” इत्यादि) फिर वाम जानु-घुटने को ऊंचा रख और दक्षिण जानु को पृथ्वी पर स्थापन करके तीन बार अपने मस्तक को भूमि के साथ लगाती हुई हाथ जोड़कर मस्तक-न्यस्त अंजलि से “नमोत्तुणं अरिहंताणं भगवंताणं” आदि शक्रस्तव के द्वारा प्रभुप्रतिमा को बेंदना नमस्कार करती है ॥ इत्यादि ॥

इन तीनों बातों के प्ररूपक सूत्रगत मूलपाठ इस प्रकार हैं:-

(१) क-“सभाएणं सुहम्माए उत्तर पुरत्थिमेणं एत्थणं महेगे सिद्धायतणे-पण्णत्ते ××× तस्सणं सिद्धायतणस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं महेगा मणि पेढिया पण्णत्ता ×× तीसेणं मणि पेढियाए उवर्णि एत्थणं महेगे देवच्छंदए णं पण्णत्ते ××× एत्थणं अट्ठसयं जिणपडिमाणं जिणुस्सेहप्पमाण मित्ताणं संनिखित्तं संचिट्ठति१” (पृ० २२९-२३०)

ख-“तासिणं जिणपडिमाणं पिट्ठतो पत्तेयं पत्तेयं छत्ताधारग पडिमाओ पण्णत्ताओ, ×××× तासिणं जिणपडिमाणं उभओ पासे पत्तेयं पत्तेयं चामरधार पडिमाओ पण्णत्ताओ ×××× तासिणं जिणपडिमाणं पुरतो अट्ठसयं घंटाणं अट्ठसयं चंदणकलसाणं अट्ठसयं भिगाराणं एवं + + + अट्ठसयं धूव कुडुच्छुयाणं संनिखित्तं चिट्ठति २” (पृ० २३२-३४)

(२) क-“पज्जत्ती भावं गयस्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिए चित्थिए पत्थिए मणोगये संकप्पे समुपज्जित्था-किं मे

१ क-छाया-सभायाः सुधर्मायः उत्तरपूर्वस्यां दिशि महदेकं सिद्धायतनं प्रज्ञप्तं, तस्य सिद्धायतनस्यान्तर्बहुमध्यदेशभागेऽत्र महत्येकामणिपीठिका प्रज्ञप्ता, तस्याश्च मणिपीठिकाया उपरि अत्र महानेको देवछंदकः प्रज्ञप्तः, तत्र देवछंदके अष्टशतं-अष्टाधिकं शतं जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां सन्निक्षिप्तं तिष्ठति ।

२ ख-छा०-“तासां च जिनप्रतिमानां पृष्ठतः प्रत्येकं प्रत्येकं छत्रधरप्रतिमा प्रज्ञप्ता ×××× तासां च जिनप्रतिमानां उभयोः पश्चयोः प्रत्येकं प्रत्येकं चामरधरप्रतिमे प्रज्ञप्ते ×××× तासां च जिनप्रतिमानां पुरतः अष्टशतं घंटानाम्, अष्टशतं चन्दनकलशानां अष्टशतं भृङ्गाराणां एवं अष्टशतं वृषकडुच्छुकानाम् सन्निक्षिप्तं तिष्ठति”

पुर्व्वि करणिज्जं ? किं मे पच्छा करणिज्जं, किं मे पुर्व्वि
 सेयं ? किं मे पच्छा सेयं ? किं मे पुर्व्वि पि पच्छावि
 हियाए सुहाए णिस्सेयसाए आणुगामियत्ताए भवि-
 स्सइ ? १" (पृ० २३९)

ख-“तएणं तस्स सूर्याभस्स देवस्स सामाणिय परिसोववन्नगा
 देवा सूर्याभस्स देवस्स इमेयारूव मज्झत्थियं जाव समुप्पन्नं
 ममभिजाणित्ता जेणेव सूर्याभे देवे तेणेव उवागच्छति,
 सूर्याभदेवं + + + एवं वयासी-एवं खलु देवाणु णियाणं
 सूर्याभे विमाणे मिद्धायतणंसि जिणपडिमाणं जिणुस्सेह-
 पमाणभित्ताणं अट्ठमयं संनिखित्तं चिट्ठति, सभाएणं
 सुहम्माए माणवण चेइए खंभे वइरामएसु गोलवट्ट समु-
 भ्गएसु बहुओ जिणसकहाओ संनिखित्ताओ चिट्ठंति,
 ताओणं देवाणुप्पियाणं अण्णेमिच बहूणं वेमाणियाणं
 देवाण य देवीण य अच्चणिज्जाओ जाव पज्जुवासणि-
 ज्जाओ, तं एवं देवणुप्पियाण पुर्व्वि करणिज्जं, तं एयं
 णं देवाणुप्पियाणं पच्छासेयं, तं एयं णं देवाणुप्पियाणं
 पुर्व्विपि पच्छावि हियाए सुहाए खमाए निस्सेयसाए
 आणुगामियत्ताए भविस्सति २" (पृ० २४०)

१ क छा०—“पर्याप्तिभावमुपगतस्य सतः—(तस्य सूर्याभस्य) अयमे-
 तद्रूपः आध्यात्मिकः चिन्तितः प्रार्थितः मनोगतः संकल्पः—समुद्पद्यत—किं मम
 पूर्व्वकरणीयम् ? किं मे पश्चात् करणीयम् ? किं मे पूर्व्व कर्त्तव्यं ? किं मे पश्चात्
 कर्त्तव्यं ? किं मे पूर्व्वमपि पश्चादपि च हिताय सुखाय क्षमाय निश्चयसाय
 आनुगामिकतायै भविष्यति”

२ ख छा०—“तदनन्तरं च तस्य सूर्याभस्य देवस्य सामानिकपरिषदोपपन्ना
 देवाः सूर्याभस्य देवस्य इममेतद्रूपं आध्यात्मिकं यावत्—समुत्पन्नं समभिज्ञाय
 यत्रैव सूर्याभो देवस्तत्रैव उपागच्छन्ति (उपागत्य च) सूर्याभं देवं × × ×

(३) “तए णं से सूरियाभे देवे—जेणेव सिद्धायतणे तेणेव उवागच्छति उवागच्छिता सिद्धायतणं पुरस्थिमेणं दारेणं अणुपविसति अणुपविसित्ता जेणेव देवच्छंदए जेणेव जिण पडिमाओ तेणेव उवागच्छति उवागच्छिता जिणपडिमाणं आलोएपणामं करेति करित्ता लोमहत्थगं गिण्हति गिण्हत्ता जिणपडिमाणं लोमहत्थएणं पमज्जइ पमज्जित्ता जिणपडिमाओ सुरभिणा गंधोदएण्णहाणेइ ण्हाणिता सुरभि गंधकासाइएणं गायाइं लूहेति लूहिता सरसेणं गोसीसचंदणेणं गायाइं अणुलिपइ अणुलिपइत्ता जिणपडिमाणं अह्याइं देवदूस जुयलाइं नियंसेइ नियंसित्ता पुष्कारुहणं मल्लारुहणं गंधारुहणं चुण्णारुहणं वन्नारुहणं बत्थारुहणं आभरणारुहणं करेइ करित्ता + + अच्छेहि सण्हेहि रययामएहि अच्छरसातंदुलेहि अट्ठु मंगले आलिहइ, तंजहा—सोत्थिय जाव दप्पणं । तद्याणंतरं च णं + + कइच्छुयं पग्गहिय पयत्तेणं धूवं दाऊण जिणवराणं अट्ठसयविसुद्धगन्थजुत्तेहि अत्थजुत्तेहि अपुगरुत्तेहि महावित्तेहि मंथुणइ” १ (पृ३ २१४-५६)

एवमवादिषु—“एवं खलु देवानुप्रियाणां सूर्याभे विमाने सिद्धायतने जिनप्रतिमानां जिनोत्सेधप्रमाणमात्राणां अष्टशतं संनिक्षिप्तं तिष्ठति, सभायां च सुधर्मायां माणवके चैत्यस्तम्भे वज्रमयेषु गोलवृत्तसमदगकेषु बहूनि जिनसक्थीनि संनिक्षिप्तानि तिष्ठन्ति तानि च देवानुप्रियाणां अन्येषां च बहूनां वैमानिकानां देवानां च देवीनां च अर्चनीयानि यावत् पर्युपासनीयानि, तदेतत् देवानुप्रियाणां पूर्वं करणीयं, तदेतत् देवानुप्रियाणां पश्चात् करणीयं, तदेतत् देवानुप्रियाणां पूर्वं श्रेयः, तदेतत् देवानुप्रियाणां पश्चात् श्रेयः तदेतत् देवानुप्रियाणां पूर्वमपि पश्चादपि च हिताय सुखाय अमाय निश्चयेसाय आनुगामिकतायै भविष्यति”

१ छा—“तदनन्तरं स सूर्याभो देवः × × × यत्रैव सिद्धायतनं तत्रैवोपागच्छति उपागन्त्य सिद्धायतनं पूर्वद्वारेण अनुप्रविशति अनुप्रविश्य यत्रैव देवच्छन्दकः यत्रैव जिनप्रतिमास्तत्रैवोपागच्छति उपागत्य जिनप्रतिमा आशोकयन्त्रणामं करोति कृत्वा लोमहस्तकं गृह्णाति गृहीत्वा जिनप्रतिमा लोमहस्तकेन

भावार्थ

१ क—(सुधर्मकल्पस्थित सूर्याभ विमान के विषय में गौतम-स्वामी के पूछने पर उसका—सूर्याभदेव विमान का वर्णन करते हुए श्रमणभगवान् महावीर स्वामी कहते हैं हे गौतम ! सूर्याभदेव विमान में) सुधर्मासभा के उत्तर-पूर्व अर्थात् ईशान कोण में एक विशाल सिद्धायतन है उस सिद्धायतन के बीचो-बीच एक विशाल मणिपीठिका है। उस मणिपीठिका के ऊपर एक विशाल देवच्छंदक है उसके ऊपर जिन के शरीर की ऊंचाई जितनी ऊंची जिनदेवों की १०८ प्रतिमायें विराजमान हैं (इन प्रतिमाओं के स्वरूप का वर्णन वहां विस्तार से किया गया है)

ख—उन प्रत्येक जिनप्रतिमाओं के पीछे मालायुक्त श्वेतछत्र लिये हुए छत्रधारी प्रतिमायें हैं और दोनों तर्फ मणि-कनकमय चमारों को झुलाती हुई चामरधारी प्रतिमायें हैं। तथा उन शाश्वती जिनप्रतिमाओं के आगे एक सौ आठ २ घंटे, चंदनकलश, भृंगार आदि अनेक पदार्थ—पूजा के सामान वहां प्रत्येक प्रतिमा के आगे रखे हुए हैं। इस सामग्री के अतिरिक्त उस सिद्धायतन में सुगंधियुक्त धूप से मधमघाते १०८ धूपदान भी रखे हुए हैं।

प्रमार्जयति प्रमाज्यं जिनप्रतिमाः सुरभिणा गन्धोदकेन स्नपयति स्नपयित्वा सुरभिगन्धकाषायेण (वस्त्रेण) गात्राणि रूक्षयति रूक्षयित्वा सरमेन गोशीर्षचन्दनेन गात्राणि अनुलिम्पति अनुलिम्प्य अहतानि देवदूष्ययुगलानि परिधापयति परिधाप्य पुष्पारोपणं मालारोपणं गन्धारोपणं चूर्णारोपणं वर्णकारोपणं वस्त्रारोपणं आभरणारोपणं करोति कृत्वा + + जिनप्रतिमानां पुरतः अच्छरसतंडुलैः अष्टावष्टौ मंगलान्यालिखति, तद्यथा स्वस्तिकः यावत् दर्पणः तदनन्तरं च + + + वैडूर्यमयं धूप—कङ्कचुकं प्रगृह्य प्रयत्नतः धूपं दत्त्वा जिनवरेभ्यः अष्टशतविशुद्धग्रन्थयुक्तैः अर्थयुक्तैः अपुनरुक्तैर्महावृत्तैः संस्तोति”

२ क—तब तत्काल जन्मा हुआ सूर्याभ देव, आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनपर्याप्ति के द्वारा शरीर की सर्वांगपूर्णता प्राप्त करने के अनन्तर वह देव इस प्रकार विचार करने लगा—कि यहां आने पर मेरा प्रथम कर्तव्य क्या है, इसके पीछे निरन्तर करने योग्य मुझे क्या है, एवं तत्काल और भविष्य में सदा के लिए जो श्रेय रूप हो ऐसा मुझे क्या करना चाहिये ?

ख—सूर्याभदेव के ऐसा विचार करने पर वहां तुरंत ही उसकी सामानिक सभा के देव हाजिर हो जाते हैं और हाथ जोड़ कर कहते हैं—

हे देवानुप्रिय ! अपने इस विमान में एक विशाल सिद्धायतन है, उसमें जिन (जिनेन्द्र देव) के शरीर की ऊंचाई जितनी ऊंची ऐसी १०८ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं, तथा अपनी सुधर्मा सभा में एक विशाल माणवक-स्तम्भ है उसमें सुरक्षित वज्रमय गोल डब्बों में जिनदेवों की अस्थियाँ प्रतिष्ठित हैं जो कि आपको तथा हम सबको अर्चनीय, वन्दनीय तथा उपासनीय हैं । अतः हे देवानुप्रिय ! इन प्रतिमाओं और इन सक्थियों की अर्चा-पूजा-वन्दना और उपासना करना यह आपका प्रथम कर्तव्य है, यही पीछे कर्तव्य है और वर्तमान तथा भविष्य में सदा के वास्ते श्रेयसाधन कार्य भी आपके लिये यही है ।

३ तदुपरांत सिद्धायतन में जहां पर देवच्छंदक है और जिस तर्फ जिनप्रतिमायें विराजमान हैं उस तर्फ जाकर सूर्याभदेव और उसके समस्त परिवार ने उनको प्रणाम किया, तदनन्तर मोरपिच्छी से उन प्रतिमाओं का प्रमार्जन किया और सुगन्धि जल से स्नान करा कर सुवीक्षित वस्त्र से सुखा कर उन पर गोशीर्ष चन्दन का लेप

किया, उसके बाद उन प्रतिमाओं को अक्षत-देव दूष्य पहराया और उन पर फूल माला गन्ध चूर्ण वर्ण वस्त्र आभरण आदि चढ़ा कर बड़ी लेम्बी-लम्बी मालायें पहराईं तथा उनके आगे पांचों वर्णों के सुगन्धियुक्त पुष्पों का पुञ्ज किया, इसके अनन्तर उन प्रतिमाओं के सन्मुख रूपहरी अखंड चावलों का स्वस्तिक तथा दर्पण आदि आठ-आठ मंगलों का आलेखन किया । तथा वैडूर्यमय धूपदानों में सुगन्धियुक्त धूप धुखा कर प्रत्येक प्रतिमा को धूप दिया, इस प्रकार जिनेन्द्र देवों को धूप देकर नित्तान्त गम्भीर अर्थवाले १०८ छन्दों के द्वारा उनकी स्तुति की" (१) इत्यादि (रायपसेणियसुत्तानोसार पर से भाषान्तर)

राजप्रश्नीय सूत्र के इन उल्लेखों से जिनप्रतिमाओं की सत्ता, उनकी पूजा और पूजा की विधि इन तीन बातों के प्रमाणित हो जाने से मूर्तिवाद की विधेयता और प्राचीनता के सिद्ध होने में कोई त्रुटि बाकी नहीं रह जाती । सिद्धायतन में विराजमान जिन-प्रतिमायें देवों के वन्दन पूजन के लिये हैं न कि केवल प्रदर्शनार्थ ही, अन्यथा यहां पर किया गया विविध प्रकार की पूजा सामग्री के समारम्भ का उल्लेख आवश क ही नहीं किन्तु व्यर्थ ही ठहरता है । एवं आत्म-कर्त्तव्य सम्बन्धि विचार-परम्परा में निमग्न हुए सूर्याभ का जो कर्त्तव्य निर्दिष्ट किया गया है वह तथा उसके

(१) इसी प्रकार का वर्णन जीवाभिगमसूत्र में त्रिजयदेव के नाम से आया है । राजप्रश्नीय और जीवाभिगम इन दोनों के वर्णन में नामभेद के अतिरिक्त और कोई भेद नहीं है । इन वर्णनों को देखते हुए और इनकी सत्यता पर विश्वास करते हुए हम तो यही मानने के लिए विवश होते हैं कि आगमकारों को मूर्तिवाद अर्थात्—प्रतिमापूजन को आचारमार्ग में प्रतिष्ठित करना अभिप्रेत था ।

अनुसार आचरण करना ये दोनों बातें मूर्तिवाद की विधेयता को साबित करने के लिये पर्याप्त हैं और पूजाविधि के उल्लेख से प्रतीत होता है कि सूत्रकार को उसे गृहस्थ धर्म के आचारमार्ग में प्रतिष्ठित करना अभीष्ट है; अन्यथा—देवों के कथनानुसार सूर्याभ ने सिद्धायतन में जाकर पूजन किया इतना ही लिख देना काफी था ! परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे ज्ञात होता है कि आगम-निर्माता महर्षियों की सर्वतोभाविनी व्यापक दृष्टि में मूर्तिवाद मूर्तिउपासना गृहस्थ की प्रतिदिन की धार्मिक प्रवृत्तियों में से एक है; अतएव उन्होंने अपनी वर्णनशैली के अनुसार सूर्याभदेव के पूजा प्रस्ताव-पूजाधिकार में ही पूजाविधि को विशिष्ट स्थान देकर उसे देवमनुज सर्वसाधारण के लिए विहित कर दिया । हमारे विचारानुसार अंगसूत्रगत एक मानवी व्यक्ति की पूजाविधि को सूर्याभदेव की पूजाविधि से उपमित करने या उदाहृत करने का अर्थ ही यह है कि देवों के लिए विधान किये जिनप्रतिमाओं के वन्दन पूजन आदि का अधिकार मनुष्यों को भी प्राप्त है । एतदर्थ ही बृहत्कल्पभाष्य में चार प्रकार के चैत्यों—(साधर्मिक चैत्य, मंगल चैत्य, शाश्वत चैत्य और भक्ति चैत्य) का उल्लेख किया है (१) तथा इन अभिलेखों को सर्वथा अनुवादरूप मानना भी हमारे ख्याल में उचित नहीं है । पहला उल्लेख तो वस्तुस्थिति का बोधक है, दूसरे और तीसरे में कर्तव्य, कर्तव्यानुष्ठान और उसकी विधि का निर्देश है । इन दोनों में चरितानुवाद का कुछ अस्पष्ट सा आभास अवश्य है परन्तु आगमगत वर्णनशैली के अनुसार ये भी विधायक कोटि में ही पर्यवमित हो जाते हैं । इसलिये मूर्तिवाद से सम्बन्ध रखने वाले,

(१) इनके स्वरूप का वर्णन पहले कर दिया गया है । देखो पृ० २१२-२१३

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) शाताधर्मकथा, राजप्रश्नीय और जीवाभि-
गम के उपर्युक्त उल्लेख जहां अनुवाद रूप हैं वहां विधायक भी हैं ;
आगमों में गृहस्थ के आचार-नियमों का प्रायः अनुवाद रूप में ही
प्रदर्शन किया गया है। इसके अतिरिक्त उपासकदशा और औपपाति-
कसूत्र के उल्लेख तो स्वरूप से ही विधायक हैं। ऐसी दशा में हमारे
मित्र का यह कथन कि “आगमों में मूर्तिवाद का विधायक एक भी
वाक्य नहीं” कहां तक सत्य है इसका निर्णय तो हम विचारशील
पाठकों पर ही छोड़ते हैं।

जिनप्रतिमा और जैनाचार्य

जैनपरम्परा में चैत्य शब्द के शिष्टसम्मत प्राचीन मौलिक अर्थ
में प्रतिबिम्बित होने वाली जिनप्रतिमा को आगमों में कहाँ और
किस प्रकार से विधेयता प्राप्त है इसका दिग्दर्शन हमने यथामति
(जैसा कि हमें ज्ञात हुआ) ऊपर करा किया है। अब हम पाठकों को
यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि इस विषय में जैनपरम्परा के
विशिष्ट श्रुतसम्पन्न युगप्रधान आचार्यों का क्या मत है। इस सम्बन्ध
में जहां तक हमारा पर्यालोचन है हमें तो इनके रचे हुए ग्रन्थों में
मूर्तिवाद का समर्थन अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में किया
हुआ दृष्टिगोचर होता है। यह बात नीचे उद्धृत किये जाने वाले
कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगी—

(१) प्रशमरति प्रकरण १—

१ यह तत्त्वार्थसूत्र के प्रणेता वाचक उमास्वाति की अन्य प्रौढरचनाओं
में से एक है। इसके उमास्वाति रचित होने में निम्नलिखित प्रमाण हैं—

(क) “पसमरइ पमुह पयरण पंचसया सक्कया जेहिं

पुठवगय वायणणं, तेसि युमासाइ नामाणं”

(गणधर सा० श० गा० ५० श्रीजिनदत्तसू०)

प्रशमरति के २२वें अधिकार में गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों के वर्णन प्रस्ताव में लिखा है कि—

अर्थात्—प्रशमरति प्रमुख पांच सौ ग्रंथों की रचना करने वाले वाचक उमास्वाति को—

(ख) प्रशमस्थेन येनेयं कृता वैराग्यपद्धतिः ।

तस्मै वाचकमुख्याय नमो भूतार्थभाषिणे ॥

—जिसने इस वैराग्यपद्धति (प्रशमरति) का निर्माण किया है ऐसे प्रशान्त और यथार्थभाषी वाचकमुख्य—(उमास्वाति) को मैं नमस्कार करता हूँ (प्रशमरति के टीकाकार)

(ग) वृत्तिकार श्री सिद्धसेन—प्रशमरति को भाष्यकार की ही कृतिरूप से सूचित करते हैं। यथा—“यतः प्रशमरतौ (का० २०८) अनेनैवोक्तं—परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीयः।” “वाचकेन त्वेतदेव बलसंज्ञया प्रशमरतौ (का० ८०) उपात्तम् ५।६ तथा ९।६ की भाष्यवृत्ति । ××× प्रशमरति प्रकरण की १२०वीं कारिका “आचार्य आह” कहकर निशीथचूर्णि में उद्धृत की गई है। इस चूर्णि के प्रणेता श्री जिनदास महत्तर का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी है जो उन्होंने अपनी नन्दीसूत्र की चूर्णि में बतलाया है। इस पर से ऐसा कह सकते हैं कि प्रशमरति विशेष प्राचीन है। इससे और ऊपर बतलाये गये कारणों से यह कृति वाचक की ही हो तो इसमें कोई इनकार नहीं। (पंडित श्री सुखलाल जी शास्त्री भूतपूर्व प्रधानाध्यापक जैनदर्शन, हिन्दूविश्वविद्यालय बनारस । तत्त्वार्थपरिचय पृ० १७ का नोट)

(घ) श्री हरिभद्रसूरि ने भी प्रशमरति को वाचक उमास्वाति की रचना माना है यथा—“यथोक्तमनेनैव सूरिणा प्रकरणान्तरे” ऐसा कहकर श्री हरिभद्रसूरि, भाष्यटीका में प्रशमरति की २१० वीं और २११वीं कारिका उद्धृत करते हैं [तत्त्वार्थ परिचय पृ० ३७ का नोट]

इसके अलावा प्रशमरति पर श्रीहरिभद्रसूरि ने स्वयं भी व्याख्या लिखी है—

“चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्तितः प्रयतः ।

पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासधूपप्रदीपाद्याः ॥३०५॥ (१)

अर्थात् सम्यग्दृष्टि गृहस्थ, अपनी शक्ति के अनुसार श्रद्धा-पूर्वक चैत्य-जिनप्रतिमा को आयतन-मंदिर में प्रतिष्ठित करके उसका गन्ध पुष्प धूप दीप आदि सामग्री के द्वारा पूजन करे ।

प्रशमरति की इस कारिका में वाचक उमास्वाति ने चैत्य शब्द प्रतिमा के अर्थ में प्रयुक्त किया है और आयतन का यहां पर मन्दिर अर्थ स्फुट ही है । तात्पर्य कि इस स्थान में प्रयुक्त हुए चैत्य शब्द का जिनबिम्ब-जिनप्रतिमा के सिवा दूसरा कोई अर्थ सम्भव ही नहीं हो सकता । इस कथन से हमें यह दिखलाना अभिप्रेत है कि वाचक उमास्वाति जैसे पूर्ववित् भी चैत्य का मूर्ति ही अर्थ समझते हैं । इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थ भाष्य की आरम्भिक

यथा—“श्रीहरिभद्राचार्यरचितं प्रशमरतिविवरणं किंवित्, परिभाष्य वद्धटोकाः सुखबोधार्थं समासेन” (प्रशमरति की प्रस्तावना जैन० प्रसा० स० भावनगर)

इत्यादि उल्लेखों से प्रशमरति-प्रकरण वाचक उमास्वाति की ही कृति निश्चित होता है । इनका - (वाचक उमास्वाति का) समय यद्यपि अभी तक अनिश्चित ही है तो भी ये विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी से अवर्चान तो नहीं हैं ।

(१) चैत्यं चित्तयः प्रतिमा इत्येकार्थाः, तेषामायतनमाश्रयः चैत्यायतनानि । प्रकृष्टानि स्थापनानि प्रस्थापनानि, महत्या विभूत्या आदित्रयन्त्यतालानुचर-स्वजनपरिवारादिकया प्रस्थापनं प्रतिष्ठेति तानि कृत्वा शक्तितः प्रयत्नवान् यथा यथा प्रवचनोद्भावनं भवति तथा कृत्वेति, पूजा सपर्या, गन्धो विशिष्ट-द्रव्यसम्बन्धि, माल्यं पुष्पं, अधिवासः पटवासादिः, धूपः सुरभिद्रव्यसंयोगजः, प्रदीपः प्रदीपदानं, आदिप्रहृणादुपलेपन-संभार्जन-खंडस्फुटित-संस्करण-चित्र-कर्माणि चेति (व्याख्याकारः कश्चित् सूरिप्रवरः) पृ० १३

सम्बन्ध कारिकाओं में उल्लेख की गई निम्नलिखित आठवीं कारिका भी द्रष्टव्य है। आचार्य कहते हैं—

“अभ्यर्चनादर्हतां मनः प्रसादस्ततः समाधिश्च ।

तस्मादपि निश्चयसमतो हि तत्पूजनं न्याय्यम् ॥ ८ ॥”

अर्थात्—अर्हतों—तीर्थकरों के पूजन से रागद्वेष आदि दुर्भाव दूर होकर चित्त प्रसन्न होता है—निर्मल बनता है और मन के प्रसन्न निर्विकार होने से समाधि-ध्यान में मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है; एवं समाधि की प्राप्ति से कर्मों की निर्जरा द्वारा मोक्ष पद की उपलब्धि होती है। अतः तीर्थकरों का पूजन करना सर्वथा न्यायोचित है।

इस उल्लेख में आचार्य उमास्वाति ने द्रव्य और भाव रूप दोनों प्रकार की पूजा का निर्देश किया है, जिसमें आरम्भ प्रसक्त गृहस्थों के लिए द्रव्यपूजा और आरम्भ परित्यागी मुनियों के लिये भाव पूजा है। इसी को द्रव्यस्तव और भावस्तव के नाम से शास्त्रों में अभिहित किया है। (१)

२ पउमचरियं—

श्रीविमलसूरि रचित पउमचरिय—(पद्मचरित) जो कि विक्रम की प्रथम शताब्दि में रचा गया है—में लिखा है कि—

“वन्दन विहाण पूयण कमेण काऊण सिद्धपडिमाणं

अह ते कुमार सीहा, चेइय भवणा पइसरंति ॥ १७० पृ० २४ ॥

(१) इसके लिये देखो आवश्यकनिर्यूक्ति और भाष्य तथा पूज्य हरिभद्रसूरि जी का निम्न उल्लेखः—

“दब्ब भावे यथाओ दब्बे भावथय रागओसम्मं ।

जिणभवणादिविहाणं भावथआ चरणपडिवत्ता ॥”

(पंचाशक ६-२)

अर्थात्—वे राजकुमार सिद्धप्रतिमाओं का यथाक्रम विधिपूर्वक वन्दन पूजन करके चैत्यभवन से बाहर आते हैं। इस उल्लेख से प्रतिमा-पूजन को जो समर्थन प्राप्त है वह किसी अन्य स्पष्टीकरण की अपेक्षा नहीं रखता।

३ बृहत्कल्पभाष्य❀—

बृहत्कल्पभाष्य की निम्नलिखित गाथा में साधु के लिये अदृष्टपूर्व युगप्रधान आचार्यों तथा विशुद्ध संयमी श्रुतसम्पन्न साधुओं एवं पुराने और नये चैत्यों—प्रतिमाओं को वन्दनार्थ जाने का उल्लेख है—

“अपुव्व विवित्त बहुस्सुया य परियारवं च आयरिया ।

परिवार वज्ज साहू, चेइय पुव्वा अभिनवा वा ॥ २७५३ ॥

[पृ० ७७६]

यहां पर उल्लेख किये गये पुरातन और नवीन चैत्यों का अर्थ पुरानी और नई जिनप्रतिमायें ही सम्भव हो सकता है। टीकाकार ने भी यही अर्थ किया है—

(“चैत्यानि पूर्वाणि वा चिरन्तनानि जीवन्तस्वामी ‡ प्रति-

* बृहत्कल्पभाष्य के रचयिता युगप्रधान आचार्य संघदासगणिकक्षमाश्रमण हैं। इनका समय विक्रम की सातवीं शताब्दी के पूर्व है, और ये जिनभद्रगणिकक्षमाश्रमण से कुछ प्राचीन हैं।

पञ्चकल्पभाष्य और वसुदेव हिण्डी ये दोनों इन्हीं की कृतियां हैं।

(जैन साहित्यनो इतिहास सं० मोहनलाल दलीचन्द देसाई पृ० १४७)

‡ जीवन्तस्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा का प्राचीन जैनग्रन्थों में अनेक जगह उल्लेख पाया जाता है। उनके देखने से वह अत्यन्त प्राचीन प्रमाणित होती है। निशीयचूर्णि, कलचूर्णि और आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों से सिद्ध होता है कि—आर्य महागिरि तथा आर्यमुहस्ति श्री जीवन्तस्वामी प्रतिमा के दर्शनार्थ विदिशा और उज्जैनी में गये, यथा—

मादीनि, अभिनवानि तत्कालकृतानि—एतानि ममादृष्टपूर्वाणि इति बुद्ध्या तेषां वन्दनाय गच्छति”) अर्थात् पुरातन से जीवन्तस्वामी की प्रतिमा आदि को समझना और अभिनव से उस समय की प्रतिष्ठित प्रतिमायें जाननी ।

४ क—जीतकल्पभाष्य †—

जीतकल्प और उसके सोपज्ञ भाष्य में भी साधु को

(क) अणया आयरिया वतिदिसं जिय पडिमं वंदियागता

(निशी० चू० १९१)

(ख) दोवि जणा वतिदिसं गया, तत्थ जिय पडियं वंदित्ता अज्जमहागिरी एकच्छं गया गयग पद वंदया × × × × × सुहत्थीवि उज्जेणि जियपडिमं वंदया गया (आवश्यकचूर्णि)

(ग) “इतो अज्ज सुहत्थी उज्जेणि जियसामिं वंदओ आगओ”
(कल्प चू०)

आर्यमहागिरि और आर्य सुहस्ति ये दोनों आर्यस्थूलभद्रके हस्तदीक्षित शिष्य हैं। इनकी दीक्षा वीर नि० १९१ और २२१ में तथा यु० प्र० पद २१५ और २४५ में हुआ (वीर नि० सं० और जैन कालगणना पृ० ६४)

इससे साबित होता है कि विक्रम पूर्व तीसरी शताब्दी से भी बहुत पहले जीवन्तस्वामी नाम की तीर्थंकर प्रतिमा जैनपरम्परा में विशेष प्रख्यात थी; अतएव दूर २ से भाविक गृहस्थ तथा संभावित म्निवर्ग उसके दर्शनार्थ आते थे। इसका सबूत वसुदेवहिण्डी के निम्नलिखित कथांश में भी मिलता है—(“तेण सत्थेण समं बहुसिस्सिणी परिवारा जिण वयण सार दिट्ठ परमत्था सुब्बया नाम गणिनी जीवंतसामि वंदिया वच्चइ” पृ० ६१)

अर्थात्—संघ के साथ अनेक शिष्याओं से परिवृत, जिनप्रवचन के परमार्थ को जानने वाली सुवता नाम की—गणिनी—प्रवर्तिनी जीवन्तस्वामी को वन्दना करने के लिये उज्जयिनी को जा रही थी।

† जीतकल्प और उसके भाष्य के निर्माता श्री जिनभद्रगणि क्षमा-श्रमण हैं, और विशेषावश्यक भाष्य भी इन्हीं की ही रचना है। जैनपरम्परा

दूर अथवा नजदीक में रहे हुए चैत्य को वन्दना करने के लिये जाने का उल्लेख है—

“चेइय वंदण हेउं गच्छे आसण दूरं वा”

(भाष्य गाथा ७७४ पृ० ६६)

“चेइय वंदण निमित्तं आसन्नं दूरं वा गच्छेज्जा” (चूर्णि पृ० ७)

ख—विशेषावश्यक भाष्य—के मूर्तिवाद समर्थक प्रकरण में से भी एक गाथा यहां पर उद्धृत की जाती है—

“कज्जा जिणाइ पूया परिणाम विसुद्ध हेउओ निच्चं ।

दाणाद उब्ब मग्गप्पभावणाओ य कहणं व ॥ ३२४७ ॥

छा०—कार्या जिनादिपूजा, परिणामविशुद्धिहेतुतो नित्यम् ।

दानादय इव मार्गप्रभावनातश्च कथनमिव ॥

इसका भावार्थ यह है कि—गृहस्थ को प्रतिदिन जिनपूजा करनी चाहिये क्योंकि वह दानादि की तरह परिणाम-विशुद्ध का कारण है । विशेषावश्यक भाष्य का यह समग्रस्थल देखने और मनन करने योग्य है ।

५ क—आवश्यक भाष्य में द्रव्यस्तव और भावस्तव की इस प्रकार व्याख्या की है ॥

“दब्बत्थओ पुप्फाई, संतगुण कित्तिणा भावे ॥१९१॥

अर्थात्—पुष्पादि के द्वारा जिनप्रतिमा का अर्चन पूजन करना द्रव्यस्तव (१) है और भक्तिभाव से प्रभु का गुणोत्कीर्तन-गुणगान

में इनके व्यक्तित्व को इतना उच्च स्थान प्राप्त है कि इनके वचनों को उत्तरवर्ती आचार्यों ने आगमों की समान कक्षा में स्थान दिया है । जैन पट्टावली के अनुसार इनका समय वीरनिर्वाण से १११५ विक्रम सं० ६४५ आंका जाता है ।

(१) द्रव्यस्तवः पुष्पादिभिः समभ्यर्चनम् (हरिभद्रसूरि आ० वृ०

पृ० ४९२)

करना भावस्तव कहलाता है ।

तथा—“थूभ (१) सयं भाउगाण चउवीसं जिणहरे कासी ।

सब्ब जिणाणं पडिमा वण्ण पमाणेहि नियएहिं ॥

[मू० भा० गा० २४]

इस गाथा में कहा है कि भरत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वत पर मंदिर बनवाकर उनमें २४ तीर्थंकरों की प्रतिमायें प्रतिष्ठित कीं (तत्थणं देवच्छंदए चउवीसाए तित्थगराणं नियगप्पमाण वत्तेहिं पत्तेयं पत्तेयं पडिमाओ कारेति” (चूर्णिकार)

इसके अलावा चूर्णिकार ने यह भी लिखा है कि भरत ने वहां पर अपनी तथा अपने भाइयों की सौ प्रतिमायें बनवाईं और सौ स्तूप बनवाये जिनमें एक तीर्थंकर ऋषभदेवस्वामी का और ९९ बाकी भाइयों के (२) । इसी प्रकार आवश्यक चूर्णि और आवश्यक वृत्ति में महाराजा उदायी के द्वारा उसकी राजधानी पाटलीपुत्र के मध्य में एक भव्य जिन-

(१) स्तूपशतं भ्रातृणां भरत कारितवान् तथा चतुर्विंशति चैव जिनगृहे जिनायतने (जिनायतनानि) कृतवान् सर्वजिनानां प्रतिमा वर्णप्रमाणैः निजैः आत्मीयरित्यर्थः । (पृ० १६९ सं०)

(२) भातुसयस्स य तत्थेव पडिमाओ कारवेति, अप्पणो य पडिमं-पज्जुवासंतियं, सयं च थूभाणं एगं तित्थगरस्स वसेसाणं एगूणगस्स भाउय सयस्स (पृ० २२७)

इस उल्लेख से मूर्तिवाद की प्राचीनता के अतिरिक्त चैत्य और स्तूप में जो विभिन्नता है उसका भी बोध हो जाता है । तात्पर्य कि स्तूप मृतक के स्थान पर या उसके अवशेषों पर निर्माण किया जाता है और चैत्य अर्थात् जिनमन्दिर वा जिनप्रतिमा चितास्थान से अलग जगह पर प्रतिष्ठित किये जाते हैं ।

मन्दिर बनवाये जाने का उल्लेख किया है। (१)

उदायी, (२) अजातशत्रु कोणिक का उत्तराधिकारी था। उसने पाटलीपुत्र नगर बसा कर उसे अपनी राजधानी बना लिया था एवं अपने पिता अजातशत्रु की भांति श्रमण भगवान् महावीर का अनन्य उपासक और परम जैन था; यह सब कुछ जैन शास्त्रों से भली भांति ज्ञात है। तात्पर्य कि श्रमणोपासक होने से उदायी का अपनी राजधानी में जिनचैत्य बनवाना शंकास्पद नहीं हो सकता। हमारे ख्याल से इन उल्लेखों पर से मूर्तिवाद की विधेयता और प्राचीनता का अन्दाजा लगाना पाठकोंके लिए कुछ कठिन नहीं होगा। इन उल्लेखों के प्रकाश में अगर कोई विचारशील व्यक्ति मूर्तिवाद के स्वरूप का अव-

(१) क—“नगर नाभीए उदाइणा जिणघरं कारितं” (चूर्णि पृ० १७९)

ख—“णयर णाभिए य उदाइणा चेइहरं कारावियं—नगरनाभी च उदायिना चैत्यगृहं कारितम्” (आव० वृत्ति पृ० ६८९)

आवश्यकचूर्णि और वृत्ति के इस उल्लेख का समर्थन जिनप्रभसूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प में—“तन्मध्ये श्रीनेमिचैत्यं राजाकारि” (अर्थात्—राजा उदायी ने पाटलीपुत्र नगर के मध्य में श्री नेमिनाथ का चैत्य बनवाया) इन शब्दों में किया है। (पाटलीपुत्र कल्प पृ० ६८)

इन उल्लेखों का अभिप्राय यह है कि पाटलीपुत्र के स्थापना की साथ ही उदायी ने जिनमंदिर की स्थापना की थी। प्राचीन इतिहास से जाना जाता है कि जैन राजाओं का यह नियम था कि जहां कहीं पर वे नवीन नगर या कोट आदि का निर्माण कराते वहां पर साथ ही जिनमंदिर की भी स्थापना करते। इसके लिये कांगड़ा, जैसलमेर और जालोर (मारवाड़) के प्राचीन दुर्गवर्ती जिनमंदिर आज भी उदाहरणस्वरूप में मौजूद हैं।

(२) उदायी का जन्म विक्रम पूर्व ४७८ में हुआ, वीर निर्वाण के समय उनकी आयु ८ वर्ष की थी। वि० पू० ४३८ तथा वीरनिर्वाण ३२ में राज्याभिषेक और वि० पू० ४१० तथा वीर नि० ५० में स्वर्गवास हुआ।

लोकन करे तो उसे वस्तुस्थिति का यथार्थ भान हुआ बिना नहीं रहेगा ।

श्री हरिभद्र सूरि के विषय में

पाठक देख चुके हैं कि हमारे मित्र नै चैत्य शब्द का “जिनगृह या जिनबिम्ब” अर्थ करने वाले विद्वान् टीकाकारों (जिनमें श्री हरिभद्रसूरि आदि भी हैं) को भ्रान्त और विषम भूल करने एवं जैन साहित्य में विकार उत्पन्न करने वाले कहने में अणुमात्र भी संकोच नहीं किया ? परन्तु उक्त अर्थ को—जिनमन्दिर और जिनप्रतिमा अर्थ को ही सम्पूर्ण रूप से अपनानेवाले आचार्य श्री हरिभद्र सूरि को आप ऐसा नहीं समझते, इतना ही नहीं बल्कि उनको तो आपने सत्यप्रियता और मध्यस्थता का उज्ज्वल आदर्श स्वीकार किया है । आप लिखते हैं कि—“अन्य अर्वाचीन आचार्यों को मैं जैसे मताग्रही कहकर सम्बोधित करता हूँ वैसे इस महापुरुष के लिए नहीं कहा जा सकता, उनके ग्रन्थों में जो मध्यस्थता, गम्भीरता और सत्यप्रियता देखी गई है वह लेखनशैली उनके बाद के ग्रन्थों में मुझे क्वचित् ही दिखाई पड़ती है ।” (पृ० १८१)

हमारे विद्वान् बन्धु ने आचार्यप्रवर हरिभद्रसूरि के लिये जो उद्गार निकाले हैं वे अक्षरशः सत्य हैं, हम उनका विशुद्ध हृदय से समर्थन करते हैं । हमारी दृष्टि में तो उनका व्यक्तित्व इससे भी बहुत ऊँचा है । आचार्य श्री हरिभद्रसूरि ने जैनपरम्परा के धार्मिक साहित्य में जिस अलौकिक दिव्य जीवन का संचार किया है वह एक मात्र उन्हीं को आभारी है । उनके व्यक्तित्व में रही हुई अलौकिक ज्ञानविभूति से प्रभावित हुए तदुत्तरवर्ती आचार्यों श्रीसिद्धिषि

(१), श्रीजिनेश्वरसूरि (२), श्रीवादिदेवसूरि (३), श्रीलक्ष्मण गणि (४), आचार्य मलयगिरि (५), श्रीप्रद्युम्न सूरि (६) और

- (१) विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचिचरद्यः कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधां नमोस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥१३२॥
(उपमिति भ० प्रपंच पृ० १६)
- (२) सूर्यप्रकाश्यं क्व तु मंडलं दिवः, खद्योतकः क्वास्य विभासनोद्यतः ।
क्व घीशगम्यं हरिभद्रसद्वचः, क्वाधीरहं तस्य विभासनोद्यतः ॥
(जिनेश्वरसूरि । हरिभद्राष्टक विवरण)
- (३) श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः प्रसिद्धाः,
ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः ।
येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान्,
शास्त्रं चिकीर्षति तनु प्रतिमोऽपि मादृक् ।
(वादिदेवसूरि-स्याद्वादरत्नाकरे)
- (४) भद्रं सिरि हरिभद्रस्त, सूरिणोजस्त भुवण रंगम्म ।
वाणी विसट्ट रस भाव-मंथरा, नच्चई सुइरं ॥१०॥ १
(लक्ष्मण गणि-सुपासनाह चरियं)
- (५) हरिभद्रं वचः क्वेदमतिगम्भीरपेशलम् ।
क्व चाहं जङ्घीरेषः, स्वल्पशास्त्रकृतश्रमः ॥
(आ० मलयगिरि-धर्मसंग्रहणी वृत्ति)
- (६) तामेवार्यां स्तुवे यस्या धर्मपुत्रो वृषासनः ।
गणेशो हरिभद्राख्यश्चित्रं भववियोगभूः ॥
चतुर्दशशतीग्रन्थान्, सदा लोकान् समावहन् ।
हरेः शतगुणः श्रीमान् हरिभद्रविभुर्मुदे ॥
(प्रद्युम्नसूरि-समरादित्यसंक्षेप)

१ भद्रं श्रीहरिभद्रस्य, सूर्यस्य भुवनरंगे ।

वाणीविकसितरसभावमन्थरा नृत्यति सुचिरम् ॥ (छाया)

उपाध्याय श्री यशोविजय जी (७), आदि विशिष्ट विद्वानों ने उनके विषय में श्रद्धा भर हृदय से जो विनीतता अभिव्यक्त की है उसको देखते हुए तो हमारा मस्तक सदा के लिए उनके पुनीत चरणों में सर्वतोभावेन झुक जाता है। परन्तु कृपया आप यह तो बतलावें कि आपने पूज्य अभयदेवसूरि और आचार्य मलयगिरि आदि टीकाकारों को चैत्य का जिनमन्दिर और जिन प्रतिमा अर्थ करने पर विषम भूल करने एवं साहित्य में विकार उत्पन्न करने वाले कैसे कहा ? जब कि आचार्य हरिभद्र सूरि भी चैत्य का वही निर्मूल-जिनमन्दिर जिनप्रतिमा अर्थ कर रहे व मान रहे हैं। आपकी दृष्टि में चैत्य का मन्दिर या मूर्ति अर्थ निर्मूल अर्थात् आगममूलक नहीं किन्तु सर्वथा कल्पित और आधुनिक है अतः आप इस अर्थ को भी एक प्रकार का साहित्य-विकार ही समझते हैं और इसी बिना पर-इसी कारण से-आप आगमों के टीकाकारों को (जिन्होंने चैत्य का मंदिर या मूर्ति अर्थ किया है) साहित्य में विकार के उत्पादक और विषम भूल करने वाले मान रहे हैं। यह तो सब कुछ ठीक है, मगर हमको अभी तक यह समझ में नहीं आया कि आपके इस आरोप से हरिभद्रसूरि कैसे मुक्त हो सकते हैं। चैत्य का मंदिर और मूर्ति अर्थ रूप जो भयंकर अपराध अभयदेवसूरि आदि अन्य टीकाकारों ने किया, वही अपराध श्री हरिभद्रसूरि का है; बल्कि आपके इस कथन के मुताबिक (श्री हरिभद्रसूरि के बाद के जिन-जिन ग्रन्थों में

(७) येषां गिरं समुपजीव्य सुसिद्धविद्या-

मस्मिन् सुखेन गहनेपि पथि प्रवृत्तः।

ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः,

श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः सुखाय ॥

(उपाध्याय श्री यशोविजय-शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका)

मूर्तिवाद की चर्चा की गई है उन सबके मूल हरिभद्र सूरि ही हैं । (पृ० १८१) तो अधिक अपराध हरिभद्रसूरि जी का ही सिद्ध होता है । श्री अभयदेवसूरि आदि ने तो इनका अर्थात् हरिभद्रसूरि के किये व माने हुए अर्थ का अनुसरण मात्र किया है । ऐसी दशा में आप श्री हरिभद्रसूरि को अपराध से कैसे मुक्त कर सकते हैं ? अगर आपकी दृष्टि में वे भी अपराधी ही हैं तो ऐसे अपराधशील अर्थात् चैत्य का निर्मूल आगम-विरुद्ध अर्थ (मंदिर और मूर्ति अर्थ) करके जैन साहित्य में विकार उत्पन्न करने वाले व्यक्ति के लिये आपके ये पूर्वोक्त उद्गार कहां तक उपयुक्त हो सकते हैं, इसका विचार कर लेना भी तो आपको मुनासिब (योग्य) था । अगर आचार्य हरिभद्रसूरि ने चैत्य का जिनगृह और जिनबिम्ब अर्थ (जो कि आपकी दृष्टि में निर्मूल-आगममूलक नहीं किन्तु सर्वथा आधुनिक है) करके वास्तव में ही जैनसाहित्य में विकार उत्पन्न किया है और ऐसा अर्थ करने में उन्होंने एक बड़ी से बड़ी भूल की है—(जिसके परिणाम-स्वरूप जैनपरम्परा में धर्म के नाम से घोर अन्धकार व्याप्त हुआ) तो ऐसी दशा में उक्त आचार्य को सत्यप्रिय, मध्यस्थ एवं गम्भीर विद्वान् कहना व मानना हमारे विचार से या तो उनका उपहास करना है या अपनी अज्ञता (मूर्खता) को प्रकट करना है । हमारे ख्याल में तो आपका (पंडित बेचरदास जी का) यह कथन, एक ही मानव व्यक्ति को आजन्म ब्रह्मचारी और आजन्म व्यभिचारी कहने व मानने के समान बिलकुल बेढंगा और बिना सिर पैर का है ।

इसलिये अगर वस्तुस्थिति का तटस्थ मनोवृत्ति से विचार किया जाय तो श्री हरिभद्रसूरि जी ने चैत्य का जो अर्थ किया है वही उसका आगममूलक अथवा शिष्टसम्मत अर्थ है । इसी अर्थ में

उसका आगमों एवं आगमानुसारी परवर्ती अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में व्यवहार हुआ है, अतः चैत्य का उक्त अर्थ न तो निर्मूल अथवा आधुनिक है और नांही तात्कालिक वातावरण ने उसे उत्पन्न किया है, तथा इस अर्थ को सुप्रसिद्ध जैनाचार्यों की विषम भूल सातना, एवं उससे साहित्य में विकार उत्पत्ति की कल्पना करके उसके अर्थविधायक विशिष्ट आचार्यों को जैनपरम्परा में धर्म के नाम से अमावस अर्थात् घोरान्धकार के प्रवर्तक कहना हमारे ख्याल में अमुक प्रकार के वातावरण से उत्तेजित हुई मनोवृत्ति को रिझाने के लिये मानवता के मूलस्तम्भरूप सत्य का बलिदान कर देने वाले आप जैसे सुयोग्य विद्वान् को ही आभारी है, आपके इस विचार-सौजन्य को अनेकानेक साधुवाद !!!

कल्पित परिस्थिति के व्याज से—

“हरिभद्रसूरि के व्यक्तित्व पर आक्रमण”

हमारे स्वनामधन्य पंडित बेचरदास जी लिखते हैं—

(१)—“श्री हरिभद्रसूरिजी के बहुत से ग्रन्थों में इस मूर्तिवाद के विधान से लगता और देवद्वय की वृद्धि से लगता हुआ उपदेश दिया गया है X X X श्री हरिभद्रसूरि का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी स्थिर किया गया है और हमारे सूत्रग्रन्थों के अन्तिम संस्करण का समय जो श्रीदेवद्विगणिक्रमाश्रमण द्वारा वल्लभीपुर में किया गया था, महावीर-निर्वाण से ९८० याने विक्रम की ५१० शताब्दी में शास्त्र-निश्चित है। और महावीर-निर्वाण से ८८२ याने विक्रम ४१२ वें वर्ष में निर्ग्रन्थों के चैत्यवास प्रारम्भ करने की बात पहले बतलाई जा चुकी है। तब इस ४१२-५१० और विक्रम की आठवीं शताब्दी इस एक शताब्दी और दो तीन शताब्दी के मध्य के समय में ऐसी कोई परिस्थिति उपस्थित होगई होगी कि जिस कारण जिस बात को ताजे ही संस्कारित हुए सूत्रग्रन्थों में न देखने पर भी श्री हरिभद्रसूरिजी को अपने बहुत से ग्रन्थों में लिखना पड़ा हो उसे बिहित भी करना पड़ा हो।”

(२) “श्री हरिभद्रसूरि के बाद के जिन-जिन ग्रन्थों में मूर्तिवाद और देव द्रव्य की वर्चा की गई है एवं विहितता बतलाई गई है उन सबके मूल हरिभद्रसूरि ही हैं यह मेरी मान्यता है” इत्यादि । (पृ० १८०-१८१)

समीक्षा—

जहां तक हम समझ सके हैं आपके कथन का तात्पर्य यह है कि विक्रम की पांचवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर आठवीं शताब्दी के आरम्भ तक अर्थात् इन तीन सौ वर्षों के अन्दर जैनपरम्परा में एक ऐसी परिस्थिति उपस्थित हुई—एक ऐसा वातावरण उत्पन्न हुआ कि जिससे हरिभद्रसूरिजी जैसे तटस्थ विद्वान् को भी इस अविहित (आगमों में जिसका विधान नहीं) मूर्तिवाद को अपने ग्रन्थों में स्थान देने और उसे विहित अर्थात् आगमनिर्दिष्ट कहने पर बलात् बाधित होना पड़ा । दूसरे शब्दों में कहें तो हरिभद्रसूरि जी ने मूर्तिवाद का विधान अपनी इच्छा से नहीं किया, किन्तु उस समय की परिस्थिति ने उन्हें ऐसा करने के लिये मजबूर किया । अतः श्री हरिभद्रसूरि की यह अनिच्छया प्रवृत्ति है जिसके लिये वे क्षंतव्य हैं ।

हमारे मित्र की कल्पना तो बहुत सुन्दर है, इसमें स्वमतपुष्टि का आयोजन भी अच्छे ढंग से किया है; परन्तु जरा विचार करने से पाठक समझ लेंगे कि इसमें तथ्यांश बहुत कम अर्थात् नहीं के बराबर है ।

पूज्य हरिभद्रसूरि जी ने मूर्तिवाद का विधान आगमों में उपलब्ध होने से किया अथवा किसी अन्य बाह्य प्रेरणा के वशीभूत होकर, इसका निर्णय होजाने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है । आपने पूज्य हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों में मूर्तिवाद का विधान देखकर यह कहने की उदारता तो नहीं की, कि जब कि आचार्य श्री हरिभद्र जैसे तटस्थ

विद्वान् मूर्तिवाद को आगमविहित मानते और उसका प्रबल समर्थन करते हैं, तब आगमों में उसका विधान अवश्य होना चाहिये । किन्तु विपरीत इसके (अपनी स्वीकृत मान्यता को ही येन केन उपायेन पुष्ट करने की भावना से) यह कहा कि उस समय—हरिभद्र-सूरिजी के समय—मे ऐसी कोई परिस्थिति अवश्य उत्पन्न होगई होगी कि जिससे उन्हें ऐसा करना पड़ा हो; अर्थात् मूर्तिवाद के विधान का उल्लेख करना पड़ा हो । आपकी इस कल्पना की बलिहारी, उसे शतशः धन्यवाद !!! आपने मूर्तिवाद की अविहितता अनागमिकता को इस कल्पना के आच्छादन में लपेट कर सुरक्षित करने और उसे हरिभद्रसूरि जैसे आगममर्मज्ञ महारथी की दृष्टि से ओझल करने में जो हस्तलाघवता दिखाई है उसकी दाद दिये बिना तो हम भी नहीं रह सकते !! इसी को कहते हैं दिनदीवी—(मध्यान्ह) में आंखों में धूल झोंकना । अथवा प्रत्यक्ष का अपलाप, जिसमें कि हमारे मित्र अच्छे सिद्धहस्त साबित हुए हैं । हमारे ख्याल में पूज्य हरिभद्रसूरि के मूर्तिवाद सम्बन्धि स्पष्ट भाषण में “किसी काल्पनिक परिस्थिति का हाथ है” यह कथन जहां निर्मूल और निराधार है, वहां वह उक्त आचार्यश्री के प्रामाणिक व्यक्तित्व पर भी अनुचित आक्रमण कर रहा है । जिस व्यक्ति को आप महापुरुष के नाम से सम्बोधित करें, जिसे सत्यता, तटस्थता और विद्वत्ता का सजीव आदर्श मानें एवं जिसकी वाणी को गणधरों की वाणी से भी अधिक महत्व (१) दें” ऐसे व्यक्ति, किसी आगनुक परिस्थिति के वशीभूत

(१) ‘उनके ग्रन्थ आज गणधरों की वाणी को भी भुलाते हैं’

“तेओना ग्रन्थों तो गणधरोनी वाणी ने पण भुलावे तेवा छे” (पृ० १२५)

(मू० पृ० ५० १०)

होकर आगमों के नाम से स्पष्ट शब्दों में कोई ऐसा उल्लेख करें कि जिसका (आपके कथनानुसार) आगमों में गन्ध तक न हो, कहाँ तक सम्भव और विश्वास के योग्य है यह हमारी अपेक्षा आप— (पंडित बेचरदास जी) विशेष—ज्यादा समझ सकते हैं।

अपने परम्परागत वैदिकधर्म का परित्याग करके स्वेच्छा से जैनधर्म में दीक्षित होने वाले श्री हरिभद्रसूरिजी जैसे संयमशील तटस्थ साधु व्यक्ति के विषय में हम तो यह सोच भी नहीं सकते कि उन्होंने आगमों में अनुपलभ्यमान मूर्तिवाद को झूठ ही आगमविहित कह दिया हो। ऐसा कहना व मानना तो हमारे ख्याल में उनके पुनीत व्यक्तित्व पर भयंकर आक्रमण करना है। जो बात आगमों में नहीं उसे आगमगत कहना “आगमों में है” ऐसा उल्लेख करना, मिथ्या भाषण का ही एक व्यक्त स्वरूप है तो क्या हम अपने मित्र के कथनानुसार यह मान लें कि पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में मूर्तिवाद को जो आगमविहित (१) बतलाया है वह मिथ्या है—झूठ है और किसी परिस्थिति के दबाव में आकर लिख दिया है वास्तव में वह आगमविहित नहीं है? अगर ऐसा ही है तो आपने द्वारा किये गये हरिभद्रसूरिजी के गुणानुवाद का क्या अर्थ? आप तो लिखते हैं कि—“उनके ग्रन्थों में जो मध्यस्थता गम्भीरता और सत्यप्रियता देखी गई है वह अन्यत्र क्वचित् ही देख

(१) इसके लिए देखो श्री हरिभद्रसूरिकृत पंचाशक का निम्नलिखित गद्यांश।

“थय विहिमागमसुद्धं” सपरेसि मणुःगहठ्ठाए” (६। १)

(स्त्वः पूजा तस्य विधिर्विधानं प्रकारस्त्वविधिस्तम्। × × × आगमः स्त्वपरिज्ञानादिकमाप्तवचनं तेन शुद्धस्तदुस्तानुवादेन निर्दोषः—आगमशुद्धस्तम् (षष्ठ्यपंचाशकवृत्ति, अभयदेवसूरि पृ १०९)

पड़ती है।" तो क्या इस प्रकार के आदर्श व्यक्ति में अपने किसी ऐहिक स्वार्थ के लिए असद्भाषणता का छिपा हुआ आरोप करना, एक प्रकार की निन्द्य प्रवृत्ति नहीं है ? एक तर्फ तो आप आचार्य हरिभद्रसूरि को यथार्थवादिता और मध्यस्थता का आदर्श मान रहे हैं और दूसरी तर्फ प्रकारान्तर से उन्हें झूठा भी ठहरा रहे हैं ? आपकी इस नीति को समझने में हम तो सर्वथा असमर्थ हैं। क्या ही अच्छा होता अगर आप स्पष्ट शब्दों में यह कह देते कि आचार्य हरिभद्रसूरिजी ने अपने ग्रन्थों में मूर्तिवाद को जो आगमविहित बतलाया है उसमें मुझे कोई सच्चाई नजर नहीं आती; क्योंकि आगमों यानि अंगसूत्रों में उसका कहीं भी उल्लेख नहीं है। वैसे देखा जाय तो सर्वसाधारण रूप से तो आप ऐसा अनेक बार कह चुके हैं। और उसी के उपलक्ष में विद्वान् टीकाकारोंको उपालम्भित भी कर चुके हैं। यहां पर एक बात और भी विचारणीय है वह यह कि श्रीहरिभद्रसूरि के अतिरिक्त उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी मूर्तिवाद का विधान किया है, उनकी रचनाओं में मूर्तिवाद-विधायक अनेक उल्लेख पाये जाते हैं; उनमें से कतिपय का दिग्दर्शन हम पहले (१) करा आये हैं। आपके कथनानुसार हरिभद्रसूरि जी को तो परिस्थिति के वशीभूत होकर मूर्तिवाद का विधान करना पड़ा; परन्तु इन पूर्ववर्ती युगप्रधान आचार्यों को मूर्तिवाद-विधानार्थ किस परिस्थिति ने प्रेरित किया ? और वाचक उमास्वाति जेसे पूर्ववित् को मूर्तिवाद के विधान की किससे प्रेरणा मिली ? इसका निश्चय करना भी आपके लिये नितान्त आवश्यक था। इस विषय में हमारा उत्तर तो बिल्कुल सीधा और स्पष्ट है वह यह कि—"आगमों से" आगमगत आदेश से प्रेरित होकर ही श्रुतसम्पन्न प्रभावक आचार्यों ने अपनी रचनाओं में

(१) देखो "जिनप्रतिमा और जनाचार्य" शीर्षक लेख।

मूर्तिवाद को स्थान दिया । जैनसिद्धान्त के अनुसार धर्म के मूलस्रोत आगम हैं, उन्हीं से प्रत्येक धार्मिक प्रवृत्ति का उद्गम हुआ है और प्रत्येक धार्मिक प्रवृत्ति को पल्लवित करने की प्रेरणा भी विशिष्ट श्रुतसम्पन्न आचार्यों को वहीं से मिलती है । इसी प्रकार आचार्य श्री हरिभद्रसूरि को भी मूर्तिवाद विधान की प्रेरणा प्राचीन चूर्णिभाष्य और निर्युक्ति आदि के द्वारा आगमों से ही प्राप्त हुई है उन्होंने मूर्तिवाद के आगमगत मौलिक स्वरूप को पल्लवित अथच परिर्वद्धित करके उसे गृहस्थ के आचार-मार्ग में प्रतिष्ठित करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया । अतः श्री हरिभद्रसूरि के मूर्तिवाद विधान में आगमों की प्रेरणा है, किसी कल्पित परिस्थिति विशेष की नहीं ? यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है । इसके अतिरिक्त एक बात और है ! जो कि ध्यान देने लायक है । हमारे मित्र ने यह तो बतला दिया कि “हरिभद्रसूरि के वाद के जिन-जिन ग्रन्थों में मूर्तिवाद की चर्चा की गई है एवं विहितता बतलाई गई है उन सबके मूल हरिभद्रसूरि ही हैं” (पृ० १८१)

परन्तु उन्होंने साथ में यह बतलाने की कृपा नहीं की कि श्री हरिभद्रसूरि से पहले के जिन ग्रन्थों में मूर्तिवाद-विधायक उल्लेख है उनका मूल कौन और कहां है ? अगर हमसे कोई पूछे तो हमारे विचारानुसार तो इसका सरल और स्पष्ट शब्दों में (जो कि हमें यथार्थ प्रतीत होता है) इतना ही उत्तर है कि “उन सबके मूल अर्थात् मूर्तिवाद सम्बन्धि उल्लेखों के मूल आर्यसुधर्मास्वामी और उनकी रचनायें हैं ।” तात्पर्य कि श्री हरिभद्रसूरि से प्राग्विद्यमान ग्रन्थों में मूर्तिवाद-विधायक उल्लेखों का मूल गणधर-भाषित आगमों में अवस्थित है ।

पूजाविधि और हरिभद्रसूरि की आगमनिष्ठा

पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने सद्ग्रन्थों में स्तवविधि-पूजाविधि को पुष्कल स्थान दिया है। वे उसे आगम शुद्ध (१) और विहितानुष्ठानरूप (२) मानते हैं। यः स्तव-पूजा द्रव्य और भाव भेद से दो प्रकार का है, द्रव्यस्तव और भावस्तव, इसी का दूसरा नाम द्रव्यपूजा और भावपूजा है। इनमें द्रव्यस्तव-जिनभवन-निर्माण, जिन-बिम्ब-प्रतिष्ठा और अर्चन-पूजनादि रूप है (३) और चरणप्रतिपत्ति अर्थात् सर्वविरतिरूप धर्म का अंगीकार करना भावस्तव (४) कहलाता है। पहले का अधिकारी गृहस्थ है और दूसरा साधु का आचार विशेष है; परन्तु सूत्रोक्त विधि के अनुसार अनुष्ठान किया गया यह द्रव्यस्तव, भावस्तव का कारण होता है। अतः गृहस्थ के प्रतिदिन के धार्मिक आचारों में आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसे-द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा को मुख्य स्थान दिया है। और मुमुक्षु

(१) “यय विहिमागम शुद्धं” (पंचाशक-६।१)

“स्तवः पूजा तस्य विधिर्विधानं प्रकारः स्तवविधिस्तम्। आगमः-स्तव-परिज्ञानार्थं आप्तवचनं तेन शुद्धस्तदुक्तानुवादेन निर्दोष आगमशुद्धस्तम्। (अभयदेवसूरि)

अर्थात् पूजाविधि यह आप्तवचन के अनुसार होने से निर्दोष है।

(२) तत्तो पडि दिण पूया विहाणओ तह तहेह कायव्वं।

विहितानुष्ठानं खलु भव विरहफलं जहा होति ॥ (पंचाशक ८-१०)

(ततः प्रतिदिनं पूजा विधानतः तथा तथा इह कर्तव्यम्।

विहितानुष्ठानं खलु भवविरहफलं यथा भवति ॥)

“विहितानुष्ठानं-पूजा वन्दन यात्रा स्नानादि। (अभयदेवसूरि)

(३) जिण भवण बिंब ठावण जत्ता पूजाइ सुत्तओ विहिणा।

द्ववत्थो ओत्तिनेयं, भावत्थय कारणत्तेण। (पंचाशक ६।३)

(४) “भावत्थओ चरण पडिवत्ती” (पंचाशक ६।२)

गृहस्थ के लिए आगमोक्त विधि के अनुसार अप्रमत्त भाव से इसके अनुष्ठान का आदेश (१) दिया है ।

इसके अतिरिक्त पूज्य हरिभद्रसूरि कहते हैं कि द्रव्यस्तव और भावस्तव अर्थात् द्रव्यपूजा और भावपूजा ये दोनों एक दूसरे में अनुगत हैं परस्पर अनुस्यूत (२) हैं । तात्पर्य कि ये दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं और साधु तथा गृहस्थ दोनों के ही लिये ये अनुष्ठेय हैं जैसे द्रव्यपूजा के अनन्तर स्तुति-वन्दनरूप भावपूजा गृहस्थ करता है उसी प्रकार भावस्तव के अधिकारी साधु को भी अनुमोदनारूप में द्रव्यस्तव के अनुष्ठान का अधिकार है अर्थात् गृहस्थ के द्वारा आचरित द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा की अनुमोदना साधु के लिये भी इष्ट

(१) सुत्त भणिण गिहिणा गिहिणा निव्वाणमिच्छमाणेन ।

तम्हा जिणाणपूजा कायव्वा अप्पमत्तेण । (पंचा० ४।४६)

व्या०--सूत्रभणितेन-आगमोक्तेन विधिना-विधानेन पूजा कर्तव्या केनेत्याह-गृहिणा गृहस्थेन, साधोरनधिकारित्वात् । किंविधेनेत्याह-निर्वाणं निवृत्तिमिच्छता निर्वाणव्यतिरिक्तस्य फलस्योपायान्तरेणापि सुलभत्वात् । तस्माद्धेतोः जिनाणानर्हतां पूजा-अर्चनं, कर्तव्या-विधेया अप्रमत्तेन अप्रमादवता प्रमादपरिहारेणेति यावत् (अभयदेवसूरि) ।

भावार्थ-निर्वाण की इच्छा रखने वाले गृहस्थ को प्रमाद का परित्याग करके सूत्रोक्त विधि के अनुसार जिनेन्द्र देवों का पूजन-अर्चन करना चाहिये । तात्पर्य कि जिनार्चन में उसे किसी प्रकार का प्रमाद न करना चाहिये । यहां पर सूत्रोक्त विधि से सम्भवतः राजप्रशनीय सूत्रोक्त पूजाविधि ही अभिप्रेत होनी चाहिये । कारण कि वहीं पर ही विशेषरूप से पूजाविधि का प्रकार वर्णित हुआ है ।

(२) दव्वत्थय भावत्थय रूवं एयं मिय होति दट्ठव्वं ।

अणोण्ण समणु बिद्धं णिच्छयतो भणियविसयंतु ॥ (पंचा० ६।२७)

अथ च विहित (१) है ।

इस कथन से पूजाविधि को श्री हरिभद्रसूरि के वचनों में जो शास्त्रीय महत्व प्राप्त होता है उस पर से उसकी उपयोगिता का अनुमान भी सहज ही में किया जा सकता है ।

साधु के लिये अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का विधान करते हुए पूज्य हरिभद्रसूरि ने उसका शास्त्रीय समर्थन इस प्रकार किया है—

“तंतम्मि (२) वंदणाए पूयण सक्कार हेउ उस्सग्गो ।

जत्तिणो विहुणिट्ठो, ते पुण दव्वत्थयसरूवे ।

(पंचा० ६।२९)

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि चैत्यवंदन नाम के शास्त्र में अर्थात् आवश्यक सूत्रगत “सव्वलोए (३) अरिहंतचेइयाणं करेमि

(१) जइणो वि हु दव्वत्थय भेदो अणु मोयणेण अत्थित्ति ।

एयं च एत्थणेयं इय सुद्धं तंत जत्तीए” (पंचा० ६।२८)

(यतेरपि हु द्रव्यस्तवभेदः अनुमोदनेन अस्ति इति ।

एतच्च अत्र ज्ञेयं अनया शुद्धं तंत्रयुक्त्या ॥)

अर्थात्—भावस्तव में आरूढ़ होने वाले साधु के लिये भी अनुमोदन रूप से द्रव्यस्तव का अधिकार शास्त्रसम्मत है अतः वह अनवद्य है निदण है ।

(“यतेरपि भावस्तवारूढसाधोरपि, न केवलं गृहिण एवं, द्रव्यस्तवभेदो—द्रव्यस्तव-विशेषः, अनुमोदनेन, जिनपूजादिदर्शनजनितप्रमोदप्रशंसादिलक्षणया-ऽनुमत्या, अस्ति—विद्यते । ××× तंत्रयुक्त्या शास्त्रागर्भोपपत्त्या”

(श्री अभयदेवसूरि)

(२) तंत्रे वन्दनायां पूजनसत्कारहेतुत्सर्गः ।

यतेरपि खलु निर्दिष्टः, तौ पुनः द्रव्यस्तवस्वरूपौ ॥ २९ ॥

(३) सर्वलोके अर्हच्चैत्यानां करोमि कायोत्सर्गं वन्दनप्रत्ययं, पूजन-प्रत्ययं, सत्कारप्रत्ययं संमानप्रत्ययम् ॥

इस सूत्र की व्याख्या में चूर्णिकार लिखते हैं—

काउसगं वंदणवत्तियाए पूयणवत्तियाए, सक्कारवत्तियाए, सम्माण-
वत्तियाए”, इत्यादि पाठ से अहंचैत्यों के पूजन और सत्कार के
निमित्त—तीर्थंकर प्रतिमाओं की पूजा और सत्कृति के लिए यति को
भी—भावस्तवारूढ़ साधु को भी कायोत्सर्ग करने का निर्देश श्रीतीर्थ-

“अरिहन्ता तित्थगरा तेसिचेइयाणि अरिहन्तचेइयाणि अहत्प्रतिमा
इत्यर्थः तेसि वन्दना प्रत्ययं ठामि काउसग्गमिति योगः तत्र वन्दित्वात्तेषां
वन्दनार्थं कायोत्सर्गं करोमि, श्रद्धादिभिर्वर्द्धमानः सद्गुणसमुत्कीर्तनपूर्वकं
कायोत्सर्गस्थाने वन्दनं करोमीति यावत् । एवं पूज्यत्वात्तेषां पूजनार्थं कायोत्सर्गं
करोमि । श्रद्धादिभिर्वर्द्धमानः सद्गुणसमुत्कीर्तनपूर्वकं कायोत्सर्गस्थानेनैव
पूजनं करोमीत्यर्थः ।

जथा कोई गंध चुण्ण वास मल्लादीहि समभ्यवंनं करोतीति ।
(पृ० २५७)

अर्थात्—सर्व लोक में स्थित अहंचैत्यों—तीर्थंकर प्रतिमाओं के
वन्दन पूजन सत्कार और सम्मान के लिये मैं कायोत्सर्ग करता हूँ । तात्पर्य
कि तीर्थंकर प्रतिमाओं को साक्षात्—श्रद्धापूर्ण हृदय से वन्दन करने, पूजन करने
सत्कार और सन्मान करने का जो पारलौकिक फल साधक को प्राप्त होता है
वह मुझे इस कायोत्सर्ग द्वारा प्राप्त हो इस भावना से मैं कायोत्सर्ग करता हूँ ।
दूसरे शब्दों में कहें तो वन्दन, पूजन, सत्कार और सम्मान के स्थानापन्न मेरा
यह कायोत्सर्ग हो । सारांश कि तीर्थंकर प्रतिमाओं के वन्दन पूजन सत्कार
और सम्मान निमित्त ही मैं यह कायोत्सर्ग कर रहा हूँ ।

वन्दन—अभिवादन, स्तुति—मन वचन और शरीर का प्रशस्त
व्यापार ।

पूजन—गन्धमाल्यादि के द्वारा अर्चन ।

सत्कार—प्रवर वस्त्राभरणादि का अर्पण । सम्मान—भावना पुरस्सर
गुणप्रख्यापन । कायोत्सर्ग—काय नाम शरीर का उत्सर्ग—त्याग, अर्थात् स्थान
मौन और ध्यान से नियत समय तक निश्चेष्ट रह कर बाह्य शरीर पर के
अध्यास का परित्याग करना अथवा देहाध्यास के त्यागार्थं स्थान मौन और
ध्यान से निश्चल होना कायोत्सर्ग है ।

करादि ने किया है । और पूजन, सत्कार ये दोनों द्रव्यस्तव-द्रव्य-पूजारूप ही हैं ।

अतः अनुमोदनरूप से द्रव्यस्तव-द्रव्यपूजा साधु के लिए भी शास्त्र-विहित है, दूसरे शब्दों में, साधु को गृहस्थों के द्वारा आचरण किये गये द्रव्यस्तव-अर्चन पूजन आदि के अनुमोदन की आज्ञा सूत्र में दी गई है । (“द्रव्यस्तव-स्वरूप-पूजादि-प्रत्यय-कायोत्सर्गप्रतिपादनात् साधोर्द्रव्यस्तवेऽनुमोदनमनुज्ञातं सूत्रे”)

(पू० अभयदेवसूरिः पंचा० ६।२९)

पूज्य हरिभद्रसूरि के इस उल्लेख से मूर्तिवाद की विधेयता-आगमविहितता हमारे ख्याल में तो निर्विवाद सिद्ध है और हमारे मित्र कदाचित् इससे सहमत न भी हों तो भी इसकी नैसर्गिक प्रामाणिकता में कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

अब हम यह भी देखेंगे कि आचार्य हरिभद्रसूरि जी ने पूजा-विधि के सम्बन्ध में शास्त्रानुसरण को कितना असाधारण महत्व दिया है । उनके (पूज्य हरिभद्रसूरि के) सद्ग्रन्थों का पर्यालोचन करने से यह भली भांति ज्ञात होता है कि उनमें आगम-विरुद्ध या आगम-बाह्य विचारों को कोई स्थान नहीं दिया गया । जो आचार शास्त्र विधि-निष्पन्न नहीं, वह अगर तीर्थकरोद्देशक भी हो तो भी आचार्य हरिभद्रसूरि उसकी स्वीकृति से इनकार करते हैं । उनके मत में आज्ञाबाह्य हर एक प्रवृत्ति हेय है-त्याज्य है । इस विषय में आपका निम्नलिखित वचन मनन करने योग्य है—

(१) “समिति पवित्री सव्वा, आणा वज्जति भवफला चैव ।

तित्थागरुद्देशेण वि ण तत्तओ सा तदुद्देशा ॥ (पंचाशक ८।१३)

(१) स्वमतिप्रवृत्तिः सर्वा आज्ञा बाह्येति भवफला चैव ।

तीर्थकरोद्देशेनापि न तत्त्वतः सा तदुद्देशा ॥

भावार्थ—अपनी बुद्धि से कल्पना की गई शास्त्राज्ञा से बाहर की जो भी प्रवृत्ति है वह सब भवफला—अर्थात् संसार को—जन्ममरण परम्परा को—बढ़ाने वाली है। इस प्रकार की आज्ञा बाह्यप्रवृत्ति अगर तीर्थंकर भक्तिमूलक भी हो तो भी वह त्याज्य है। वस्तुतः उसमें तीर्थंकर भक्ति का उद्देश्य होता ही नहीं। इस उल्लेख से आचार्य हरिभद्रसूरि की आगमनिष्ठा का अनुमान बड़ी सुगमता से किया जा सकता है वे आगमविरुद्ध किसी भी प्रवृत्ति के समर्थक नहीं हैं। जिनभक्ति या जिनपूजा के निमित्त की जाने वाली अशास्त्रीय प्रवृत्ति भी आपके विचार में संसारवर्द्धक होने से त्याग देने योग्य है।

आचार्य हरिभद्रसूरि जी के इन उल्लेखों से जाना जाता है कि वे आगमविरुद्ध किसी आचार के पोषक नहीं थे। इस पर से उनके ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाले पूजाविधायक उल्लेख आगम-मूलक हैं या किसी आगन्तुक परिस्थिति के परिणत रूप हैं इसका स्पष्टीकरण भी बड़ी सुगमता से हो जाता है।

इन उल्लेखों पर से हम तो इसी नतीजे पर पहुंचे हैं कि आचार्य हरिभद्रसूरि जी के विषय में हमारे मित्र की मान्यता प्रामाणिक अथ च प्रत्युपयुक्त नहीं है।

व्या०—स्वमतिप्रवृत्तिरात्मबुद्धिपूर्विका चेष्टा, सर्वासमस्ता, द्रव्यस्त्व-भावस्त्व-विषया, आज्ञा बाह्या—आप्तोपदेशशून्या, इति हेतोः भवफलैव संसार-निबन्धनमेव, आज्ञाया एव भवोत्तारहेतुषु प्रमाणत्वादिति। ननु या तीर्थंकरा-नुद्देशवती सा भवफला युक्ता न त्वितरा, जिनपक्षपातस्य महाफलत्वादित्या-शंक्याह—तीर्थंकरोद्देशेनापि,—जिनालम्बनेनापि, आस्तां ततोऽन्यत्र स्वमति-प्रवृत्तिर्भवफलैवेति प्रकृतं, कुत एवं? यतो न तत्त्वतो—न परमाथन, सा तीर्थ-करोद्देशवती प्रवृत्तिः—तस्मिंस्तीर्थंकरे उद्देशः—प्रणिधानं यस्यां सा तदुद्देशा। य एव आज्ञया प्रवर्तते स एव हि जिनमुद्दिश्य प्रवर्तते इत्यभिधीयते, नापर इति।

(पू० अभयदेवसूरि)

“मूर्तिवादका विधेया विधेयत्व”

पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने सम्बोधप्रकरण, पञ्चाशक, षोड-
षक और योगबिन्दु आदि प्राकृत और संस्कृत ग्रन्थों में मूर्तिवाद की
जो चर्चा की है, तथा उसकी विधेयता—आगमविहितता पर जो
विस्तृत ऊहापोह किया है उसका संक्षेप से दिग्दर्शन ऊपर कराया
जा चुका है। उसपर से हमारी तो यही धारणा पुष्ट हुई है कि
द्रव्यस्तव यह गृहस्थ का आगम विहित आचार है जो किसी हद तक
उसके लिए अवश्य अनुष्ठेय है। परन्तु हमारे मित्र पण्डित बेचर
दासजी इससे सहमत नहीं ! आप मूर्तिवाद को किसी हदतक
विधेयतो मानते हैं ‘मगर उसे आगम—(अंगसूत्र) विहित नहीं मानते।

(१) क—मेरी मान्यता के अनुसार मूर्तिवाद को सर्वथा अविधेय मानना
भी अनुचित है। ऐसा मानने से बहुत से बालजीवों के जीवन विकास में
बाधा पड़ती है। भक्ति मार्ग का अवलम्बन करनेवालों का कल्याण अटक
जाता है ॥ पृष्ठ ५९ ॥

ख—मारा मत प्रमाणे मूर्तिवाद ने सर्वथा अविधेय ठराबवो तेपण अनु-
चित छे, तेम करवाथी धर्णानु कल्याण मायु जायछे ॥ मू० प्र० पृ० ४२

तब तो इसका यही अर्थ हुआ कि मूर्तिवाद किसी हदतक विधेय भी है !
परन्तु विधेय का अर्थ आपके मत में विहित—शास्त्रविहित नहीं है यथा—
“चैत्य शब्द के जिनगृह और जिनबिम्ब अर्थ के समान उसकी प्राचीनता या
विधेयता सिद्ध नहीं होती” पृ० १७१ (चैत्य शब्दना जिनगृह वा जिनबिम्ब
अर्थनी पेठे तेनी प्राचीनता के विधेयता सिद्ध थईं शकती नथी” मू० प्र० पृ० १३१)

इसपर यह प्रश्न स्वतः ही उठता है कि अगर मूर्तिवाद सर्वथा अविधेय
नहीं किन्तु विधेय भी है तो उसका विधायक कौन ? अर्थात्—उसका विधान
कहां और किसने किया है ? आपके कथनानुसार अंगसूत्रों में तो उसका कोई
विधायक वाक्य है नहीं जिससे कि उसकी विधेयता सिद्ध हो सके परन्तु आप

इसपर हमारा वक्तव्य तो इतना ही है कि अगर “अंगविहित नहीं” का अर्थ अंग भिन्न उपांगादि विहित है, तब तो इसमें भी कोई आपत्ति या विप्रति पत्ति की बात नहीं अर्थात् अंगविहित न होकर यदि-उपांगादि विहित हो तो भी उसकी प्रामाणिकता में कोई अन्तर

उसे विधेय की बतला रहे हैं, तो क्या उसका यह अर्थ समझें कि अंगभिन्न दूसरे आगमों में उसका विधान है ? “अंगसूत्रों में मूर्तिवाद का विधायक कोई विधिवाक्य नहीं, या अंगसूत्रों में मूर्तिवाद का विधान नहीं” इस कथन का इसके सिवा और क्या तात्पर्य हो सकता है कि अंगसूत्रों में मूर्तिवाद के विधायक अनुवाद वाक्यों का अभाव नहीं है, अर्थात् मूर्तिवाद के समर्थक अनुवाद वाक्य तो उनमें हैं मगर विधि वाक्य नहीं है। अथवा यूँ कहिये कि अंगसूत्रों में तो मूर्तिवादका विधान नहीं किन्तु उनसे भिन्न दूसरे उपांगादि में है। अगर ऐसा ही है तो जो लोग अंगों के समान ही उपांगादि को स्वतः प्रमाण मानते हैं, उनके लिये तो मूर्तिवाद की विधेयता-आगम विहितता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। तब वे लोग यदि आचार्य हरिभद्र और उनके पूर्ववर्त्ती युगप्रधान आचार्यों की साक्षी के साथ मूर्तिवादको आगम विहित कहें व माने तो उनका यह कथन या मन्तव्य प्रामाणिक क्यों नहीं ? जब कि आपका कथन भी उसे प्रमाणित कर रहा हो। अथ च—“अंगसूत्रों में विधान न होने से मूर्तिवाद अविधेय है-आधुनिक है” यह कहने का जैसा अधिकार आपको है वैसे ही “आगमों में विधान होने से मूर्तिवाद विधेय है-प्राचीन है” ऐसा कहने का अधिकार आपसे भिन्न दूसरे मूर्तिपूजकों को भी है और होना चाहिये। इसके अतिरिक्त अंग और उपांगादि में मूर्तिवाद विधायक उल्लेख है कि नहीं इत्यादि बातों का सप्रमाण विवेचन ऊपर अनेक बार हो चुका है। और अगर अंग एवं उपांगादि सभी आगमों में मूर्तिवाद का विधान नहीं है तो फिर उसे विधेय बतलाने वाले आप कौन ? क्या आप गणधर हैं या पूर्व-धर ? जिससे कि हम आगम की अपेक्षा आपके वचनपर विश्वास करने को बाध्य हों ?

नहीं पड़ता । ये सब अंगोपांगादि समान कक्षा के हैं । इनमें प्रामाण्य की दृष्टि से कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है ।

वर्तमान समय में उपलब्ध होने वाला जैनागम साहित्य, पूज्य-देवद्विगणिक्षमा श्रमण द्वारा संकलित हुआ माना जाता है (संकलना का समय वीरनिर्वाण ९८० और विक्रम सम्वत् ५१० सुनिश्चित है) इसमें अंग और अंग बाह्य सभी प्रकार का आगम साहित्य (जिसकी संकलना श्री देवद्विगणि क्षमा श्रमणने की है) समान कोटि में अवस्थित है । आगम प्रामाण्यवादी की दृष्टि में जो स्थान व्याख्या-प्रज्ञप्ति का है वही स्थान राजप्रश्नीय का है । प्रमाण कोटि में ये दोनों समान हैं ।

अतः मूर्तिवाद या इसी प्रकार के किसी दूसरे आचार या सिद्धान्त विशेषका यदि अंगसूत्रों में उल्लेख न करके अंगबाह्य उपांगादि में उल्लेख किया गया हो तो उसकी विधेयता या प्रामाणिकता में अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता । और अगर “अंगविहित नहीं” का तात्पर्य आपके मत में “वर्तमान में उपलब्ध सम्पूर्ण आगम साहित्य में नहीं” से है तब तो “मूर्तिवाद को सर्वथा अविधेय कहना भी उचित नहीं” आपका यह कथन किसी भी निश्चित सिद्धान्त का पोषक नहीं हो सकता और उक्त वाक्य से निष्पन्न होनेवाली मूर्तिवाद की विधेयता की उपपत्ति के लिये कोई अन्य उपाय सोचना चाहिये । अन्यथा मूर्तिवाद के विधेयत्व का समन्वय होना कठिन है ।

इसके अतिरिक्त जैन सिद्धान्त के अनुसार तो इसका समन्वय नितान्त सुकर है वह (मूर्तिवाद) अमुक अधिकारी के लिये विधेय और अमुक के लिये अविधेय होने से उसमें विधेयाविधेयत्व दोनों ही सम्भव हैं । तात्पर्य कि जहां द्रव्य तब गृहस्थ के लिये विधेय है

वहाँ साधु के लिये उसका विधान न होने से वह अविधेय भी है। तब यदि इस दृष्टि से मूर्तिवाद का विधेयाविधेयत्व हमारे मित्र को इष्ट हो तब तो हम उनसे सोलह आने सहमत हैं, और यदि वे ऐसा नहीं मानते तब तो उन्हें अपने उक्त वक्तव्यपर पुनः विचार करना चाहिये। यह कभी नहीं हो सकता कि जिसे हम अविधेय- (शास्त्र में जिसका विधान न हो) कहें उसी को विधेय (शास्त्र विहित) भी स्वीकार करें।

इसके अतिरिक्त आप कहते हैं कि यदि मूर्तिवाद को सर्वथा अविधेय मान लिया जाय तो बहुतों का कल्याण रुक जायगा, अर्थात् प्रभुमूर्ति की उपासना से जो साधक अपने आत्मा का कल्याण सम्पादन करते हैं वे उससे वंचित रह जावेंगे अतः उनके लिये मूर्तिवाद को विधेय भी मानना चाहिये इत्यादि।

आपका विचार तो बड़ा सुन्दर है ! हम भी इसकी दाद दिये बिना नहीं रह सकते, परन्तु आपके विचारानुसार जब कि आगमों में उसका विधान ही नहीं तो आप उसे विधेय कह ही कैसे सकते हैं ? क्या जिन बालजीवों के कल्याण की चिन्ता आपको सता रही हो उसका ख्याल गणधरों या पूर्वधरों को नहीं हो सकता ?

यदि उन्होंने बहुत से जीवों के कल्याण नाश की ओर ध्यान नहीं दिया तो आपको उसकी चिन्ता क्यों ? एवं यदि मूर्ति की उपासना से बहुत से बालजीवों का आत्मकल्याण होता है, आपका यह कथन यथार्थ है तो ऐसे कल्याणप्रद मार्ग का आगम निर्माता गणधरों या पूर्वधरों ने उपदेश क्यों नहीं किया ? क्या उनको बाल-जीवों के प्रति कोई अंगत द्वेष था ? अथवा उनको बालजीवों के कल्याण से किसी प्रकार के भयंकर उत्पात की सम्भावना थी। इस

दृष्टि से तो गणधरादि की अपेक्षा आपही अधिक दयालु अथवा परोपकारी प्रमाणित होते हैं! जिन्होंने कल्याण मार्गके बन्द दरवाजेको खोलकर बहुत से भव्य जीवोंपर असीम अनुग्रह किया ! निस्सन्देह आपकी यह उदार मनोवृत्ति अभिनन्दनीय है । परन्तु इस विषय में हम आपसे इतना अवश्य पूछेंगे कि जिस विषय की आगमों में आपको गन्धतक भी नहीं आती और आपके कथनानुसार जिसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से विधान न तो तीर्थकरों और नाहि गणधरों ने किया, एवं आपकी दृष्टि में जो सर्वथा अशास्त्रीय, बिल्कुल आधुनिक और मनः कल्पित है, तब ऐसे मूर्तिवाद में बहुत से जीवों का कल्याण निहित होने की प्रेरणा आपको कहां से मिली, जिससे प्रेरित हुए आप मूर्तिवाद को सर्वथा अविधेय न मानकर कथंचित् विधेय भी ठहरा रहे हैं ?

आगमों से तो वह सम्भव नहीं हो सकता, वे तो आपके कथनानुसार मूर्तिवाद को बहिष्कृत किये हुए हैं, और अन्य आचार्यों को—(जिन्हें जैन परम्परा में विशिष्ट स्थान प्राप्त है) आप पहले ही भ्रान्त तथा निर्मूल कल्पना करनेवाले कह चुके हैं, ऐसी परिस्थिति में तो मूर्तिवाद की इस विधेयता को एकमात्र आपकी ही उदार मनोवृत्ति की उपज समझना चाहिये । यदि हमारा यह अनुमान ठीक है तो यह भी मानना पड़ेगा कि आपकी मनोवृत्तिने आपके साथ चारसौबीस की है—आपको धोखा दिया है ! जहां उसने आपको मूर्तिवाद में रहे हुए बहुत से जीवों के आत्मकल्याण का आभास कराया वहां मूर्तिवाद की आगमिकता के ज्ञानसे आपको सर्वथा वञ्चित रक्खा ! अन्यथा मूर्तिवाद की विधेयता के साथ साथ आप उसकी आगमिकता को भी मुक्त कंठ से स्वीकार करते । और यदि

विचार किया जाय तो एक तरह स तो आपने मूर्तिवाद की आगमिकता—आगम विहितत्व को स्वीकार ही कर लिया है, कारण कि विधेय का अर्थ यहांपर आगमविहित के सिवा दूसरा संगत ही नहीं हो सकता ।

हमारे विचार में तो यह एक बहुत ही विस्मय जनक बात है कि आप जैसे विचार शील विद्वान् (जिसके मस्तक में बाह्य चक्षुओं के अतिरिक्त अन्दर के विवेक चक्षु भी विद्यमान हों) को मूर्तिवाद में अव्यक्त रूप से विद्यमान बहुत से बाल जीवों का कल्याण तो दिखाई देता हो (तदर्थ उसे विधेय भी बतलाया जा रहा हो) परन्तु उसमें स्पष्ट रूपसे आभासमान आगमिकता—आगमानुसारिता के आपको दर्शन तक भी नसीब न हों—प्राप्त न हों ? इसके अतिरिक्त हम यह ससझने में भी असमर्थ ही रहे कि जो मूर्तिवाद आपकी दृष्टि में आगम बाह्य सर्वथा आधुनिक और मनःकल्पित है उसमें बहुत से बाल जीवों की कल्याण कारिता एवं आत्मविकास की निमित्तता आपको कैसे दृष्टिगोचर हुई ? और विपरीत इसके “जिसमें तरतम भाव से आत्मविकास की निमित्तता दिखाई दे रही हो^१ तथा जिसके विवेक पूर्वक आश्रयण से अशुद्ध से अशुद्ध व्यक्ति भी विशुद्ध हो सकता^२ हो, एवं जो आत्मा की मूलस्थिति का भान

(१) हुं सत्संग शास्त्राध्ययन तप शील विगेरे नी जेम तरतमताए मूर्ति-वादमां पण आत्मविकासनी निमित्तता जोई रह्योछुं, मानी रह्योछुं, अने जणावि रह्यो छुं” (मू० प्र० पृ० १२८)

(२) “एवादना (मूर्तिवादना) विवेक पूर्वक आश्रय थी हुं मानुं छुं के गमेतेवो अशुद्ध गणातो मनुष्य पण वेलो मोडो विशुद्ध थया सिवाय रही शकैअ नहीं” (पृ० १२९)

कराने के लिये दर्पण के^१ समान हो ऐसा उपयोगी मूर्तिवाद आगम बाह्य सर्वथा आधुनिक और मनःकल्पित—अर्थात् निर्मूल कल्पना प्रसूत क्यों कर है ? जब कि आचार्य हरिभद्रसूरि जैसे निष्पक्ष विद्वान् और उनके पूर्ववर्ती सम्भावित आचार्यगण उसे स्पष्ट शब्दों में विधेय—आगम विहित बतला रहे^२ हों ।

कदाचित् विधेय का—कर्तव्य—करने योग्य अर्थ मानकर “अविधेय” का अकर्तव्य—करने के अयोग्य अर्थ समझें तो “मूर्तिवाद को सर्वथा अविधेय मानना भी अनुचित है” इस वाक्य का यह अर्थ होगा कि “मूर्तिवाद को सर्वथा अकरणीय—करने के अयोग्य ठहराना भी उचित नहीं है” । तात्पर्य कि मूर्तिवाद—मूर्ति की उपासना सर्वथा हेय नहीं किन्तु उपादेय भी है । यदि उसे सर्वथा हेय माना जावे तो बहुत से बाल जीवों का कल्याण नष्ट हो जावेगा, तात्पर्य कि जिन जीवों को मूर्तिवाद के आश्रयण से—अवलम्बन से आत्मविकास का लाभ होता था वह रुक जायगा, इससे उसका महान् अनिष्ट होगा, अतः उनके आत्मविकास या आत्म कल्याण के निमित्त मूर्तिवाद को विधेय अर्थात् कर्तव्य—आचरण के योग्य भी मानना चाहिये । परन्तु यह प्रश्न तो फिर भी उपस्थित रहता है कि अमुक अधिकारी के लिये इसे मूर्तिवाद को कर्तव्य रूप क्यों माना जाय जब कि

(१) “शरुआतमां आत्मानि मूलस्थिति नूं भान कराववा एक दर्पण समान छे माटे तेनुं मर्यादित्त सेवन ते ओ ने घणुं उपयोगी छे” (पृ० १२८)

(२) सुत्त भणिएण विहिणा, गिहिणा नित्वाण मिच्छमाणेन ।

तम्हा जिणाण पूजा कायव्वा अप्पमत्तेण” (हरिभद्रसूरि कृतपंचा-
शक ४ । ४६) (छाया—सूत्र भणितेन विधिना, गृहिणा निर्वाण मिच्छता । तस्माद् जिनानां पूजा कर्तव्या अप्रमत्तेन”)

आगम में उसका विधान न हो। किसी भी धार्मिक विषय के कर्तव्या-
कर्तव्यका निश्चय तो शास्त्र द्वारा ही किया जा सकता है और
खासकर ऐसे विषयों का कि जो मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन से
गहरा सम्बन्ध रखते हों शास्त्र के सिवाय दूसरा कोई भी निर्णायक
नहीं हो सकता। (“तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यस्थितौ”
भगवद्गीता १६। २४) अतः विधेय और अविधेय की इस व्याख्या
में भी उपर्युक्त आपत्ति ज्यों की त्यों ही बनी रहती है। इस आपत्ति
की निवृत्ति का उपाय हमारे विचारानुसार मूर्तिवाद को आगम
विहित मानने के सिवा दूसरा कोई नहीं है

“पूजक और उत्थापक”

जैसा कि ऊपर बतलाया गया है हमारे विद्वान् बन्धु पंडित
बेचर दासजी ने मूर्तिवाद का विधान भी बड़े स्पष्ट शब्दों में किया
है और विपरीत इसके उसके उत्थापन में भी कोई कसर बाकी नहीं
रक्खी। अधिक क्या कहें आप मूर्तिवाद के समर्थन को तमस्तरण और
साथ में मूर्तिवाद के समर्थकों अर्थात् वर्तमान् समय के मूर्तिपूजक
विद्वानों को उसे आगम विहित प्रमाणित करने के लिये ललकार भी
रहे हैं। जैसे कि उनके निम्न लिखित उल्लेख से देखा जाता है—

(१) “छतां तेमां (आगमों मां) जे विधान नो गन्ध पण न
जणातो होय ते विधान ना समर्थन माटे अपने कथाओं ना ओढ़ां
लइये के कोईना उदाहरणों आपिए ते बाबात ने हुं तमस्तरण सिवाय
बीजा शब्द थी कही शक्तो नथी पृ० १२७

(२) “हुं आपणा समाजना घुस्धरों ने नम्रता पूर्वक विनंति

कहं छुं के तेओ मने ते विषेनु' एक पण प्रमाण वा प्रचीन विधान—
विधि वाक्य बतावशे तो हुं तेओ नो घणोज ऋणी थईश' ॥ पृ० १२७

और इसके विपरीत आप यह भी लिखते हैं कि ("कदाचित् इससे कोई बन्धु यह समझने की भूल न कर बैठे कि लेखक मूर्तिवाद का विरोधी है। मैं प्रथम इसबात का खुलासा कर चुका हूँ और फिर भी कहे देता हूँ कि मैं इस वाद का विरोधी नहीं हूँ, परन्तु जहां तक मैंने गवेषणा की है, इस वियय में सत्य हकीकत आपके सामने रखना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ। इस विषय को आवश्यकता के प्रमाण में मैं जितना उपयोगी समझता हूँ उतने अंश में मैं इसका विधायक भी हूँ, एवं कामचारितया सत्संग शास्त्राध्ययन तप शील आदि के समान तरतमता से मूर्तिवाद में भी आत्मविकास की निमित्तता देख रहा हूँ, और मानता हूँ तथा दूसरों को बतला भी रहा हूँ") पृ० १७४-७५

इसपर से आपकी मूर्तिवाद सम्बन्धी मनोवृत्ति या मान्यता को समझने में अधिक कठिनाई नहीं रहती। आपको मूर्तिवाद (मूर्ति के द्वारा मूर्तिवाले की उपासना) तो इष्ट है परन्तु उसका विहितत्व इष्ट नहीं अर्थात् आपको मूर्ति पूजा से तो विरोध नहीं किन्तु उसकी शास्त्रीयता से विरोध है। तात्पर्य कि आपके मत में मूर्तिपूजा आचरणीय-आचरण के योग्य होने पर भी वह शास्त्रीय नहीं आगम विहित नहीं है। अथवा यूँ कहिये कि वह शास्त्रीय-शास्त्र विहित न होने पर भी आचरणीय आचरण करने योग्य है। उसमें आत्मा का कल्याण निहित है, वह आत्म शुद्धि का विशिष्ट साधन है और आत्मा की

१ इन उल्लेखों की सप्रमाण आलोचना हम ऊपर अच्छी तरह से कर आये हैं (देखो २३ पृ० से)

मूलस्थिति का भान कराने में दर्पण के समान है! इसलिये अगर शास्त्र में उसका विधान न भी हो तो भी वह अवश्य अनुष्ठेय है।

इस सारे ऊहापोह से हमतो इसी नतीजे पर पहुँचे हैं कि आप मूर्तिपूजक भी हैं और उसके उत्थापक भी ! पूजक इसलिए कि आप उसको विधेय कह रहे हैं और उत्थापक इस कारण कि उसे अंगबाह्य नितान्त अर्वाचीन और कपोल कल्पित बतला रहे हैं ! परन्तु ये दोनों बातें सूर श्याम के मेल की भांति केवल आप ही के उदार व्यक्तित्व में संघटित हो सकती हैं आपके बिना किसी दूसरे मूर्तिपूजक जैन विद्वान् ने भी ऐसी उदारता दिखाई हो ऐसा हमारे अनुभव में नहीं आया ! हमारे विचारानुसार तो आपकी यह पूजकता और उत्थापकता दोनों ही साधारण ज्ञान रखने वाले जैन वर्ग के लिये बड़ी ही भयंकर है? इससे लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है ! इस विषय में एक उर्दु कवि के स्वर में आप से इतना ही कहना उचित और पर्याप्त समझते हैं कि—

“दुरंगी छोड़कर एक रंग होजा,

सरासर मोम हो, या संग होजा”

“वर्तमान उपदेशक और आपका मन्तव्य”

इसके अतिरिक्त मूर्तिवाद के सम्बन्ध में वर्तमान समय के मूर्तिपूजक जैन विद्वानों से अपना विचार भेद प्रकट करते हुए आप यूँ फमति हैं—

“वर्तमान उपदेशकों में और मुझमें मात्र इतना ही फर्क है कि वे इस वाद को एकान्त पूर्वक विधान करते हैं और उस विधान को पुष्ट करने के लिये उसे भगवान् वर्द्धमान के नाम या उनके अंगप्रवचन के नाम पर चढ़ाते हैं, एवं तदर्थ ऐसी ही कितनी एक

कथाओं का अवलम्बन लेते हैं परन्तु मैं इस वाद के विषय में स्पष्ट शब्दों में यह कहता हूँ कि भले ही यह वाद वर्द्धमान का कथन किया न हो भले ही उसके सम्बन्ध में विधि वाक्य अंगसूत्रों में न मिल सकता हो तथापि वह लोक के प्रवाहवाही विभाग को प्रारम्भ में आत्मा की मूलस्थिति का भान कराने के लिये दर्पण के समान है अतः उसका मर्यादित सेवन उनके लिये अत्युपयोगी है ” पृ० १७५-७६

समीक्षा—वर्तमान समय के उपदेशक ही क्यों ? इस विषय में तो आपका जैन परम्परा के प्राचीन और नवीन सभी सुविहित आचार्यों से मत भेद है? आपके इस कथन को जैन परम्परा के किसी भी आचार्य का समर्थन प्राप्त नहीं है । प्रत्युत पूज्य हरिभद्र-सूरि आदि सुविहित आचार्यों के मन्तव्य से सर्वथा विरुद्ध है । जैन परम्परा के किसी भी सम्भावित आचार्य ने आपकी भांति मूर्तिवाद को आगमबाह्य और आधुनिक कहकर उसे विधेय भी कहा हो ऐसा हमारे देखने में तो आज तक नहीं आया, और यदि आपसे इसके लिए अनुरोध करें तो हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि आप भी नहीं दिखला सकेंगे । इस मन्तव्य का तो एक मात्र श्रेय आपको ही प्राप्त हुआ है ?

जिस मूर्तिवाद को आपके परम श्रद्धेय पूज्य हरिभद्रसूरि जैसे तटस्थ-विद्वान् और उनके पूर्ववर्ती चूर्णिकार भाष्यकार एवं निर्युक्तिकार आदि पूर्ववित् युगप्रधान आचार्यों ने मुक्तकंठ से आगम विहित कहा हो उसको यदि वर्तमान समय के उपदेशक वर्द्धमान भाषित या आगम सम्मत कहें तो वे कौनसा अपराध कर रहे हैं ? इसी प्रकार जिस आचार विशेष का शास्त्रों में कहीं पर भी प्रतिषेध न किया गया हो, और वह चिरन्तन, परम्परा से प्रच-

लित एवं अनेक सम्भावित व्यक्तियों के द्वारा आचरित हो तो शिष्ट-सम्मत होने से वह भी विहित ही माना जाता है। इस दृष्टि से मूर्तिवाद के विषय में उसके समर्थन के लिये यदि वर्तमान् उपदेशक मूर्तिवाद के पक्षपाती विद्वान् आगमोक्त किसी आख्यान विशेषका आश्रयण करके अपने मन्तव्य को पुष्ट करते हैं तो इसमें आपत्ति किसबात की है? यह तो शिष्ट सम्मत सिद्धान्त का अनुसरण मात्र है। क्या आचार्य हरिभद्रने द्रव्यस्तव के विधान और अनुमोदन में इस पद्धति का अनुसरण नहीं किया? × यदि किया है तो

× श्री हरिभद्रसूरि ने गृहस्थ के लिए द्रव्यस्तव का विधान करने के अनन्तर साधु के लिए द्रव्यस्तव की अनुमोदना का विधान किया है। इस विधान में आप लिखते हैं—कि “समवसरण अर्थात् देव संस्कृत व्याख्यान भूमि में अवस्थित भगवान् ने द्रव्यस्तव के अंगभूत बलि पुष्पादि के उपहार का निषेध नहीं किया और आदीश्वर भगवान् ने भरतचक्रवर्ती को जिन भवनादि के निर्माण से रोका नहीं, यदि भगवान् को यह द्रव्यस्तव अभिमत न होता तो कामादि की भांति इसका भी निषेध अवश्य करते, यथा—

(१) ओसरणे बलिमाई, ण चेह जं भगवया वि पडिसिद्धं ।

ता एस अण्णुणाओ, उच्चियाणं गम्मई तेण ॥ १२११ ॥

(२) जिण भवण कारणादिवि, भरहाईणं न वारिअं तेण ।

जह तेसिंचिय कामा सल्लविसाईहि व पणेहि ॥ १२१७ ॥

(३) तानंपि अणुमयं चिअ, अप्पडि सेहा ओ तंत जुत्तीए ॥ १२१८ ॥

(१) समवसरणे बल्यादि द्रव्यस्तवांगं, न चेह यद् भगवतापि तीर्थकरेण प्रतिषिद्धं तदेषोऽत्र द्रव्यस्तवेऽनुज्ञातः उचितेभ्यः प्राणिभ्यो गम्यते तेन भगवतेति गार्थः ॥ १२१३ ॥

(२) भवनादावपि विधिमाह—जिन भवनकारणाद्यपि द्रव्यस्तव रूपं भव-

वर्तमान समय के उपदेशकों से क्या अपराध हुआ है जो इनके शिष्ट सम्मत मार्ग का अनुसरण करने के बदले आप उनका तीव्र विरोध कर रहे हैं ?

अब रही मूर्तिवाद के एकान्त विधान की बात, सो इस विषय में अनेकान्त दृष्टि प्रधान जैन धर्म की बात तो अलग रही उससे भिन्न वैदिक धर्मावलम्बी किसी दूसरे मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ने भी मूर्तिवाद का एकान्त रूप से विधान नहीं किया। मूर्तिवादी सभी सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसे आत्मविकास का प्रथम सोपान मात्र माना है न कि जन्म से लेकर मरण पर्यन्त इसी को अनुष्ठेय बतलाया है। इसलिए जो साधक इसके आलम्बन से अपने आध्यात्मिक विकास में आगे बढ़ जाता है उसके लिए इसकी फिर कोई आवश्यकता नहीं रहती। तब हमारे विचारानुसार तो आपके इस आक्षेप में कुछ भी वजन नहीं है। अतः यदि वर्तमान उपदेशक इस मूर्तिवाद को वर्द्धमान भाषित कहें या आगम विहित बतलावें और आगमों में यत्र तत्र उपलब्ध होने वाले आख्यानों या उदाहरणों से उसे पुष्ट करें तो उसे किसी प्रकार भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। उनको तो जैन परम्परा गत सुविहित आचार्यों के विरसे में जो कुछ प्राप्त हुआ है उसी का वे सद्भावना से जनता में प्रचार

तादीनां श्रावकाणां न वारितं तेन भगवता, यथा तेषामेव भरतादीनां कामाः
शल्यविषादिभिर्वचनैर्निवारिताः' "सल्लं कामा विसंकामा 'इति गार्थः

(१२१७)

(३) तत्तदप्यनुमतमेव—जिनभवनादि, अप्रतिषेधात् कारणात् तंत्रयुक्त्या
“परमत्तं मप्रतिषिद्धमनुमतं” इति तंत्रयुक्तिरित्यनया ।

(पंचवस्तुकग्रन्थे श्री हरिभद्रः)

करते हैं। इसमें उनका न तो कोई दोष है और न अपराध। इसके अतिरिक्त आप में और वर्तमान उपदेशकों में जो फर्क-अन्तर है वह कोई साधारण सा नहीं, किन्तु मानव जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले एक धार्मिक सिद्धान्त का फर्क है। इसका दूर होना यदि असम्भव नहीं तो कठिनतर अवश्य है !

इसके आगे—‘परन्तु मैं इस वाद के विषय में स्पष्ट शब्दों में यह कहता हूँ’ इत्यादि उल्लेख का तात्पर्य हमारी बुद्धि के अनुसार तो यह है कि—“मूर्तिवाद न तो वर्द्धमान भाषित है, और न इसके सम्बन्ध में किसी अंग सूत्र का विधि वाक्य मिलता है, तो भी यह सामान्य जनता को आत्मा की मूल स्थिति का भान कराने के लिये एक स्वच्छ दर्पण के समान है अतः उनके लिये यह नितान्त उपयोगी है।”

हमारे मित्र हमें क्षमाकरें हम आपके इन विचारों से बिल्कुल सहमत नहीं हैं। हम तो आप्तोपदिष्ट शास्त्रों या सर्वज्ञ प्रणीत आगमों पर आस्था रखने और विश्वास करनेवाले व्यक्तियों में से हैं—(जिन्हें सम्भवतः आप अन्ध विश्वासी कहते व मानते हों) दूसरे शब्दों में कहें तो हम—“आणाए^१ मामगंधम्मं” धम्मो आणाए^१ पडिबद्धो” इस सिद्धान्त के अनुगामी हैं। अतः हमारे समीप आप्तो-

(१) आज्ञायां मामको धर्मः (आचारांग १।६।२) अर्थात् धर्म तीर्थंकरों की आज्ञा में है।

(२) “धर्मः आज्ञायां प्रतिबद्धः” (श्री हरिभद्रसूरिः पंचाशक ७।२)
 “धर्मो द्रव्यस्तवादि रूपः आज्ञायां-आप्तवचने प्रतिबद्धो नियतो वर्तते”
 (अभयदेवसूरिकृत व्याख्या) तात्पर्य कि द्रव्यस्तव रूप धर्म आप्तवचन में प्रतिबद्ध अर्थात् नियत है मूर्तिवाद यह द्रव्यस्तव का ही अवान्तर भेद है।

पदिष्ट या आगम मूलक होना ही धर्म की यथार्थ व्याख्या है। हम पदार्थ निर्णय के लिये तर्क का भी वहीं तक अनुसरण करना उचित समझते हैं जहां तक कि वह आप्त वचन के अनुकूल और उसका समर्थक है।

इसके विपरीत यदि वह आप्त निर्णीत पदार्थ स्वरूप के प्रतिकूल निश्चय करता है तो हम उसे कभी अपनाने को तैयार नहीं। संक्षेप से कहें तो हम आगम चक्षु हैं, और उसी के प्रकाश में प्रत्येक पदार्थ को अवलोकित करने की भावना से ओत-प्रोत हैं।

हमारे विचार से तो प्रत्येक आगम प्रामाण्यवादी— (चाहे वह किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी क्यों न हो) का ऐसा ही मत है और होना चाहिए। हम मूर्तिवाद को तो स्वीकार करते हैं परन्तु केवल इसलिए नहीं कि उसमें आत्मविकास की निमित्तता या आत्म कल्याण की हेतुता है, बल्कि इसलिए मानते हैं कि वह गृहस्थ का एक आगम विहित विशिष्ट आचार है, अतएव वह साधक व्यक्ति को प्रारम्भ में आत्मा की मूल स्थिति का बोध कराने के लिए दर्पण के समान अत्यन्त उपयोगी है! उसमें आत्म विकास की निमित्तता निहित है, एवं वह बहुत से भव्य जीवों के कल्याण का आप्तोपदिष्ट साधन है। इसके विरुद्ध यदि वह आप्तोपदिष्ट अथवा आगम विहित नहीं है तो उसमें आत्मविकास की निमित्तता जैसे और भी बीसियों गुण विद्यमान क्यों न हों, हम उसे अपनाने को कभी प्रस्तुत नहीं होंगे और नहीं ऐसी दशा में पूर्व प्रतिपादित गुणों का होना उसमें सम्भव हो सकता है।

आपके कथनानुसार जिस मूर्तिवाद के सम्बन्ध में कोई भी पुरातन ऐतिहासिक प्रमाण या अंगसूत्रों का विधिवाक्य नहीं मिलता,

जिसके विषय में केवल परम्परा या 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' के सिवाय और कोई प्रमाण न हो, अंगसूत्रों में जिसकी गन्ध तक भी न हो और जो केवल वर्तमान टीकाकारों के द्वारा कल्पना किये गये चैत्य शब्द के सर्वथा आधुनिक निर्मूल अर्थ—(जिनगृह जिनबिम्ब) की, उपज, एवं हिंसामूलक हो, ऐसे मूर्तिवाद को, फिर आप ही के कहने पर विधेय और पूज्य भी मानने लगे, इसी प्रकार उसे आत्म-विकास का साधक, आत्म शुद्धि का सम्पादक और आत्मबोध का दर्पण भी स्वीकार करने लगे तो इससे बढ़कर हमारी मूर्खता क्या हो सकती है ? हमारे विचार में तो आपके इस कथन का वही पुरुष समर्थक हो सकता है कि जिसकी बुद्धि का सर्वथा दिवाला निकल चुका हो जिसके मस्तिष्क में विचार का थोड़ा सा भी अंश विद्यमान है वह तो आपके इस विचार का कभी स्वागत नहीं करेगा ।

“न पूजक न उत्थापक”

पाठक जानते हैं कि हमारे पंडित बेचर दासजी ने एक तर्फ तो मूर्तिवाद को अंग बाह्य, सर्वथा अर्वाचीन और हिंसा प्रधान बतलाते हुए उसकी प्रामाणिकता प्राचीनता और धार्मिकता पर असाधारण आक्रमण करके उसके उत्थापन करने में एक वीरोचित साहस का परिचय दिया है ! तथा दूसरी ओर उसकी आत्मविकास हेतुक ओजस्विता एवं तेजस्विता के आगे घुटने टेक दिये हैं ! और एक पराजित व्यक्ति की तरह सेवक के रूपमें उसके सामने हाथ जोड़े खड़े हो रहे हैं ! अर्थात् उसे विधेय अथवा पूज्य एवं आचरणीय कहकर उसके प्रति किये गये अनादर का प्रायश्चित्त कर रहे हैं ! आपने एकतौर से दो शिकार करने का साहस पूर्ण प्रयत्न तो किया परन्तु

इसमें आपको सफलता बिलकुल प्राप्त नहीं हुई ! आप बुरी तरह पराजित हुए ! जिसका कुछ हमें भी खेद है ! आप न तो मूर्तिपूजक रहे और न उसके उत्थापक ही बन सके ! हां ! यदि कोई आजकल का मन चला विद्वान् जैन दर्शन के स्याद्वाद की व्यापकता को दृष्टि में रखकर उसे आपसे सम्बन्धित करके आपको कथंचित् मूर्तिपूजक और कथंचित् मूर्तिउत्थापक कहने का विनोद पूर्ण यत्न करे तो हम कह नहीं सकते : हमारे विचारानुसार तो आपकी यह विरुद्ध पक्षा-वलम्बनी विधेय और निषेध पक्षानुगामिनी नीति आपके लिए बहुधा घातक ही प्रमाणित हुई है । इससे तो आपके लिये यही उचित था कि आप मूर्तिवाद के निषेध पर ही डटे रहते और उसके आगम विहितत्व, प्राचीनत्व तथा अहिंसकता आदि का एक वीर पुरुष की भांति निर्भयता से प्रतिवाद करते ? यदि आपके कथन में सच्चाई की कुछ झलक होती तो विज्ञ समाज उसकी अवश्य कदर करता और आपको दाद देता ? इसमें सन्देह नहीं कि आपने प्रस्तुत पुस्तक में मूर्तिवाद के प्रतिवाद में किसी बात की कमी नहीं रखी । बड़े स्पष्ट शब्दों में उसे अंगबाह्य अशास्त्रीय अथच अत्यन्त अर्वाचीन बतलाया, और उसे अंगविहित प्रमाणित करने के लिये वर्तमान युग के मूर्तिपूजक जैन विद्वानों को बड़े प्रबल शब्दों में उद्घोषित भी किया, इसी प्रकार मूर्तिवाद को आधुनिक सिद्ध करने के निमित्त आगमों के धुरंधर विद्वान् टीकाकारों को भ्रान्त और मूलका मूसल बनाने वाले कहने में भी संकोच नहीं किया ! इसके अतिरिक्त उसे 'हिंसामूलक' उद्घोषित करके प्रभुपूजा में रस लेने वाले भव्य जीवों के श्रद्धा पूरित हृदयों को शंकाशील बनाने का श्रेय भी उपार्जित किया ।

१ "वे हिंसामूलक इस मूर्तिवाद का उल्लेख किस तरह कर सकते हैं" पृ० १८०

यह सब कुछ ठीक, और हम या हमारे जैसे विचार रखने वाले दूसरे विद्वान् कदाचित् आपके इन उद्भट विचारों (जिनमें आग्रह पूर्ण उष्णता की मात्रा अधिक है) का समर्थन न भी करते तो भी आपकी साहस पूर्ण वीर मनोवृत्ति की प्रशंसा तो अवश्य करते, अगर आप अपने इन विचारों पर दृढ़ता के साथ खड़े रहते। परन्तु आप तो बहुत जल्दी फिसल गये ? हमें आशा नहीं थी कि आप इतनी शीघ्रता से हथियार फेंक देंगे और वह भी अपने आप न कि किसी विशिष्ट व्यक्ति की प्रेरणा से। सत्य है ! मनुष्य को गिरते देरी नहीं लगती। जिस मूर्तिवाद को आपने जैन परम्परा के आगम साहित्य में से निकाल कर बाहर फेंकने का वीरोचित बीड़ा उठाया, जिसकी प्राचीनता को लुप्त करने के लिए आपने चैत्य जैसे पुनीत पदार्थ को चितास्थान पर नियंत्रित करने में संकोच नहीं किया, एवं जिसकी धार्मिक स्वच्छता को हिंसा के रुधिर से दूषित करने में भी आपने कोई कसर नहीं रक्खी, परन्तु थोड़े ही समय के बाद जब हम आपको उसीके चरणों में बैठकर उससे आत्मविकास और आत्मशुद्धि की भिक्षा मांगते हुए देखते हैं तो हमारा लज्जा के मारे सिर झुक जाता है ! और आपकी इस दया जनक स्थिति को देखकर हम अवाक् रह जाते हैं ! आप जैसे उद्भट विद्वान् की मनोवृत्ति, इतनी दुर्बल-इतनी कमजोर निकले यह तो बड़ी विस्मयजनक बात है ?

हमारे विचार से तो अगर यथार्थ में ही आपको मूर्तिवाद में बहुत से जीवों का कल्याण दृष्टिगोचर होता था तो आपको उसके खंडन में प्रवृत्त होने की कभी चेष्टा नहीं करनी चाहिये थी ? यदि अंगसूत्रों में उसके विधायक विधि वाक्य आपके दृष्टिगोचर नहीं हुए तो न सही, उनसे भिन्न उपांगादि में तो हैं, आप उन्हीं से सन्तोष-

मान लेते ? वे भी तो अंगों के समान ही प्रामाणिक हैं। हमारे विचार में तो इस पुस्तक को लिखते समय आपकी मनोवृत्ति जिस प्रतिकूल बातावरण के तुमलवेग से विक्षुब्ध एवं व्यग्र हो रही थी उसी का यह परिणाम है ! अस्तु अब हम उसी मनोवृत्ति की एक और अनोखी झलक अपने विज्ञ पाठकों के समक्ष उपस्थित करने का यत्न करते हैं।

“शास्त्रविश्रुत परम्परा”

हमारे श्रद्धेय पंडित बेचरदासजी लिखते हैं कि—

“जिस मूर्तिवाद का विधान और देव द्रव्य की गन्ध अंगसूत्रों में नहीं मिलती उसका हरिभद्र सूरि समर्थन पूर्वक उल्लेख करते हैं इसका कारण क्या होना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं ही एक ऐसी परम्परा को ढूँढ़ निकालता है कि जो मूर्तिवाद तथा देव द्रव्य को माननेवाली थी और जिसका शास्त्र विश्रुत नाम चैत्यवास परंपरा था। इससे मूर्तिवाद और देवद्रव्य से लगते श्रीहरिभद्र सूरि के उल्लेखों में मूल स्वरूप में हमें भी उसी परंपरा को स्वीकार करना है जिसे पहले शास्त्रविश्रुत परंपरा कहा है ॥ (पृ० १८९)

समीक्षा—हमको आपके इस कथन में कुछ भी वजन दिखाई नहीं देता। बल्कि आपकी आग्रह पूर्ण हठीली मनोवृत्ति को देखते हुए आपके विद्वत्ता गर्भित व्यक्तित्वपर भी हमारे हृदय में कभी कभी असद्भाव उत्पन्न हो जाता है। जहां तक हम समझ पाये हैं आपका एक मात्र ध्येय येन केन प्रकारेण मूर्तिवाद के आगम विहितत्व और प्राचीनत्व का प्रतिवाद करना है ! आपको यदि अंगसूत्रों में मूर्तिवाद का विधान दिखाई नहीं देता तो इसमें हरिभद्र सूरि का क्या दोष ? समझ में नहीं आता कि आप अपनी गर्हित मान्यता के बचाव की

खातिर श्रीहरिभद्र सूरि जैसे सुविहित आचार्य को मिथ्या भाषी ठहराने का इतना जघन्य प्रयास क्यों कर रहे हैं ।

जिस मूर्तिवाद को आचार्य हरिभद्र आगम^१ शुद्ध बतला रहे हों, और गृहस्थ के लिये जिस मूर्तिवाद—जिन प्रतिमा की पूजा—का सूत्रोक्त विधि के अनुसार प्रमाद रहित होकर अनुष्ठान करने का स्पष्ट शब्दों में आदेश^२ दे रहे हों, उस मूर्तिवाद को यदि आप अंगसूत्रों में देख नहीं पाते तो न सही इतने मात्र से (केवल आपके न देखने से) तो उसकी विधेयता लुप्त, नहीं हो सकती, जब कि श्री हरिभद्रसूरि जैसे जैन परम्परा के अनेक आगमवित् प्राचीन विद्वान् आगमों के नाम से उसके समर्थक हों ।

इसके अतिरिक्त मूर्तिवाद का समर्थन पूर्वक उल्लेख करने से ही श्री हरिभद्रसूरि को चैत्यवासी परम्परा का अनुयायी मानना तो

१ “थयविहि आगम सुद्ध” (पंचाशक ६।१) स्तवःपूजा तस्य विधिविधानं स्तवविधिस्तम्, आगमः स्तवपरिज्ञानादिकं आप्तवचनं तेन शुद्धतदुक्तानुवादेन निर्दोषः आगमशुद्धस्तम् (अभयदेवसूरि) ।

२ सुत्त भणिएण विहिणा, गिहिणा निब्बाण मिच्छमाणेन ।

तम्हा जिणाण पूजा कायव्या अप्पमत्तेण ॥ (पंचाशक ४।४६) ।

व्याख्या—सूत्र भणितेन आगमोक्तेन विधिना—विधानेन, गृहिणा—गृहस्थेन
 × × × × × जिनानामर्हतां पूजा—अर्चना कर्तव्या विधेया, अप्रमत्तेना—प्रमाद-
 वता परमाद परिहारेणेति यावत् । (अभयदेवसूरि) ।

इसके अतिरिक्त अंग और उपांगादि से मूर्तिवाद का समर्थन किस प्रकार होता है, और उनमें मूर्तिवाद का विधान किस रूप में है इत्यादि बातों के सम्बन्ध में पहले पर्याप्त विवेचन किया गया है। पूज्य हरिभद्र सूरि के उल्लेखों का मूल आधार आगम हैं आगमों में बीज रूप से रहे हुए मूर्तिवाद को उन्होंने आचरणीय व्यापक रूप देने के सिवाय नवीन कुछ नहीं किया ।

उनका घोर अपमान करना है ? वे आगमभक्त थे, उन्होंने आगमों में मूर्तिवाद की मौलिकता को देखा और उसी के अनुसार मूर्तिवाद को गृहस्थ के आचार में प्रतिष्ठित किया । यदि उनको आगमों में मूर्तिवाद का मूल उपलब्ध न होता तो वे कभी भी उसका विधान न करते ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है ।

आपकी चैत्यवास परम्परा सम्बन्धी कल्पना तो किसी दृष्टि से भी विश्वास के योग्य प्रतीत नहीं होती ! इसका समर्थक न तो कोई ऐतिहासिक प्रमाण है और नाही कोई शास्त्रीय उल्लेख । यदि सच पूछो तो आपने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये केवल कल्पना के घड़े दौड़ाये हैं ! किसी भी प्राचीन या नवीन ग्रन्थ में (आपके ही कथनानुसार) इस निर्निमा मत की उत्पत्ति का उल्लेख देखने में नहीं आता इसपर भी आप इसको शास्त्रविश्रुत-शास्त्र प्रसिद्ध कह रहे हैं ? आपके उल्लेखानुसार वीर निर्वाण की पौणी शताब्दी में (जम्बूस्वामी के निर्वाण बाद वीर निर्वाण के ६४ वर्ष में) बुद्ध के मध्यम मार्ग के आधार पर इसने 'जन्म लिया और वीर नि० की दूसरी शताब्दी में इसकी खासी जड़ जम गई और यह 'पुष्ट हो गया इत्यादि ।

अगर आपके इस कथन को यथार्थ मान लिया जाय तब तो जम्बूस्वामी के बाद जितनी भी आचार्य परम्परा हुई वह सब चैत्य-

(१) "आ चैत्यवास परम्परानुं मूल बुद्धना मध्यम मार्गनाधोरण ऊपर तेजसमये रोपाणुं छे जो समये वीरसुधर्मा के जम्बूजेवा कड़क त्यागना शौखीनो नों अभावहतो" मूल प्र० पृ० १३९ ॥

(२) "वीरपछी वीजा सैका मांज आ परम्परानुं घणुं गूढ मूल रोपायुं हतुं" पृ० १४०

वासी ही होनी चाहिये । इसके अतिरिक्त आपने भी—“यदि हम मानलें कि वीर निर्वाण से दूसरी शताब्दी में यह निर्नामा सरल मार्ग प्रचलित हुआ होगा” यह लिखकर इस परम्परा का केवल अनुमान ही कर लिया है, कोई ठोस आधार खोजने का कष्ट नहीं उठाया ! अस्तु हम तो इस सम्बन्ध में आपसे निम्नलिखित प्रश्नों का सप्रमाण खुलासा उत्तर चाहते हैं—

(१) इस परम्परा का मूल प्रवर्तक पुरुष कौन ? एक या दो अथवा बहुत ?

(२) नन्दी और कल्पसूत्र की स्थविरावलि में उल्लेख किये गये आचार्यों में से कौन २ आचार्य इस परम्परा में हुए ? अथवा सबके सब इसी परम्परा के पोषक थे ?

(३) “वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में एक ऐसी परम्परा प्रचलित थी कि जिसका शास्त्र विख्यात नाम चैत्यवास परम्परा था” इस बात का उल्लेख किसी प्राचीन जैनग्रन्थ या जैनपट्टावाली आदि में भी है ?

(४) वीरनिर्वाणकी दूसरी शताब्दीसे आठवीं शताब्दी के अन्दर इस परम्परा में कौन २ प्रधान आचार्य हुए और उनका चैत्यवासी होना किस तरह—प्रमाणित किया जा सकता है ?

(५) अगर यह परम्परा मूर्तिवाद और देव द्रव्य को माननेवाली थी तो उसकी यह मान्यता आगम मूलक थी या स्वेच्छा मूलक ? अगर आगम मूलक नहीं किन्तु स्वेच्छा मूलक थी तो वीरनिर्वाण की दूसरी शताब्दी से आठवीं शताब्दी के अन्दर जैनपरम्परा में कोई ऐसा आचार्य भी हुआ कि जिसने इस आगम बाह्य प्रवृत्ति का विरोध किया हो—प्रतिवाद किया हो ? यदि किया है तो कब और किसने ? अगर नहीं किया तो क्यों ? और कभी, विरोध या प्रतिवाद

न करने का यह अर्थ तो नहीं कि जैन परम्परा के सभी आचार्य इसे आगम सम्मत समझते और मानते थे ?

(६) आपके कथनानुसार पूज्य हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में मूर्तिवाद और देवद्रव्य का उल्लेख शास्त्रविश्रुत परम्परा के आधार पर किया अर्थात् हरिभद्रसूरि के मूर्तिवाद सम्बन्धी उल्लेखों का मूल इस परंपरा में है तो क्या उस परंपरा के कोई ऐसे ग्रन्थ उपलब्ध भी हैं कि जिनके आधार पर पूज्य हरिभद्रसूरि ने मूर्तिवाद और देवद्रव्य का विधान किया । यदि हैं तो वे कौन और कितने प्राचीन ? क्या हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में उनका कहीं निर्देश किया है ? किया है तो कहाँ ? और नहीं किया तो क्यों ? इसके अतिरिक्त उनग्रन्थों में मूर्तिवाद और देवद्रव्य का विधान तो होना ही चाहिये अन्यथा उन्हें आधारता ही प्राप्त नहीं हो सकती । अगर यह कहें कि इसके ग्रन्थ तो कोई नहीं किन्तु श्रुति परंपरा से ही वह मूर्तिवाद और देवद्रव्य की विधायक कही व मानी जाती है । उस श्रुति परंपरा के आधारपर ही हरिभद्रसूरि ने अपने ग्रन्थों में मूर्तिवाद का उल्लेख किया है । परन्तु जब तक इसके लिए कोई अकाट्य प्रमाण उपस्थित नहीं किया जाता तब तक इसपर कैसे विश्वास किया जाय । एवं कैसे माना जाय कि हरिभद्रसूरि के मूर्तिवाद सम्बन्धी उल्लेख चैत्यवास परंपरा मूलक हैं ?

इसके अतिरिक्त मूर्तिवाद और तत्सम्बन्धी देवद्रव्य की संस्थापक इस शास्त्र विश्रुत परंपरा को यदि वीरनिर्वाण की दूसरी शताब्दी में प्रभुत्व प्राप्त हो चुका हो (जैसा कि आपके लेख से 'सुनि-

(१) वीर पछी वीजासैकामांज आ परंपरा नुं घणुं गूढ़ मूलरोपायुंहतं
(पृ० १४७)

श्चित है) तो कहना न होगा कि आज से अनुमान २२ सौ वर्ष पूर्व जैनपरंपरा में मूर्तिवाद और तत् सम्बन्धी देवद्रव्यवाद (आपके ही कथन के मुताबिक) पूरे अधिकार के साथ प्रतिष्ठित हो चुका था।

(७) चैत्यवास का व्युत्पत्त्यनुसार सामान्य अर्थ (चैत्येवासः चैत्यवासः) चैत्यमन्दिर में वास-निवास करना होता है, इसके अनुसार चैत्य-मन्दिर में निवास करनेवाला चैत्यवासी कहलायेगा। और आपने यहां चैत्य का मठ या वसति अर्थ मानकर चैत्यवास का मठ-वास या वसतीवास अर्थ 'बतलाया है जो कि चैत्य के चयन प्रधान अर्थ को ही आभारी है। तब सामान्यतया देवस्थान, मठ या वसती में निवास करना यह चैत्यवास का अर्थ निष्पन्न होता है। इसपर से चिता स्थानपर की राख या उसपर का चबूतरा वगैरह आपके प्रधान अर्थ को तो यहांपर कोई स्थान प्राप्त नहीं होता इत्यादि।

तब इस सारे विचार सन्दर्भ से हम तो इसी निश्चयपर पहुंचे हैं कि चैत्यवास का मूल किसी भी परंपरा में हो और वह कितनी ही प्राचीन क्यों न हो तो भी पूज्य हरिभद्रसूरि के मूर्तिवाद संबन्धी उल्लेखों का सीधा संबंध तो आगमों के साथ है उन्हीं के आधारपर उन्होंने मूर्तिवाद की स्थापना की। इसलिये हरिभद्रसूरि का मूर्तिवाद संबन्धी जो कुछ भी विधान है वह उनका आगम मूलक स्वतंत्र विधान है उसमें किसी आगन्तुक निर्मूल परंपरा का हस्तक्षेप मानना किसी प्रकार से भी उचित प्रतीत नहीं होता।

१ मठ या वसती वास को अंगीकार किया था (पृ० १८५)

तो क्या पहले साधु सिर्फ जंगलों में ही रहते थे ? वसती में रहना उनके लिखे निषिद्ध था ? परन्तु जैन आगमों से तो उनका वसती में रहना भी स्पष्ट सिद्ध है।

“एक भारतीय विद्वान् की साक्षी”

हमारे श्रद्धेय पण्डित बेचरदासजी ने मूर्तिवाद को अशास्त्रीय अथच अर्वाचीन प्रमाणित करने की हर प्रकार से चेष्टा की है जो कि उनके व्यक्तित्व को ही आभारी है । जैन परंपरा में मूर्तिवाद का आरंभ कब से हुआ इस संबंध में आपने स्वतंत्र रूप से जो विचार प्रदर्शित किये हैं उनका पर्यालोचन करने से पहले उनके समर्थन में एक भारतीय विद्वान् के लेखको जो साक्षीरूप में आपने उपस्थित किया है उसको देख लेना भी नितान्त आवश्यक है ।

आप फर्मति हैं कि—“भारतवर्ष” मां मूर्तिवाद नो प्रारम्भ अने प्राबल्य शी रीते थयां ते विषे एक विद्वान् जणावे छे के—

“मूर्तिपूजा की उत्पत्ति या तो यहीं कि बसी हुई जंगली जातियों की नकल करके हुई होगी या उस समय की बाह्र से धावा करने वाली जातियों की देखा देखी सीखी गई होगी ✕ बुद्धके जीवन में शायद उनके लिये कोई मन्दिर नहीं बना था, परन्तु उनकी मृत्यु के उपरान्त बहुत से मन्दिर बन गये जिनमें उनकी मूर्तियां रक्खी गईं ✕ जब तांत्रिक बौद्धमत का प्रचार बढ़ा तब बहुत से मन्दिर बनाये जाने लगे ✕ तांत्रिक मत के अनुसार बौद्धवैष्णव और शैवमतों का मेल होकर ऐसा धर्म निकला जिसमें देवता और देवी की पूजा साथ साथ होने लगी । शक्ति या प्रकृति की पूजा पांचवीं या छठी शताब्दी से शुरू हुई । तांत्रिक मत ही के बाद से मूर्तिपूजा ने जोर पकड़ा”

(सरस्वती १९१६ देवोत्तर का इतिहास पृ० ७-१२)

१ भारत वर्ष में मूर्तिवाद का प्रारम्भ और प्राबल्य किस तरह हुआ इस विषय में एक विद्वान् कहते हैं कि—

इसपर आप लिखते हैं कि—“आ पंडिते^१ मूर्तिपूजानी प्रबलता नो पांचमो या छठो सैको नोधेलो छे, अने तेनो आरम्भ बुद्ध निर्वाण पछी ठरावेलो छे ॥ (पृ० १४१)

समीक्षा—मूर्तिवाद के अर्वाचीनत्व की साक्षी के रूप में उद्धृत किये गये इस लेख को देखने से मालूम होता है कि इसके लेखक महाशय शरीर से तो भले ही भारतीय हों मगर दिमाग इनका भारतीय नहीं है । इनके दिमाग में तो भारतीय सभ्यता और संस्कृति के कट्टर विरोधी विदेशी लोगों के विचारों का भुस भरा हुआ मालम देता है ? जो लोग विदेशी शिक्षा के रंग में रंगे जाकर अपने पूर्वजों को असभ्य और जंगली कहने व मानने के आदी हो गये हों, एवं जो अपने प्राचीन वैदिक ऋषियों और त्याग शील मुनियों की आध्यात्मिक सद्विचारणाओं को विदेशी लोगों के स्वर में स्वर मिलाकर भेड़ बकरी चराने वाले गड़रियों के गीत कहने में ही अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा की सफलता समझते हों वे लोग अगर मानव जीवन के आध्यात्मिक जागरण में साधन भूत इस मूर्तिवाद को जंगली लोगों के मस्तिष्क की उपज बतलावें तो इसमें आश्चर्य की कौनसी बात है ! जिनके हृदय में भौतिकवाद की पैशाचिकता ने घर बना रक्खा हो वे आध्यात्मिकता के पुजारी नहीं बन सकते ! मूर्तिवाद यह जंगली लोगों के दिमाग की उपज नहीं किन्तु जंगलों में रहने वाले प्रतिभा सम्पन्न अध्यात्म जीवी ऋषि मुनियों के आलोक पूर्ण मस्तिष्क से निष्पन्न हुआ एक तात्त्विक सिद्धान्त है, जो कि अध्यात्म मार्ग के पथिक के लिए उत्तम पाथेय का काम देता है !

२ इस पंडित ने मूर्तिपूजा की प्रबलता को पांचवीं या छठी शताब्दी में लिखा है उसका प्रारम्भ बुद्ध निर्वाण के बाद अंकित किया है (अनुवाद) ।

अस्तु, इस उद्धृत लेखपर विचार करने से पहले हम अपने श्रद्धेय पंडित बेचरदासजी से इतना अवश्य पूछना चाहते हैं कि आपको इस लेख में ऐसा कौन सा महत्व दिखाई दिया कि जिससे प्रेरित होकर आपने अपने इस साहित्य विकार में (प्रस्तुत निबन्ध में) स्थान देने का उद्योग किया ? आपके इस निबन्ध में तो पहले ही विकार की काफी मात्रा थी फिर उसमें और वृद्धि करने का प्रलोभन आप को क्यों हुआ ? जिस अभीष्ट सिद्धि के लिए (मूर्तिवाद को अर्वाचीन प्रमाणित करने के लिए) आपने यह लेख—जो कि (सम्भवतः आपके लिए आप्त बचन हो) उद्धृत किया है आपका वह अभीष्ट मूर्तिवाद का अर्वाचीनत्व तो अंगबाह्य कह देने पर पहले सिद्ध हो चुका है तात्पर्य कि आपके विचारानुसार अंगसूत्रों में मूर्तिवाद का विधान न होने से उसकी अर्वाचीनता सिद्ध ही है । फिर उसके लिए पर मुखापेक्षी होने की आपको आवश्यकता क्यों पड़ी ? आप जैसे अध्यात्मवाद के पक्षपाती समर्थ विद्वान् मूर्तिवाद की अर्वाचीनता जैसे एक बिलकुल साधारण मामूली से कार्य के लिए (जिसकी पूर्ति आपके मतानुसार आपके घर से ही हो सकती है) उन पंडितों का द्वार खट खटायें कि जिनके वहां केवल भौतिकवाद का पिशाच नृत्य कर रहा हो और जहां से अध्यात्मजीवी व्यक्ति को कुछ भी पल्ले पड़ने की आशा न हो । इसे आप भले ही गौरवास्पद समझें मगर हमें तो आपका यह आचरण बेहद खटका ? अस्तु अब हम इस सम्बन्ध में आपसे इतना और पूछने की भी धृष्टता करते हैं कि इस उद्धृत लेख में मूर्तिवाद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कल्पना की गई है, आप उससे सहमत हैं ? अथ च जिस मूर्तिवाद को आप आत्म शुद्धि का साधन, आत्म विकास का हेतु, और आत्मा की मूल स्थिति का

भान कराने में दर्पण समान समझते हैं, तथा दूसरों को समझा रहे हैं, वह मूर्तिवाद इस ऊपर उद्धृत किये गये लेख में बतलाये हुए मूर्ति-वाद से भिन्न है या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो उसकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई ? अगर अभिन्न है तो क्या जो सिद्धान्त अपने में आत्म शुद्धि, आत्मविकास और आत्मबोध की योग्यता रखता हो उसे जंगली असभ्य और मूर्खों का उत्पन्न किया हुआ कहना व मानना आपको कुछ असंगत तो प्रतीत नहीं होता ? अगर होता है तो इसे आपने शायद इसलिये उद्धृत किया होगा कि जनता आप जैसे पढ़े लिखे व्यक्तियों के दिमाग का भी अन्दाज़ा कर ले, ताकि यह भ्रम न रहे कि पढ़े लिखे व्यक्ति भी आग्रह ग्रसित मनोवृत्ति के वशीभूत होकर कभी कभी भयंकर से भयंकर भूल कर बैठते हैं ! हमारे विचार से तो इस लेख को उद्धृत करके, आपने अपने इस निबन्ध के रहे सहे महत्व को भी खो डाला जिसका हमें भी कुछ खेद है ! अच्छा अब उद्धृत लेख की ओर भी पाठक ध्यान दें ? लेखक महोदय ने मूर्तिपूजा की उत्पत्ति का जो प्रकार बतलाया है एवं उसके प्रारम्भ और प्राबल्य का जो समय निश्चय किया है, हमारे विचार में वह विश्वास के योग्य नहीं है भारतीय प्राचीन धार्मिक वाङ्मय में उपासना विधि का जो स्वरूप प्रदर्शित किया गया है उसको देखते हुए तो यही मानना पड़ेगा कि प्रतीकोपासना यह एक आदर्श है न कि मूढ़ विश्वास । इसे जंगली लोगों का चलाया हुआ कहना आर्य जाति के एक अत्यन्त प्राचीन आदर्शरूप शास्त्रीय सिद्धान्त एवं आचार विशेष की अवगणना करना तथा उसे ठेस पहुंचाना है । मालूम होता है कि लेखक महाशय के दिमाग पर वर्तमान आर्य समाज के मूर्ति विरोधि विचारों का पेबन्द चढ़ा हुआ है !

अस्तु अब इसकी शास्त्रीय प्राचीनता की ओर भी पाठक ध्यान दें—

लेखक महोदय की धारणा के अनुसार विक्रम की पांचवीं या छठी शताब्दी में तांत्रिक मत के प्रचार से मूर्तिपूजा ने जोर पकड़ा, एवं पंडित बेचरदास जी भी यही कह रहे हैं। परन्तु हमारी धारणा इसके विपरीत है। हम तो इस मूर्तिवाद को बहुत प्राचीन समझते हैं बल्कि प्राचीन वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होने वाले प्रमाणों के आधार पर यह बुद्ध और महावीर से भी प्राचीन सिद्ध होता है।

इतिहास, पुराण, स्मृति, सूत्र, कल्प, तथा वेद के ब्राह्मण और मंत्र भाग तक में इसके जो उल्लेख देखने में आते हैं। उन पर से मूर्तिवाद की जहां प्राचीनता नजर आती है वहां उसकी उपादेयता व्यापकता और आचरणीयता में भी सन्देह नहीं रहता। जैसे कि—

(१) इतिहासपुराण—

(क) 'देवागाराणि शून्यानि न भान्तीह यथा पुरा।

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च, यज्ञगोष्ठास्तथैव च ॥ (वाल्मी०^३

रा० २।७१.४०)

(ख) देवालयांश्च कुर्वीत, देवपूजारतो नृपः। (आग्नेय पु०

अ० १२१ श्लो० ११)

(२) स्मृति आदि—

(क) नित्यं स्नात्वा शुचिः कुर्याद्देवर्षिपितृतर्पणम्।

(१) देवतार्चा—प्रतिमाः प्रविद्धाः निरस्तपूजनाः (टीकाकारः)

(२) आजकल के इतिहासज्ञोंने वाल्मीकीय रामायण का समय ईस्वी सन् पूर्व पांचवीं शताब्दी स्वीकार किया है।

देवताभ्यर्चनं चैव, समिदाधानमेव च ॥

(मनुस्मृति^१ २।१७६)

(ख) “बिम्बानिस्थापयेद् विष्णोः ग्रामेषु नगरेषु च”

(वृद्धहारीत ७।२१४)

(३) कौटिल्यार्थशास्त्र—

(क) दैवत प्रतिमा युक्तं वा भूमीगृहम्”

(अधिक० १२ अध्या० ५)

(ख) “दैवत प्रतिमां वा” इत्यादि । (अधिक० १३ अध्या० २)

(४) बार्हस्पत्यसूत्र—(ई० पू० ४०० के लगभग)

“देवता प्रतिमा स्वेदश्च यस्मिन् दृश्यते तत्र प्रायश्चित्तमन्यत्र यानमेव प्रतिकारो नास्ति” (अध्या० ४ सू० २५)

आशय—जब देव प्रतिमाओं से पसीना निकलता दिखाई दे तब समझ लेना कि कोई भारी उपद्रव होने वाला है ! अतः वहाँ से कहीं अन्यत्र चले जाना चाहिये, और इस विषय का अर्थात् देव मूर्तियों से पसीना आदि निकलने का उल्लेख हर्ष चरित में भी किया है । इसके अतिरिक्त भारत के सुप्रसिद्ध वास्तुशास्त्री वाराह मिहिरने भी उल्कापात लक्षण प्रकरण में इस बात की चर्चा की है ।

यथा—“अनिमित्त भंग चलनस्वेदाश्रुपात जल्पनाद्यानि,

लिंगार्चायितनानां, नाशाय नरेशदेशानाम् ॥ ८ ॥

(बृहत्संहिता)

१ यह भृगुप्रोक्त मानव संहिता—मनुस्मृति पातंजल महाभाष्य से प्राचीन है और इसका कम से कम समय ई० पू० ४०० वर्ष है ।

(ना० प्र० प० १०।१-२ पृ० २९४)

अर्थात् शिव लिंग, देवता की प्रतिमा या देव गृह का बिना कारण भंग होना, देवप्रतिमाओं का चलायमान होना, पसीना निकलना, अश्रुपात, होना आंसू टपकना और जल्प-बोलना आदि हों तो राजा और देश का नाश हो जाता है। यहाँ पर इतना और भी स्मरण रहे कि मध्यकालीन इन मूर्तिवाद समर्थक उल्लेखों का मूल अत्यन्त प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विद्यमान है। यथा—“सपरं दिवमन्वावर्ततेऽथ यदा स्याद्युक्तानि यानानि प्रवर्तन्ते देवता यतनानि कम्पन्ते दैवत प्रतिमानि हसन्ति रुदन्ति नृत्यन्ति स्फुटन्ति खिद्यन्त्युन्मीलन्ति निमीलन्ति प्रतिप्रयान्ति नद्यः^१ इत्यादि”।

(षड्विंश ब्राह्मण प्र० ५ ख० १०)

(५) आपस्तम्बीयगृह्य सूत्र में ईशान बलि नामक पाकयज्ञ में वर्णित हुए मूर्तिवाद का प्राचीन विधान भी द्रष्टव्य है यथा

(१) ईशानाय स्थाली पाकं श्रपयित्वा क्षेत्रपत्यं च प्राची-मुदीचीं वा दिशमुपनिष्क्रम्य स्थंडिलं कल्पयित्वाऽग्नेरुपसमाधानादि”

(२) अपरेणार्गिं द्वे कुटीकृत्वा ॥ १४ ॥ ख० १९ ॥

(३) उत्तरया दक्षिणस्या मीशानमावाहयति ॥ १ ॥

(४) लौकिक्या वाचोत्तरस्यां मोढुषीम् ॥ २ ॥

(५) मध्ये जयन्तम् ॥ ३ ॥

(१) इस मंत्र का करीब करीब वही अर्थ है जिसका उल्लेख बृहत्संहिता के उक्त श्लोक में किया है। षड्विंश ब्राह्मण का समय ईसा से ८-९ शताब्दी पूर्व से इधर का तो नहीं है ऐसी दशा में विक्रम की पांचवी छठी शताब्दी से पूर्व यहाँ मूर्तिपूजा का प्रचार नहीं था इस मान्यता का हमारे ख्याल में तो कुछ भी मूल्य नहीं है।

(६) यथोद्धमुदकानि प्रदाय त्रीनोदकान् कल्पयित्वाऽग्निम-
भ्यानीयोत्तरै रूपस्पर्शयित्त्वोत्तरैर्यथा स्वमोदनेभ्यो हुत्वा सर्वतः
समुपादायोत्तरेण यजुषाऽग्निं स्विष्टकृतम् ॥ ४ खं० २० ॥

भावार्थ—इस ईशान बलि कर्म को करने वाला पुरुष औपा-
सन अग्नि में ईशान देवता और क्षेत्रपति देवता के लिये
(खं० ७ सू० २-३ में लिखे अनुसार) उपासनान्त दोनों स्थाली-
पाक बनाके, अभिधारण करके दोनों स्थालीपाक औपासन
अग्नि और जो जो वस्तु अपेक्षित हों उन सबके सहित ग्राम
से बाहर पूर्व वा उत्तर दिशा में निकलकर शुद्ध स्थान को
गोबर से चौकोन लीपकर उसके पूर्व भाग में अग्निस्थान नियत करके
उत्तमें अग्नि का प्रज्वालनादि कर्म आज्यभाग पर्यन्त करे (१३)
फिर अग्नि से पश्चिम में पूर्व वा पश्चिम में जिनके द्वार हों और
दक्षिण उत्तर को लम्बाई हो ऐसी दो कुटी देव और देवी के लिए बनावे
(१४) उनमें से दाहिनी कुटी में महादेवजी की और उत्तर कुटी
में गौरी देवीजी की एक एक प्रतिमा बनावे और बीच में जयन्त
नामक स्कन्द वा इन्द्र देव की प्रतिकृति बनावे, फिर दक्षिण की
कुटिस्थ प्रतिमा में—(आत्वा ब्रह्मं हरयः) मंत्र पढ़ के ईशान देव का
आवाहन करे (१) फिर उत्तर कुटिस्थ गौरी की प्रतिमा में लौकिक
वाणी—आयाहि मीढुष०) से ईशान पत्नी भगवती का आवाहन करे
(२) दोनों कुटी के मध्यस्थ—अवकाशस्थ प्रतिमा में स्कन्द वा इन्द्र
देव का आवाहन करे फिर आवाहन क्रम से आसन अर्घ्य पाद्यादि
द्वारा पूजन कर स्थाली पाक से भात निकाल के तीनों देवता के
लिये पात्र वा पत्तलों में थोड़ा थोड़ा परोसकर उन पात्रों को

अग्नि के पास लाकर अग्नि से पश्चिम में कुशों पर रख देवे
॥ इत्यादि पृष्ठ ४७। ४८ ॥

(अनुवादक--वेदव्याख्याता पंडित भीमसेन शर्मा-इटावा)

इस उल्लेख से मूर्ति निर्माण, आवाहन और पूजन तीनों ही स्पष्ट प्रमाणित होते हैं ।

(५) महर्षि पाणिनि के समय में भारतवर्ष में मूर्तियों के निर्माण और उनकी पूजा के प्रचलित होने में तो किसी को भी विवाद नहीं है । उस समय शिव, विष्णु और स्कन्द आदि देवताओं की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी । उनकी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं और वे मन्दिरों में पूजा के लिए प्रतिष्ठित की जाती थीं । इसके अतिरिक्त महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि के “जीविकार्थे-चापण्ये” आदि सूत्रों पर किये गये उल्लेख से तो यह भी साबित होता है कि मौर्य नृपति इन देवार्चाओं-देवप्रतिमाओं को मन्दिरों में प्रतिष्ठित करके उनके चढ़ावे से द्रव्य एकत्रित करते थे (देखो ४।३।९९ का महाभाष्य)

(६) वेद-वेदों की प्राचीनता के विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं वे वर्तमान काल में उपलब्ध समस्त वाङ्मय से पुरातन हैं, उनसे भी मूर्तिवाद का कम समर्थन नहीं होता ।

(१) महर्षि पाणिनि के समय के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में मतभेद है—डाक्टर भांडारकर उसे ईसा से ७०० वर्ष पूर्व का मान रहे हैं, जब कि—जायसवाल महोदय उसे गौतम बुद्ध से पीछे ले जा रहे हैं ! एवं महामहोपाध्याय गणपति शास्त्री के मतसे वे ई० पू० सातवीं शताब्दी से भी कुछ प्राचीन हैं, तथा श्री जयचन्द्र विद्यालंकार उन्हें पूर्व नन्द का समसमयी बतला रहे हैं, (देखो भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ५७४) तथापि वे ई० पू० पाँचवीं शताब्दी से अर्वाचीन तो नहीं हैं ।

वेदों में विष्णु और शंकर आदि विभूतियों को ईश्वर का प्रतीक मानकर अर्थात् इनको इस स्वरूप में अवतरित हुए जानकर जो प्रार्थना की गई है उस पर से मूर्तिवाद का प्राचीनत्व और विहितत्व स्पष्ट प्रमाणित होता है। यजुर्वेदका रुद्राध्याय नाम से प्रसिद्ध सोलवां अध्याय रुद्ररूप में अभिव्यक्त हुए ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करने में ही चरितार्थ हुआ है। सनातन वैदिक धर्मानुयायी लोग प्रतीकों के द्वारा इसी साकार स्वरूप की उपासना करते हैं। अथर्ववेद के एक निम्न लिखित मंत्र में परमात्मा की शंकररूप में अभिव्यक्त हुई विभूति के प्रत्येक अंगको नमस्कार किया है यथा—

“मुखायते पशुपते यानि चूर्ध्वं ते भव, त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनायते नमः अंगेभ्यस्ते उदराय जिह्वाय आस्यायते दद्भ्यो गन्धायते नमः ॥ (अथर्व० ११।२।५।६)

इसके अतिरिक्त वैदिक काल में देव मूर्तियों के निर्माण आदिका सूचक ऋग्वेद का निम्न लिखित मंत्र बड़े महत्त्व का है—

क इमं दशभिर्ममेन्द्रं क्रीणाति धेनुभिः ।

यदा वृत्राणि जंगघन् अथैनं मे पुनर्ददत् ॥

(ऋग्वे० अष्ट० ३ सू० २४ मं० १०)

आशय—क्या कोई ऐसा है जो कि मेरे इस इन्द्र को दस गायों के बदले खरीदकर वृत्रासुरों का वध करने के बाद मुझे वापिस कर देवे ।

इस मंत्र में प्रयुक्त हुए इन्द्र शब्द का अर्थ इन्द्र की प्रतिकृति—प्रतिमा है—(इन्द्रस्य प्रतिकृतिः इन्द्रः, शिवस्य प्रतिकृतिः शिवः) कारण कि बेचना और खरीदना प्रतिकृति—मूर्ति में ही सम्भव हो

सकता है, साक्षात् इन्द्र में नहीं। इन उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि मूर्तिवाद यह बुद्ध निर्वाण के बाद नहीं किन्तु बुद्ध से भी बहुत पहले भारतवर्ष में प्रचलित था। तब उक्त भारतीय विद्वान् की साक्षी से मूर्तिवाद को अर्वाचीन सिद्ध करने में हमारे मित्र पंडित बेचरदासजी कितने सफल हुए हैं इसको हमारी अपेक्षा पाठक अधिक समझ सकते हैं।

“कतिपय विद्वानों की सम्मतियां”

इस प्रकार प्रसंग प्राप्त मूर्तिवाद की विधेयता और प्राचीनता के सम्बन्ध में वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थों के कुछ उदाहरण (जिनसे मूर्तिवाद की विधेयता और प्राचीनता सिद्ध होती है) पाठकों की सेवा में उपस्थित कर दिये हैं। अब इसी विषय से सम्बन्ध रखने वाले, कतिपय भारतीय विद्वानों के लेख भी उपस्थित करने का यत्न करते हैं—

(१) दर्शनों के प्रकाण्ड विद्वान् पंडित सुखलाल जी संघवी (भूतपूर्व जैनधर्माध्यापक हिन्दु विश्वविद्यालय, बनारस) लिखते हैं कि—

“भारत में मूर्तिपूजा या प्रतीक-उपासना बहुत पुरानी और व्यापक भी है। निर्ग्रन्थ परम्परा का इतिहास भी मूर्ति और प्रतीक की उपासना-पूजा से भरा-पड़ा है। पर इस देश में मूर्ति विरोधी और मूर्ति भंजक इस्लाम के आने के बाद मूर्तिपूजा के विरोधी—अनेक परम्पराओं ने जन्म लिया। निर्ग्रन्थ परम्परा भी इस प्रतिक्रिया से न बची। १५ वीं सदी में लौकाशाह नामक एक व्यक्ति गुजरात में पैदा हुए जिन्होंने मूर्तिपूजा और उस निमित्त होने वाले आडम्बरों का सक्रिय विरोध किया जो क्रमशः एक मूर्ति

विरोधी फिरके में परिणत हो गया। नया आन्दोलन या विचार कोई भी हो पर सम्प्रदाय में वह तभी स्थान पाता और सफल होता है जब उसको शास्त्रों का आधार हो। ऐसा आधार जब तक न हो तब तक नया फिरका पनप नहीं सकता। तिसपर भी यदि पुराने शास्त्रों में नये आन्दोलन के खिलाफ प्रमाण भरे पड़े हों तब तो नये आन्दोलन को आगे कूच करने में बड़ी रुकावटों का सामना करना पड़ता है। पुराने निर्ग्रन्थ आगमों में तथा उत्तर कालीन अन्य साहित्य में मूर्तिपूजा और प्रतीकोपासना के सूचक अनेक उल्लेख मौजूद हैं, ऐसी स्थिति में विरुद्ध उल्लेखवाले आगमों को मानकर मूर्तिपूजा के विरोध का समर्थन कैसे किया जा सकता था। मूर्तिपूजा का विरोध परिस्थिति में आ गया था, आन्दोलन चालू था, पुराने विरुद्ध उल्लेख बाधक हो रहे थे—इस कठिनाई को हल करने के लिये नये मूर्तिपूजा विरोधी फिरके ने उसी ऐतिहासिक मार्ग का अवलम्बन लिया जिसका कि सामिष निरामिष भोजन के विरोध का परिहार करने में पहले भी निर्ग्रन्थ मूनि ले चुके थे। अर्थात् मूर्तिपूजा के विरोधियों ने चैत्य, प्रतिमा, जिनगृह आदि मूर्तिसूचक पाठों का अर्थ ही बदलना शुरू कर दिया।” इत्यादि २ (जैन संस्कृति संशोधन मंडल पत्रिका नं० १४ के अन्तर्गत ‘निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय और उसके प्राचीन आचार विचारों पर दृष्टिपात’ शीर्षक लेख पृष्ठ २४)

(१) पंडित सुखलालजी के इस उल्लेख से जहां मूर्तिवाद की विधेयता और प्राचीनता प्रमाणित होती है वहां हमारी भी बहुत सी कठिनाई दूर हो गई ! सम्भवतः अब हमारे मित्र मूर्तिवाद को आगमबाह्य, सर्वथा आधुनिक और मनः कल्पित कहने का साहस नहीं करेंगे।

(२) श्रीसुनीति कुमार चटरजी एम० ए० डी. लिट. (लंडन) प्रोफेसर कलकत्ता विश्वविद्यालय, “बृहत्तर भारत में शिव” शीर्षक लेख में लिखते हैं कि—“मालूम होता है कि वैदिक आर्य लोग देवताओं की प्रतिकृतियां बहुत कम बनाते थे। ऋग्वेदादि संहिता ग्रन्थों में देवताओं के असाधारण शब्दचित्र पाये जाते हैं परन्तु इन शब्द चित्रों की रूपरेखा के अर्थात् इन्हें स्थूलरूप देने के विशेष प्रमाण नहीं मिलते। ऋग्वेद के अन्दर एक स्थान में रुद्रदेवता की प्रतिकृति के बनाने का उल्लेख है—(ऋ० २।३३।६) “स्थिरेभि रंगै पुरुरूप उग्रैः-बभ्रुः शुक्रैभिः पिपिशे हिरण्यैः”—स्थिर अर्थात् दृढ़ अंगों वाले बहुरूप अर्थात् अनेक आकारों के भयंकर बभ्रुवर्ण (भूरे रंग के) रुद्रदेव को सुनहरे रंग से रंजित किया है। × × × “मोहिन-जोदड़ो” में बहुत से गौरीपट्ट और लिंगमय शिव प्राप्त हुए हैं और कई मोहरों में खड़ी तथा बैठी हुई अनेक आकारों की तथा अनेक भुजाओंवाली शिव की मूर्तियां देखने में आई हैं। इन मूर्तियों के चित्र तथा भारत में आर्य युग से पूर्व आदिम शैवधर्म के अस्तित्व के सम्बन्ध में कुछ विचार “सर जान मार्शल” द्वारा सम्पादित “मोहिन जोदड़ो” के अनुसन्धान विषयक ग्रन्थ में मिलेंगे। जिस रूप से आज हम शिव को पूजते हैं करीब करीब उसी रूप में वे अब से लगभग पांच हजार वर्ष पूर्व के चित्रों में भी मिलते हैं !” (कल्याण-शिवांक पृष्ठ ५८१)

(३) डाक्टर श्रीधर वेंकटेश केतकर एम. ए. पी एच. डी. पूना—
“वेदग्रन्थों के नवीन अभ्यास की पद्धति” शीर्षक लेख के एक विभाग में इस प्रकार लिखते हैं—

वेदकाल में शैवादि सम्प्रदाय का अस्तित्व-वेदकालीन यज्ञ संस्था

जिस समय नष्ट नहीं हो गई थी उसी समय उसमें शाखा भेद हो गया था, उस समय शैव वैष्णव सम्प्रदाय का अस्तित्व दिखाने के लिए कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

“तत् पुरुषाय विद्महे महादेवायधीमही तन्नोरुद्रः प्रचोदयात् ।”

“तद् गां गौच्याय विद्महे गिरिसुतायधीमही तन्नोगौरी प्रचोदयात् ।”

“तत् कुमाराय विद्महे कार्तिकेयायधीमहि तन्नः स्कन्दः प्रचोदयात् ।”

“तत् कराटाय विद्महे हस्तिमुखायधीमहि तन्नोदंती प्रचोदयात् ।”

इस प्रकार के मंत्र काठक संहिता (१७।११) में भी देख पड़ते हैं। इससे शैव-वैष्णव सम्प्रदायों के अधिष्ठान भूत देवता जो इस समय भौतिक रूप में हैं, संहिताकारों को भी प्राप्त हुए थे। और उन्होंने उन्हें अपनी यज्ञ संस्थाओं में स्थान दिया था, यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। इन देवताओं का अस्तित्व केवल वेदोत्तर में ही नहीं वरन् वेदकाल में भी श्रौतादि प्रचलित परमार्थ साधन में था (गंगा वेदांक प्रवाह २ तरंग १ पृष्ठ ८१)

(४) श्रीयुत पंडित शिवदत्त शर्मा—अजमेर—

आपका, नागरी प्रचारिणी पत्रिका—(भा० ५ अं० ४ तथा ६।२) में—“प्रतिमापरिचय” शीर्षक एक बड़ा ही महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ है। उसका कुछ अंश यहां पर उद्धृत किया जाता है—

“अभी तक जो प्राचीन से प्राचीन मूर्तियां मिली हैं। वे ईसासे दो शताब्दी पूर्व की हैं। इनमें से एक तो दक्षिण भारत के गुड़ि-मल्लं नगर का शिवलिंग है और दूसरा बेसनगर का गरुड़ स्तम्भ। इससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रतिमा निर्माण विधायक

ग्रन्थों की रचना आज से बाईस सौ वर्ष पूर्व अवश्य अच्छे प्रकार से हो चुकी होगी । और उस समय शैव-वैष्णवादि पन्थों की उपचित अवस्था थी । (पृष्ठ ४७७)

(५) श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार—

“भगवद्गीता का वासुदेव के पूजापरक धर्म से विशेष सम्बन्ध है वह पूजा चौथी शताब्दी ई० पू० में प्रचलित थी सो खुद्दुनिकाय के अन्तर्गत निद्देस नामक ग्रन्थ से सिद्ध होता है” (भारतीय इतिहास की रूपरेखा पृ० ४८९)

तब इन उपर्युक्त विद्वानों की साधार सम्मतियों के विद्यमान रहते यह कैसे मान लिया जाय कि मूर्तिवाद का प्रचार विक्रम की पांचवीं या छठी शताब्दी में तांत्रिकमत की देखा-देखी हुआ । एवं यह भी कैसे विश्वास किया जाय कि वह आगमबाह्य और सर्वथा आधुनिक है । जब कि अनेक विद्वान इसे अत्यन्त प्राचीन और आगम सम्मत बतला रहे हों ।

“जैनपरम्परा के मूर्तिवाद की ऐतिहासिक प्राचीनता”

हमारे श्रद्धेय पंडित बेचरदासजी जैनपरम्परा में विक्रम की छठी शताब्दी के पहले मूर्तिवाद-मूर्तिपूजा का प्रचलित होना नहीं मानते । आपके मत से वीरनिर्वाण ९८० वर्ष और विक्रम सम्बत् ५१० वर्ष के बाद ही जैनपरम्परा में मूर्तिवाद का प्रचार बढ़ा, इससे पूर्व तो आपके ख्याल में उसकी गन्ध तक भी नहीं थी । तथापि लोक स्वभाव के कारण वीरनिर्वाण के बाद कदाचित् उसका कहीं पर अंकुर उत्पन्न हो गया हो तो इससे आप इनकार नहीं करते यथा— वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष तक के या विक्रम से ५१० वर्ष तक के समय में एक प्रवाही मार्गरूप में मूर्तिवाद की उत्कट गन्ध तक

मालूम नहीं होती। तथापि मैं इस बात को मंजर कर लेता हूँ कि लोक स्वभाव के कारण वीरनिर्वाण के बाद ही कदाचित् कहीं पर उसका अंकुर अंकुरित भी हुआ हो” (पृ० १९२) परन्तु हमारी धारणा तो इससे विपरीत है हमारे विचार से तो वह—मूर्तिवाद विक्रम से बहुत शताब्दी पूर्व ही जैन परम्परा में मार्गरूप से प्रचलित था। हमारे इस विचार का समर्थन जैनपरम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय प्राचीन शिलालेखों और उन पर किये गये विशेषज्ञों के विवरणों से भली-भांति सिद्ध होता है। वर्तमान युग के विशेषज्ञों ने तो यह स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लिया है कि विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी में जैनपरम्परा में मूर्तिवाद भली-भांति प्रचलित था। (देखो—कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण। लेखक—के० पी० जायसवाल एम. ए.)^१ तथा ध्रुव महाशय का विवरण+।

(१) पाठकों के अवलोकनार्थ जायसवाल महोदय के उक्त शिलालेख सम्बन्धी विवरण का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

“जैनधर्म का यह अबतक सबसे प्राचीन लेख है, इससे ज्ञात होता है कि पटने के नन्द के समय में उत्कल या कलिंग देशमें जैनधर्म का प्रचार था और जिनकी मूर्ति पूजी जाती थी। कलिंग-जिन नामक मूर्तिको नन्द उड़ीसा से पटने उठा लाये थे। और जब खारवेलने मगध पर चढ़ाई कर शताब्दियों बाद बदला चुकाया तब वे उस मूर्ति को वापिस ले गये × × × × × नन्द संवत् विक्रम संवत् में ४०० वर्ष जोड़देने से निकल आता है। यह गणना अलबेरूनी ने दी है। अर्थात् यह विक्रम से ४०० वर्ष पूर्व चलाथा। यह नन्दवर्द्धन का है जो पहला नन्द हुआ और महापद्म और महानन्द आदि के पहले हुआ। नन्द संवत् का इस शिलालेख में उल्लेख है। उस संवत् के १०३ वर्ष में एक नहर खोदी गई थी। × × × नन्दराज संवत्कार ही खारवेल लेखांकित नन्दराज है

“जैनमान्यता”

जैनमान्यता के अनुसार श्रमण भगवान महावीर जैनपरम्परा में चौबीसवें अन्तिम तीर्थंकर हुए हैं उनसे पूर्व भगवान ऋषभ-देव से लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त २३ तीर्थंकर और हुए हैं। जैनों की

यह स्पष्ट है। क्योंकि दो स्थानों पर इसका जिक्र है एक संवत् के साथ और दूसरे मूर्ति मगध उठालेने के बारे में। समझ पड़ता है कि वे जैन थे, क्यों कि जिन मूर्ति अपने यहां ले आये थे। ईस्वीसन् ४५८ वर्ष पहले और विक्रमाब्द के चारसौवर्ष पूर्व जैनधर्म का इतना प्रचार उड़ीसा में था कि मूर्तियां भगवान् महावीर के निर्वाण के कोई ७५ ही वर्ष बाद वहां प्रचलित होगईं ? जैन सूत्रों में लिखा हुआ है कि हमारे भगवान् श्रीमहावीर स्वामी स्वयं उड़ीसा गये थे और वहां उनके पिताके एक मित्र राज्य करते थे। इस लेखमें लिखा है कि कुमारी पर्वत पर अर्थात् खंडगिरिपर जहांपर लेख है धर्म विजय चक्र फिराया अर्थात् जैन धर्म का उपदेश श्रीमहावीर भगवान् ने स्वयं किया था अथवा उनके पूर्वके किसी जिन तीर्थंकर ने किया था। वहां पहाड़ पर एक काथ निषीदी अर्थात् जैन स्तूप या जिसमें किसी अर्हत् को हड्डियां गड़ी हुई थीं। इस पर्वत पर अनेक गुफायें और मन्दिर हैं जिनपर पार्श्वनाथ के चिह्न और पादुका हैं। ब्राह्मी अक्षरों के लेख युक्त खुदे हुए खारवेल या उसके पहले के समय के हैं × × × इससे स्पष्ट है कि यह स्थान एक जैनतीर्थ और बहुत पुराना है”

(नागरी प्रचा० पत्रिका संवत् १९८४ पृष्ठ ३०६-३०७)

तथा खारवेल्ल का समय ई० पूर्व १७० वि०पू० ११० है। चन्द्रराज अर्थात् नन्दवर्द्धन कलिंग से कलिंग-जिन ले आये थे, इससे जिनबिम्बों का होना तथा जैन धर्मका पीने तीन सौवर्ष खारवेल से भी पहले कलिंग में प्रचलित रहना और जैन धर्म की प्राचीनता प्रतिष्ठित होती है (श्रीजायसवाल ना० प्र० प० १०।३ पृ० ५०२)

(+) गुजरात के साक्षर शिरोमणि श्रीयुत केशवलाल हर्षद राय

यह मान्यता काल्पनिक नहीं किन्तु प्रामाणिक है, इसमें ऐतिहासिक तथ्य भी मौजूद है। आज से लगभग दो हजार बावीस सौ वर्ष पूर्व की भिन्न भिन्न तीर्थकरों की (उनके नाम से प्रतिष्ठित) मूर्तियों का भूगर्भ से उपलब्ध होना इस बात का पुष्ट प्रमाण है कि बहुत प्राचीन समय से जैनों में ऋषभादि तीर्थकरों की मूर्तियां

ध्रुव के द्वारा किये गये उक्त लेख के गुजराती विवरण का कुछ अंश इस प्रकार है—“खारवेल अने तेना पूर्व जो जैन हता एनो जन्म ई० स०पूर्व १९७ मां थयो हतो × × × × × मगध राजने नवाव्यापछी तेणे उत्तरा पथना बीजा राजाओने पणवश करया, आदि तीर्थकर ऋषभ देवनी मूर्ति नन्दराजा उपाड़ी गयो हतो। ते आसवारीमां पाटलीपुत्र थी राजगृह पाछी आणी जैन विजेताए नवा भव्य प्रासादमां भारे उत्सव समारम्भ थी तेनीस्थापना करी × × × × खारवेल युद्धवीर नी साथे दानवीर अने धर्मवीर पण हतो तेणे अद्भुत अपूर्व हस्ति दान थी राजगृहमां ऋषभदेव भगवान नी प्रतिष्ठा नो उत्सव उजव्यो हतो” (देखो प्राकृत जैन ले० सं० प्र० भा० का० अनुपूर्तिवि भाग पृ० ५४ से ५९ तक का लेख)

तथा इसी लेख का सम्पादन करते हुए मुनि श्री जिनविजयजी लिखते हैं—“इस लेख (खारवेल शिलालेख) की बारहवीं पंक्ति के पिछले भाग परसे ज्ञात होता है कि—आदि तीर्थकर ऋषभ देव की मूर्ति जो नन्द राजा उठालेगया था उसे पाटलीपुत्र से राजगृह में वापिस लाकर जैन विजेताने नवीन भव्य प्रासाद में उत्सव समारम्भ से प्रतिष्ठित किया” इस कथन से निस्सन्देह सिद्ध होता है कि ई० स० पूर्व तीसरी शताब्दी तथा इससे भी पूर्व जैन मूर्तिपूजा यथार्थ रीति से प्रचलित थी। (देखो प्राकृत जैन ले. संग्रह प्रथम भा० पृ० ३८ गुजराती विवरण) इन उपर्युक्त विवरणों से जैनपरम्परा में विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी में मूर्तिवाद का प्रचलित होना तो सिद्ध होता ही है, परन्तु विचारपूर्वक देखा जाय तो त्रिसमूर्तिका इस शिलालेख में जिकर किया गया है वह नन्द के समय से भी बहुत प्राचीन थी और होनी चाहिये।

पूजी जाती थीं ? तब, इतने प्राचीन समय में भी भगवान् ऋषभदेव, शान्तिनाथ और नेमनाथ या पार्श्वनाथ प्रभृति तीर्थंकरों की मूर्तियों का उपासना के लिए प्रतिष्ठित करना, उन महापुरुषों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व पर विश्वास करने के लिए पर्याप्त प्रतीत होता है। इन महापुरुषों के सत्ता समय में भले ही किसी को सन्देह या विवाद हो परन्तु इनकी ऐतिहासिकता अर्थात् इन नामों से प्रसिद्ध महापुरुषों का अस्तित्व तो निस्सन्देह विश्वास के योग्य ठहरता है। जैन मान्यता के अनुसार भगवान् ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल में जैनधर्म के आदि तीर्थंकर माने जाते हैं और जनता में उनके अस्तित्व का विश्वास आज से दो अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भी था और आज भी है। जैसा कि ऊपर लिख आये हैं अत्यन्त प्राचीन प्रतिमाओं पर के जो अभिलेख हैं उनमें ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों के नाम का जो निर्देश है उस पर से निश्चित होता है कि जैनपरम्परा में उल्लेख किये गये ऋषभादि २४ तीर्थंकर कल्पित नहीं किन्तु ऐतिहासिक महापुरुष हैं और उनसे सम्बन्धित मूर्तिवाद भी अत्यन्त प्राचीन है।

हमारे उपर्युक्त कथन का समर्थन वर्त्तमान युग के कई एक ऐतिहासिक—इतिहासज्ञ विद्वान भी करते हैं। उदाहरण के तौर पर दो विद्वानों के लेखों का कुछ अंश यहां पर उद्धृत किया जाता है—

(१) “जैनों का मत है कि जैनधर्म बहुत प्राचीन है और महावीर से पहले २३ तीर्थंकर हो चुके हैं जो उस धर्म के प्रवर्तक और प्रचारक थे। सबसे पहला तीर्थंकर राजा ऋषभदेव था, जिसके एक पुत्र भरत के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ

इसी प्रकार बौद्ध लोग बुद्धसे पहले अनेक बोधि सत्त्वों को हुआ बतलाते हैं। इस विश्वास को एकदम मिथ्या और निर्मूल तथा सब पुराने तीर्थंकरों और बोधिसत्त्वों को कल्पित--अनैतिहासिक व्यक्ति मानना ठीक नहीं है इस विश्वास में कुछ भी असंगत नहीं है। ×× फिलहाल तीर्थंकर पार्श्व की ऐतिहासिक सत्ता आधुनिक आलोचकों ने स्वीकार की है। (दे० कै० इ० पृ० १५३) बाकी तीर्थंकरों और बोधिसत्त्वों के वृत्तान्त कल्पित कहानियों में इतने उलझ गये हैं कि उनका पुनरुद्धार नहीं हो पाया। किन्तु इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि वैदिक से भिन्न मार्ग बुद्ध और महावीर से पहले भी भारतवर्ष में थे। अर्हत् लोग बुद्ध से पहले भी थे और उनके चैत्य भी बुद्ध से पहले थे। (देखो नीचे १०१ में लिच्छिवियों के चैत्यों के विषय में बुद्ध का कथन) उन अर्हतों और चैत्यों के अनुयायी ब्राह्मण कहलाते थे जिनका उल्लेख अथर्व वेद में भी है (भा० इति० की रूपरेखा पृ० ४०१—४०२ ले० जयचन्द्र विद्यालंकार)

(२) “जैनसम्प्रदाये महावीरस्य बौद्धसम्प्रदाये गौतमबुद्धस्य विशेष प्रसिद्धतया तत्तन्मताचार्यत्वेन दर्शनेऽपि तेषामेव ग्रन्थेषु महावीरात् पूर्वभूतानां पार्श्वनाथादीनामप्युल्लेखेन अशोकनृपतिना गौतमबुद्धात् पूर्ववर्तिनः कनकमुनेः स्तूपस्यजीर्णोद्धार शिलालेखस्य तत् स्तूपस्य चोपलम्भेन पूर्वमप्येतन्मतयोः अनेनैव रूपेण रूपान्तरेण वा सत्त्वं प्रतीयते। तेन महावीरोपक्रमं जैन सम्प्रदायो गौतमोपक्रमं बुद्ध सम्प्रदायइत्यवधारणाय पुनः पुनर्गवेषणेन शोध्यमान इतिहासोऽद्याप्यपूर्ण एव वेदपथानुयायिनां पूर्वकालेऽपि सत्त्वं दीर्घनिकाय ग्रन्थलेखतोप्यायाति। उपनिषदादिष्वपि तादृशाक्षेपदर्शनेन तथा विधानां पुरासमयेऽपि सत्त्वं सूच्यते” इत्यादि। काश्यप संहिता का

का उपोद्घात पृ० ४७ । ले० नेपाल राज्यगुरु पं० श्री
हेमराज शर्मा

(शिलालेखगत जिन मूर्ति की स्थापना का समय) ^{१)}

खारवेल के शिलालेख में जिस जिन प्रतिमा का उल्लेख है वह नन्द के समय से भी प्राचीन सिद्ध होती है, परन्तु वह कब और किसने प्रतिष्ठित की इस बात का पता उक्त शिलालेख से तो नहीं चलता परन्तु इसका निर्णय एक प्राचीन 'स्थविरावली' से चलता है। उसमें प्रस्तुत शिलालेख गत जिन प्रतिमा के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख किया है—

‘तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे
विअरइ राय गिहम्मिणयरे । सणिओ बिबिसारावरणाम-
धिज्जो णिबो समएणस्स भगवओ महावीरस्स समणोवासगो
(ण) योवेओ सुसड्ढो आसी । प्रब्बिणं पासारहाइचलए

(१) यह स्थविरावली अभी-अभी आनन्द प्रेस भावनगर से प्रकाशित हुई है इसका संशोधन स्वनामधन्य मुनि श्री पुण्य विजयजी और पंडित लाभ चन्द्र भगवान् दास गांधी ने किया हैं इसके निर्माता आचार्य हिमवान् नाम के एक स्थविर हैं जो कि प्रसिद्ध अनुयोग प्रवर्तक स्कन्दिलाचार्य के शिष्य हैं जैसा कि पुस्तक के अन्त में लिखा है—(इति श्री स्कन्दिलाचार्य शिष्य लेश श्री हिमवदाचार्य निर्मित स्थविरावलिका समाप्ता) तथा मुनि श्री कल्याण विजयजी के कथनानुसार आचार्य हिमवान् एक प्रसिद्ध स्थविर थे। प्रसिद्ध अनुयोग प्रवर्तक स्कन्दिलाचार्य और नागार्जुन वाचक का सत्ता समय ही इन हिमवान् का सत्ता समय था इसमें कोई संदेह नहीं क्योंकि नन्दी थेरावली में इनका स्कन्दिलकेबाद और नागार्जुन के पहले उल्लेख है। और प्रस्तुत स्थविरावली में इनको स्कन्दिल का शिष्य लिखा है।

जुअलपूए णेगणिग्गांठणिग्गांठीहि पड़ि सेविए कलिगणामधिज्ज
जएवय मंडण-तित्थभूअ-कुमर कुमारीणामधिज्ज-पब्बय-
जुअले तेणं सेणिय वरणिवेणं सिरिरिसहेस जिणाहि बस्सा-
ईव मणोहरो जिण पासाओ णिम्माइओ होत्था । तिम्मि-
यणं सुवण्णमयीरिसहेसपड़िमा सिरि सोहम्मगणहरेहि पइ-
ट्ठिया आसी ।”

भावार्थ—उस काल उस समय में जब कि भगवान् महावीर
विचरते थे, राजगृह नगर में बिम्बसार उपनाम श्रेणिक राजा भगवान्
महावीर स्वामी का श्रेष्ठ श्रमणोपासक था । पार्श्वनाथ आदिके
चरण युगलों से पवित्र तथा साधु साध्वियों से सेवित कलिग देश
के भूषण समान और तीर्थ-स्वरूप कुमार कुमारी नामक दोनों पर्वतों
पर उस श्रेणिक राजा ने जिनाधिपति श्री ऋषभदेवका मनोहर
प्रासाद बनाया और उसमें भगवान् ऋषभदेवकी सुवर्णमयी प्रतिमा
श्री सुधर्मास्वामी द्वारा प्रतिष्ठित कराकर प्रतिष्ठित की थी ।

स्थविरावली के उपर्युक्त उल्लेख से शिलालेखान्तर्गत कलिग
जिन की कब और किसने स्थापना की इत्यादि बातों का भली भांति
स्पष्टी कारण होजाता है ।

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत स्थविरावली में शिला लेख गत मूर्ति
के सम्बन्ध में और भी उल्लेख किया गया है जिससे परस्पर एक
दूसरे का समर्थन होता है यथा—

“एसो णं भिक्खुरायो अई वर परक्कम जुओ गयाइ
सेणाक्कंत महियल मंडलो मगहाहिवं पुप्फमित्तं णिवं अहि-
णिक्खित्ता णियाणम्मि ढाइत्ता फुब्बिं णंदणिवग्गाहियु-

समेस—सोवण्णपडिमं पाडलिपुत्ताओ पच्छाधित्तूण णिय
 रायहाणिं संपत्तो । तयणंतरं तेणभिक्षुरयणिवेण तत्थं
 णं कुमरगिरितित्थे पुब्बिं सेणियणिवेणं कारियं जिणपा-
 सायं पुणो उड्ढ (द्ध) ताए । सेवणंससभे जिणिदस्स सोव-
 णिया पडिमा अज्ज सुहत्थिणं थेराणंअंतेवासिंहिं सुट्ठि-
 सुवडि बुड्ढा (पडिबुद्धा)यरिएहिं पइट्ठाइया” (पृष्ठ ६ पर)

अर्थात्—वह भिक्षुराज अतिशय पराक्रमी और अपनी हस्ती
 आदि की सेना से पृथिवी मंडल का विजेता था । उसने मगध देश
 के राजा पुष्य मित्र को पराजित करके अपनी आज्ञा मनवाई और
 पूर्व नन्दराजा ऋषभदेव की जिस प्रतिमा को उठा ले गया था
 उसे वह पाटलीपुत्र नगर से वापिस अपनी राजधानी में
 लाया और कुमार गिरितीर्थ में श्रेणिक के बनवाये हुए जिन मन्दिर
 का पुनरुद्धार कराके आर्य सुहस्ती के शिष्य सुप्रतिबुद्ध नाम के
 स्थविरों के हाथ से उसे फिर प्रतिष्ठित कराकर उसमें स्थापित
 किया । इत्यादि स्थविरावलि गत उल्लेखों से खारवेल शिलालेख

—(१) नन्दराज के द्वारा उठाकर लेजाई गई जिन मूर्ति को खारवेल द्वारा
 कलिंग में वापिस ले आने का हाथी गुफा के शिलालेख में भी स्पष्ट उल्लेख
 देखने में आता है यथा—

“नंदराज नीतं च कालिंगं जिनं संनिवेसं”....

गृह रतनान पडिहारेहि अंगमागध—वसुंच नेयाति (१)

[हाथी गुफा लेख पंक्ति १२। विहार ओरीसा जर्नल वाल्युम ४ भा० ४]

इसके अतिरिक्त प्रस्तुत स्थविरावली के उक्त अभिलेखों का पर्यालोचन
 करते हुए मुनि श्री कल्याण विजय जी इस प्रकार लिखते हैं—

“थेरावली में जो नई बातें दृष्टिगोचर हुई हैं उनकी सत्यता के विषय

के कर्लिंग जिनकी ऐतिहासिक प्राचीनतापर कितना उज्ज्वल प्रकाश पड़ता है, इसको पाठक हमारी अपेक्षा अधिक समझ सकते हैं।

लोकस्वभाव और मूर्तिवाद

अब रही लोक स्वभाव। या लोक मानस की बात, सो इसपर भी थोड़ासा विचार करलेना चाहिये। यदि लोक स्वभाव के कारण (जैसा कि आप मानते हैं) भगवान महावीर के निर्वाण के बादही- (एकशताब्दि के अन्दर ही) थोड़े बहुत अंश में मूर्तिवाद प्रचलित होगया तो पार्श्वनाथ के निर्वाण के बाद भी उसका लोक स्वभाव के अनुसार प्रचलित होना सम्भव क्यों नहीं ? एवं पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती नेमनाथ के निर्वाण के अनन्तर भी उसका न्यूनाधिक रूप में लोक स्वभाव के अनुसार प्रचलित होना अवश्यंभावी है। इसी भांति लोक स्वभाव या लोक मानस के अनुसार वह ऋषभदेव के निर्वाण के पश्चात् भी अवश्य प्रचलित हुआ होगा। इस प्रकार अगर हम जैनकाल गणना अथवा जैन मान्यता को एक-तर्फ रख दें तो भी जैन परम्परा में मूर्तिवाद विक्रम या ईसा से हजारों वर्ष पूर्व का सिद्ध होता है। तात्पर्य कि जो लोक स्वभाव-

में हमें अधिक संशय करने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से कतिपय घटनाओं का तो पुराने से पुराने शिलालेखों और ग्रन्थों से भी समर्थन होता है। श्रेणिक और कोणिक के जैन होने की बात जैन सूत्रों में प्रसिद्ध है, इनके द्वारा कर्लिंग के तीर्थ रूप पर्वत पर जिन प्रासाद और स्तूपों का बनाना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। नन्दराजा द्वारा कर्लिंग से जिन प्रतिमा का पाटली-पुत्र में ले जाना और वहां से खारवेल द्वारा उसका फिर कर्लिंग में ले आना खारवेल के शिलालेख से भी सिद्ध है।

[नागरी० प्र० पत्रिका भा० ११ अंक १ पृ० ९९]

लोकमानस तीर्थंकर वर्द्धमान के समय में होनेवाली उनकी श्रद्धालु जनता को उनके निर्वाण के पश्चात् उनकी मूर्ति की उपासना या पूजा करने की प्रेरणा करता है वह भगवान् पार्श्वनाथ, या नेमनाथ अथवा शान्तिनाथ या ऋषभदेव के समय की श्रद्धालु जनता को भी उनके निर्वाण के पश्चात् उनकी मूर्तियों के पूजने की प्रेरणा कर सकता है। आवश्यक वृत्ति और आवश्यक चूर्णि में भरत चक्रवर्ती के द्वारा भगवान् ऋषभदेव आदि तीर्थंकरों की मूर्तियों का अष्टापद पर निर्माण करने का जो उल्लेख है उसमें इस मनुष्य स्वभाव-मनुष्य मनोवृत्ति की प्रेरणा ही तो है। हमारे विचारानुसार तो मूर्तिवाद का प्रवर्तक यह मनुष्य स्वभाव ही है। मनुष्य जिसे अपना उपास्य मानता है उसे वह हर प्रकार से अपनी श्रद्धा का भाजन बनाने का यत्न करता है। वह हर समय उसके नामको रटता है उसके अभाव में उसके चित्र की उपासना से अपने-सन्तप्त मन को शान्ति देने का यत्न करता है। इसी नैसर्गिक मनुष्य स्वभाव में मूर्तिवाद की मौलिकता है, उपासना विधि का मूल स्रोत भी यही है। अगर ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का होना प्रामाणिक है और अगर आदर्शोपासना को जैन परम्परा में कोई स्थान है तो मनुष्य स्वभाव के अनुसार उसमें मूर्तिवाद की कल्पना भी नैसर्गिक है इस दृष्टि से विचार करनेपर जैन परम्परा में मूर्तिवाद का स्थान अत्यन्त प्राचीन ठहरता है।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि अगर मूर्तिवाद की प्रवृत्ति जैन परम्परा में वीर निर्वाण के बाद ही प्रचलित हुई होती तो उसमें महावीर के सिवा दूसरे ऋषभदेवप्रभृति-तीर्थंकरों की मूर्तियों को कभी स्थान प्राप्त न होता ? परन्तु हम देखते हैं कि बहुत प्राचीन

समय से विक्रम पूर्व चौथी शताब्दी से वर्द्धमान की भांति बल्कि उससे भी अधिक परिमाण में ऋषभदेव आदि अन्य तीर्थंकरों की मूर्तियों जैन परम्परा में पूजी जाती थीं और पूजी जा रही हैं। इससे हम तो इसी नतीजे पर पहुँचते हैं कि जैनपरम्परा के चौबीस तीर्थंकर कल्पित नहीं किन्तु ऐतिहासिक पुरुष हैं और उनकी मूर्ति के द्वारा उपासना करने की प्रवृत्ति भी भगवान् महावीर से बहुत प्राचीन है। ऐसी परिस्थिति में मूर्तिवाद को विक्रम की छठी शताब्दी में प्रचलित हुआ मानना हमारे ख्याल में उचित प्रतीत नहीं होता।

इसके अलावा एक और बात है जिसकी तर्फ हम अपने पाठकों का ध्यान खेंचना चाहते हैं—

श्रमण भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के समय में—“क्रियावादी, अक्रियावादी, आत्मवादी, अनात्मवादी, लोक और परलोकवादी” इत्यादि अनेक मत प्रचलित थे और मूर्तिवाद भी उस समय प्रचलित था परन्तु अन्यमतों की तरह उसके विधान या निषेध एवं स्वीकार वा त्याग के विषय में भी किसी ने कोई प्रश्नोत्तर किया हो ऐसा कोई उल्लेख कहीं पर देखने में नहीं आता, इससे यही अनुमान होता है कि इस विषय को अर्थात् मूर्तिवाद को अपनाने में किसी को कोई आपत्ति नहीं थी।

उपसंहार

मूर्तिवाद सम्बन्धी इतनी आनुषंगिक चर्चा करने के अनन्तर प्रस्तुत निबन्ध को समाप्त करने से पहले हम अपने विज्ञ पाठकों से इतना फिर भी निवेदन किये देते हैं कि हमारी दृष्टि में चैत्य शब्द का चितापर चिनाया गया चबूतरा या कबर वगैरह “स्मारक

चिह्न” यह उसका प्रधान या सर्व प्राचीन अर्थ नहीं हैं और हमारे श्रद्धेय पंडित बेचरदासजी ने उसे सर्व प्रधान और प्राचीन माना है । बस यही हमारे और उनके दृष्टि कोण में अन्तर है । हमने अपने विचारानुसार चैत्य शब्द की अर्थविचारणा में जो जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उनकी तटस्थ मनोवृत्ति से तुलना करते हुए वस्तु तत्त्व का यथार्थ निर्णय तो केवल विचारशील पाठकों पर ही निर्भर करता है । अतः हमारा उनसे सविनय निवेदन है कि प्रस्तुत निबन्ध में चैत्य शब्दार्थ विषयक प्रदर्शित विचारों का पर्यालोचन करते समय किसी प्रकार के मताग्रह को अपने हृदय में स्थान न दें ।

अन्त में हम अपने मित्र पंडित बेचरदासजी से भी यह निवेदन करते हैं कि हमारी यह समीक्षा केवल विचार भेद का ही परिणाम है इसके सिवा आपके प्रति हमारे हृदय में किसी प्रकार के विरोध या असद् भाव को कोई स्थान नहीं है । आपकी विद्वत्ता, प्रतिभा और सौजन्य के लिये हमारे हृदय में पर्याप्त स्थान है । शुभम्

विनीत, हंस

